हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक संचेतना के विविध प्रतिमान

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध]



शोध-कर्त्री

ललिता श्रीवास्तव, एम० ए०



निर्देशक

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,
एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय



नवम्बर १९७१

भूमिका

जिस प्रकार स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् हमारे समाज में मूल्यों का संक्रमण अधिक तीव्रता से हुआ है । देश के विभाजन के फलस्वरूप हत्याएं, मार-पीट, बलात्का आग-जनी तथा घरों, कस्बों एवं शहरों के उजड़ने के कारण मानव-मूल्यों एवं नैतिक मान्यताओं में इतना गहरा परिवर्तन हुआ कि उसका उपन्यासों पर प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक था, उसी प्रकार हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में एक नया आयाम १६१४ के लगभग प्रारम्भ हुआ था, जिसके आसपास प्रेमचन्द की सृजन प्रक्रिया आरम्भ हुई थी । यह वह काल था, जब भारतीय पुनर्जागरण प्रत्येक क्षेत्र में लक्षित हो रहा था और दो संस्कृतियों एवं सभ्यताओं की टकराहट में मनुष्य नित्य नए चरण रखने के लिए आकुल था ।

इस काल में प्रथम महायुद्ध समाप्त हो गया था । यद्यपि भारतीय समाज पर महायुद्ध का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा था, लेकिन वह सामाजिक प्रतिमानों की परिवर्तनशीलता की दिशा में महत्वपूर्ण अवश्य सिद्ध हुआ । यूरोप तथा अन्य देशों में जिस प्रकार नया मानस निर्मित हो रहा था, और लोगों में नैराश्य की भावना, अस्थिरता, असुरक्षा, भय एवं आशंका का जन्म हो रहा था, उसकी प्रतिक्रिया यहां होनी आरम्भ हो चुकी थी । प्रेमचन्द व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का निर्धारण करके जिस आस्था एवं संकल्प से भरी जिजीविषा को मूर्तमान रूप देना चाहते थे, वह आगे चलकर जैनेन्द्र, अज्ञेय एवं इलाचन्द्र जोशी के हाथों विपरीत दिशा में गतिशील हो गयी और सामाजिक संचेतना के नए प्रतिमा विकसित हुए, जिनका विश्लेषण करना इस प्रबन्ध का उद्देश्य है ।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारतीय समाज में मूल्यों का संक्रमण अत्यन्त त्वरित गति से हुआ है और मानव-सम्बन्धों तथा सामाजिक रिश्तों के रूप निरन्तर परिवर्तित हो रहे हैं । व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध इन पांच-छह दशकों में पर्याप्त सीमा तक परिवर्तित हुआ है और समय की गति के साथ हमारा व्यक्तित्व

दृष्टिकोण अधिक विकसित हुआ है । समष्टिगत चेतना एवं व्यष्टिगत चेतना के बीच इस संघर्ष ने हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक संचेतना के प्रतिमानों को यथेष्ट सीमा तक प्रभावित किया है ।

सामाजिक संचेतना का सीधा अर्थ यह होता है कि कोई उपन्यासकार समाज की परिधि में ही मनुष्य और उसकी विभिन्न समस्याओं का कहां तक चित्रण कर पाता है । संघर्ष, समर्थता, संकल्प एवं आस्था जीवन के महत्वपूर्ण आयाम हैं, जो हमें स्थिरता न प्रदान कर गतिशीलता देते हैं । उपन्यासकार दृष्टा इसीलिए है कि वह समाज की उन मान्यताओं एवं मूल्यों से साक्षात्कार करता है, जो समाज में व्याप्त होते हैं । उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का अभिप्राय इस तथ्य में है कि उपन्यासकार अपने दृष्टा-तत्व की रक्षा करने में कहां तक सफल हो सका है और वह समाज में व्याप्त अन्तर्विरोधों - विभिन्न मत-मतान्तर एवं विचार सम्प्रदायों को किस सीमा तक पहचान सका और सामाजिक अव्यवस्था में निश्चित व्यवस्था, असन्तुलन में सन्तुलन तथा विशृंखलता में संगठन स्थापित करने की दिशा कहां तक निर्धारित कर सका है ।

वर्तमान जीवन की जटिल यथार्थवादिता, जीवन-मूल्यों का संक्रमण, नए मानव-सम्बन्धों का उदय एवं सामाजिक विश्वासों में परिवर्तनशीलता के नए आधारों को पहचानने का प्रयत्न, नवीन भौतिक सत्यों के मध्य बनती हुई मानव-चरित्र की नई दिशाएं आदि जब उपन्यासों में चित्रित होती हैं, तो वे सामाजिक संचेतना के नए प्रतिमान ही स्थापित करती हैं ।

जो लोग उपन्यासों में सामाजिक संचेतना को तथाकथित आधुनिकता एवं फैशन-परस्ती में तिरस्कृत करने का प्रयास करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि उपन्यास वर्तमान समाज व्यवस्था का एक सांस्कृतिक अंग होता है । वह उस व्यवस्था से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित करता है । सामाजिक संचेतना का अर्थ कोई प्रचार करना नहीं है, जैसा कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया । उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का होना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि उससे पाठकों का सौन्दर्य बोध जागृत होता है । उनका व्यक्तित्व

सामाजिक बनता है तथा मानव-मूल्यों को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। सामाजिक संचेतना ही पाठकों के दायित्व भावना को सचेत करती है और जीवन प्रक्रिया के प्रति उद्बुद्ध करके उसे समाज की अधिक सुसंस्कृत इकाई बनाती है।

कहना न होगा कि यह अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है और जब श्रद्धेय डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जी ने विषय सुझाया तो पहले इतनी लम्बी अवधि पर कार्य करने में किंचित् घबराहट हुई। पर डाक्टर साहब की महती प्रेरणा ने नया आत्मविश्वास दिया और शोध कार्य इस ढंग से पूर्ण हो सका। इस विषय की उपयोगिता स्पष्ट है और इस रूप में अभी तक कोई कार्य नहीं हुआ है। आज तक के हिन्दी उपन्यासों को लेकर यह विशद विवेचन पहली बार प्रस्तुत किया जा रहा है और महत्ता की दृष्टि से यह एक विनम्र प्रयास है।

श्रद्धेय डा० वार्ष्णेय जी के सुयोग्य निर्देशन में प्रत्येक शोधार्थी को जो विशेष आत्मबल प्राप्त होता है और जिस प्रकार वे एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकसित करने का प्रयास अपने छात्रों में करते हैं, इस दृष्टि से कदाचित् मैं सर्वाधिक सौभाग्यशाली रही हूं। श्रीमती राज वार्ष्णेय जी के प्रति भी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करना आवश्यक है, जिन्होंने प्रत्येक प्रकार से सहयोग देकर इस कार्य को सम्भव बनाया। उन सभी लेखकों एवं विद्वानों की भी आभारी हूं, जिनके अमूल्य विचारों की सहायता से यह कार्य पूरा हो सका।

ललिता श्रीवास्तव
(ललिता श्रीवास्तव)

हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद-२

विषय सूची

०००००

२. पहला अध्याय : पृष्ठभूमि

- राजनीतिक पृष्ठभूमि ।
- आर्थिक पृष्ठभूमि ।
- धार्मिक पृष्ठभूमि ।
- सामाजिक पृष्ठभूमि ।
- मध्य वर्ग का उदय और हिन्दी उपन्यास ।
- मूल्यों का संक्रमण और हिन्दी उपन्यासों के बदलते आयाम ।

राजनीतिक पृष्ठभूमि

कोई राष्ट्र एक विशिष्ट सम्प्रदाय या जाति के रूप में समझा जाता है, जिसकी एक भाषा हो, एक इतिहास एवं सरकार हो तथा आचरण की मर्यादा हो, लेकिन कुछ ही राष्ट्र इन सामान्य विशेषताओं से सम्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ यहूदियों के पास १६१६ तक एक इंच भी जमीन नहीं थी जब उन्हें फिलस्तीन में राष्ट्रीय भूमि प्रदान की गयी। लेकिन उनकी राष्ट्रीयता की भावना में घर-बार विहीन होते हुए भी शताब्दियों तक कमी नहीं आई। राष्ट्र की परिभाषा अत्यन्त स्पष्ट है। इसमें सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्व यह है कि इसमें सामूहिक भावना या चेतना समाहित होती है, जो लोगों के अन्दर एक गौरव भावना उत्पन्न करती है। भारत में राष्ट्रीयता की परम्परा[1] अत्यन्त प्राचीन है।

राजनीतिक चेतना के सम्बन्ध में साधारणतया यह समझा जाता है कि उसके माध्यम से हम उनमें से किसी का चयन कर सकें। प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारतवासियों में इस प्रकार की राजनीतिक चेतना उतनी सशक्त नहीं थी, जितनी होनी चाहिए थी। वे सीमित शासन के अभ्यस्त हो गए थे और प्रजातंत्र के सम्बन्ध में आधुनिक विचारों के परिणामों को उचित ढंग से समझने में असमर्थ थे, यद्यपि प्रजातंत्र की नींव भारत में बौद्ध सभा से लेकर ग्राम पंचायतों तक शताब्दियों-पूर्व पड़ चुकी थी। राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३) कदाचित् पहले ऐसे व्याख्याकार थे, जिन्होंने पश्चिमी राजनीतिक संस्थाओं की विशेषताओं को सही ढंग से समझा और उपस्थित किया। लेकिन न तो उनके लिये और न उनके बाद आने वाले अनेक उदारवादियों के लिये यह सम्भव हुआ कि वे आन्तरिक राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातांत्रिक स्वतन्त्रता के प्रति जनता में कोई दृढ़ या व्यापक उत्तेजना उत्पन्न कर पाते। गांधीजी का जनता के साथ निकट सम्पर्क था, और राजनीतिक स्वतंत्रता तथा सामाजिक न्याय के प्रति उन्होंने लोगों के अन्दर अभूतपूर्व चेतना को जन्म दिया।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, अधिकांश भारतवासी सीमित शासन के अभ्यस्त

---

१. पेन्डेरल मून : स्ट्रेंजर्स इन इण्डिया, (१६४४) लन्दन, पृष्ठ ६८।

हो गये थे और वे राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की अधिक सराहना न कर सके । अत: भारतीय राष्ट्रीयता को उसके अपने सन्दर्भों के आधार पर मूल्यांकित करना होगा । इनकी अनेक सीमाएं हैं, जैसाकि निस्सन्देह सभी देशों की राष्ट्रीयता का होता है । जातिवाद, भाषागत संकीर्णता, प्रान्तीयतावाद आदि ने इसके समुचित विकास में सदैव बाधाएं उत्पन्न की हैं । यहाँ जनता अपने नेताओं के प्रति व्यक्तिगत निष्ठाभाव से अधिक संचालित होती है, न कि सम्पूर्ण राष्ट्रीय निष्ठा भाव से ।

जब भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चरमोत्कर्ष था, तब शिक्षित मध्यवर्ग ने अपनी निष्ठा मुगलों से हटाकर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रति समर्पित कर दी । चूंकि उस समय मुसलमान शासक वर्ग थे, इसलिए अंग्रेज अधिकारियों ने उन्हें हिन्दुओं की तुलना में अधिक अनुभवी एवं उपयोगी समझा । जब फारसी के स्थान पर अंग्रेज़ी ने राजकीय भाषा का स्थान ग्रहण किया, तो मुसलमान किंचित निराश हो गये और उन्होंने अंग्रेजी भाषा के पठन-पाठन में अधिक रुचि नहीं दिखाई । हिन्दुओं ने इस स्थिति का लाभ उठाया और अंग्रेज़ी पढ़ लिखकर उच्चवर्गीय हिन्दुओं ने सरकारी सेवाओं में प्रवेश किया । राजा-महाराजा चूंकि अंग्रेज़ अधिकारियों के चापलूस बन गए थे, इसलिए अपने पूर्वजों की भांति विद्वानों एवं कलाकारों की अधिक उदारतापूर्वक सहायता नहीं कर रहे थे । फलत: मध्यवर्गीय बौद्धिकों को अपने अस्तित्व रक्षा के लिए ब्रिटिश शासनांतर्गत नौकरी-पेशे पर निर्भर करना पड़ा । इस प्रकार बंगाल के कायस्थों, उत्तर प्रदेश के क्षत्रियों तथा दक्षिण भारत के ब्राह्मणों ने प्रशासनिक एवं सैनिक सेवाओं में प्रवेश किया ।

मुसलमानों की उपेक्षित हो रही स्थिति के प्रति सर सैय्यद अहमदखां का ध्यान गया और उन्होंने १८७७ में अलीगढ़ में इस्लामिक तथा पश्चिमी शिक्षा के लिए एक कालेज खोला, जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में प्रसिद्ध हुआ ।

ब्रिटिश अधिकारियों ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय को सभी संभव सहायता दी, जिसका मुख्य उद्देश्य मुसलमानों में विभाजनवादी प्रवृत्तियों का विकास करना था । दो राष्ट्रों के सर सैय्यद अहमद खां 'सुबह के तारे' (मार्निंग स्टार) समझे जा

सकते हैं ।[१] अत: धीरे-धीरे मुसलमानों को अंग्रेजों का विपुल समर्थन मिलने लगा । कुछ उच्च शिक्षित मुसलमानों को छोड़कर अन्यों ने एक प्रकार से कांग्रेस का बहिष्कार ही किया । कांग्रेस ने प्रारम्भ में किंचित उदारनीतियों को ही प्रश्रय दिया । प्रारम्भ में उसका उद्देश्य भारतीयों के लिए प्रशासन में उच्च पदों की मांग तक ही सीमित था । विचारों के दो स्कूल थे । एक का प्रतिनिधित्व गोखले कर रहे थे, जो भारत में ब्रिटिश राज्य के उस समय तक बने रहने के पक्ष में थे, जब तक भारतवासी स्वयं शासन करने के लिए सर्वथा उपयुक्त न हो जाएं । दूसरे स्कूल का प्रतिनिधित्व बालगंगाधर तिलक कर रहे थे जो विदेशी शासन की कुप्रवृत्तियों के स्पष्टीकरण में लगे हुए थे और हिन्दू समाज में पुनर्जागरण के पक्ष में थे । वे हिन्दू समाज के पश्चिमीकरण के विरोध में थे । उन्होंने इस बात पर बल दिया कि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है । उनके उग्र विचारों ने सोई हुई भारतीय जनता में जागरण का मंत्र फूंकने और उसकी राजनीतिक चेतना को विकसित करने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई ।

१८८२ ई० में लार्ड रिपन ने १८७५ ई० से लागू वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट को रद्द कर दिया जिसके अनुसार भारतीय भाषाओं में समाचार पत्र प्रकाशित नहीं हो सकते थे । फलत: अपनी भाषा में अनेक पत्र निकले जिन्होंने राजनीतिक चेतना के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

बंग-विभाजन ने सारे देश में राजनीतिक गतिविधियां तेज कर दीं । १६०६ ई० में कांग्रेस ने स्वराज्य को अपना लक्ष्य निर्धारित किया । लार्ड कर्जन ने भविष्यवाणी की कि कांग्रेस बिखर रही है और शीघ्र ही रसातल को चली जाएगी । लेकिन इसके विपरीत वह दिन-प्रतिदिन अधिक-से-अधिक शक्तिशाली होती गयी । अंग्रेजों ने बौखलाकर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच खाई खोदने का काम तेज किया । मिण्टो-मार्ले सुधारों (१६०६) ने सीमित अंशों में विधान सभाओं में चुनाव सिद्धान्त प्रस्तुत किया । इससे असंतोष में और भी वृद्धि हुई । बंगाल में अराजकता (१६१५-१६१७ ई०) बढ़ रही थी । डिफेन्स आफ इण्डिया ऐक्ट ने सरकार को क्रांतिकारी

----

१. के० ए० नीलकान्त शास्त्री : इण्डिया ए हिस्टारिकल सर्वे (१६६६), लन्दन, पृ० ८७ ।

आन्दोलन को नियंत्रित करने के अनेक अधिकार दे दिए थे । प्रथम महायुद्ध (१६१४-१६१८ ई०) के मध्य गोखले एवं मेहता की मृत्यु से उदारवादी काफी दुर्बल हो गए थे । इस बीच तिलक और श्रीमती एनी बेसेन्ट ने और अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर ली तथा स्वराज्य की मांग तीव्रतर होने लगी । यह कहना अतिरंजना न होगी कि वस्तुत: इसी मांग ने भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम की वास्तविक नींव डाली ।

प्रथम महायुद्ध के प्रथम दो वर्षों में उदारवादी राजनीतिज्ञ तथा राजा-महाराजा अंग्रेजों के हितों के लिए काफी उत्साह में थे । प्रथम महायुद्ध का बहुत बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि पश्चिमी सभ्यता का महत्व किंचित कम हो गया । मांटेग्यू ने १६१७-१८ में भारत यात्रा की । वह सचमुच भारतीयों की भलाई चाहता था । गांधीजी बहुत तेजी से प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे थे । उनके आगमन ने स्वाधीनता संग्राम की दिशा ही बदल दी । जनवरी १६१६ ई० में रौलट ऐक्ट पास हुआ । इससे सरकार को सन्देह पर ही किसी को गिरफ्तार करने और बिना मुकदमा चलाए दण्ड देने का अधिकार मिल गया । इसका पूरे भारत में तीव्र विरोध किया गया । १३ अप्रैल १६१६ ई० को हिन्दू नववर्ष दिवस पर अमृतसर के जलियांवाला बाग नृशंस हत्याकांड को इतिहास में पश्चिमी सभ्यता और अंग्रेजी संस्कृति पर सबसे बड़े कलंक के रूप में लिखा जाएगा । १६२० ई० से १६४५ ई० तक गांधीजी के हाथों में कांग्रेस का नेतृत्व रहा । जनता उनके साथ थी । दूसरे राजनीतिज्ञों की तुलना में उनके कार्यक्रम अत्यन्त भिन्न थे । वे भारत में मूलभूत, जातिगत एवं वर्ग-सम्बन्धों को बदलने के पक्ष में थे । मोतीलाल नेहरू, चितरंजनदास, एस० श्रीनिवास आयंगर और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जैसे देश के बड़े वकीलों एवं विचारकों को अपना अनुयायी बना लेना और उन्हें अपनी सम्पन्नता छोड़कर देश के लिए आहुति दे देने के लिए प्रेरित करने में सफलता प्राप्त कर लेना गांधीजी के लिए कम महत्वपूर्ण बात नहीं थी । जवाहरलाल नेहरू गांधीजी का अनुसरण करने के लिए प्रस्तुत थे । जवाहरलाल जी का व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही अपनी मातृभूमि के आध्यात्मिक आदर्शों एवं पश्चिम की आधुनिकता के मध्य अन्तर्विरोधों का शिकार रहा ।

गांधीजी का असहयोग आन्दोलन इतना तीव्रतर हो गया कि १३ मई १६२१ को

वायसराय लार्ड रीडिंग ने उनसे बातचीत की, किन्तु कोई परिणाम न निकला। नेता लोग जेल में ठूंस दिए गए। अत्याचार इतने बढ़ गए कि स्वामिभक्त कर्मचारी भी रोष में भर गए। अप्रैल १९२६ में लार्ड इर्विन रीडिंग के स्थान पर नये वायसराय बनकर आए तथा कलकत्ते में भयानक साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। इर्विन इसका समाधान चाहते थे, इसलिए लार्ड साइमन के नेतृत्व में एक कमीशन जांच के लिए भारत आया जिसमें एक भी भारतीय नहीं था। अत: हर जगह उसका विरोध किया गया। ३ फरवरी १९२८ को साइमन कमीशन के भारत आने पर देशव्यापी हड़ताल हुई। सभी पार्टियों का एक कान्फ्रेंस हुई जिसमें एक संविधान निश्चित किया गया। यह मुख्यत: मोतीलाल नेहरू का काम था। इसने मुसलमानों का एक दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया कि उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्तों का निर्माण हो तथा सिंध को अलग किया जाए और सम्प्रदाय के आधार पर चुनाव खत्म हों। इस पर जिन्ना के भी हस्ताक्षर थे। १९२८ में कलकत्ता कांग्रेस में इस संविधान को स्वीकार कर लिया गया। १८ अप्रैल १९३१ को इर्विन के स्थान पर लार्ड विलिंग्डन वाइसराय बनकर आए। गोलमेज कान्फ्रेंस लन्दन में गांधीजी ने ७ सितम्बर से १ दिसम्बर १९३१ तक सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व किया। इससे मुसलमानों को सन्देह उत्पन्न हुआ और स्वराज्य के वे विरुद्ध हो गए। उन्हें भय था कि बहुसंख्यक हिन्दुओं के आधीन उन्हें हमेशा रहना होगा। कांग्रेस ने चुनाव लड़ा और १९३७ में सरकार बनाने की जिम्मेदारी स्वीकार की। मुस्लिम बुरी तरह चुनाव हार गए। यहां तक कि उन प्रदेशों में भी, जहां वे बहुमत में थे। तब भी मुस्लिम लीग ने अपने प्रतिनिधित्व की मांग की। उसका कहना था कि कांग्रेसी मुसलमान उसका प्रतिनिधित्व नहीं करते। कांग्रेस ने यह मांग स्वीकार नहीं की। इससे जिन्ना साहब बहुत असन्तुष्ट हो गए। तब से उन्होंने दो राष्ट्रों के सिद्धान्त के लिए अथक प्रयास प्रारम्भ कर दिया। १९३९ में दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। उस समय लार्ड लिनलिथिगो यहां के वायसराय थे। उसने बिना भारतीय नेताओं से पूछे भारत को भी युद्ध में शामिल कर दिया। उसने कुछ सुधारों का आश्वासन भी दिया, जिसे हिन्दू महासभा और मुस्लिम-लीग ने स्वीकार किया। विनोबा भावे ने सबसे पहले इसके विरोध में अपने को गिरफ्तार कराया। सुभाषचन्द्र बोस १९४१ में अपने घर से गायब हो गये। जवाहरलाल

नेहरू गिरफ्तार कर लिए गए । ८ अगस्त १९४२ को बम्बई में 'भारत छोड़ो' का आन्दोलन छेड़ा गया । सारे विश्व का ध्यान आकर्षित करने के लिए १० फरवरी १९४३ से गांधीजी ने इक्कीस दिन का उपवास प्रारम्भ किया ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद घटनाएं अधिक तेजी से घटने लगीं । ब्रिटेन में मई १९४५ में लेबर पार्टी चुनावों में विजयी हुई और लार्ड एटली प्रधानमन्त्री बने । उन्होंने १९ सितम्बर१९४५ को लार्ड वावेल के माध्यम से घोषित किया कि स्वराज्य दिया जाएगा । अपनी सदाशयता का प्रमाण देने के लिए सभी कांग्रेसी नेताओं को रिहा कर दिया गया । किन्तु १९४२ से १९४५ तक लिनलिथगो ने जिस सुनियोजित ढंग से कांग्रेसी नेताओं को जेलों में बन्द कर दिया था, उससे एक प्रकार से भारतीय राजनीतिक मंच से कांग्रेस का निर्वासन हो गया था और मुस्लिम लीग को बढ़ावा देने में कोई कसर शेष नहीं रखी गयी । फलत: जनवरी १९४६ के चुनावों में कांग्रेस की विजय तो हुई, किन्तु मुस्लिम लीग भी उत्साहवर्द्धक ढंग से सामने आई । जिन्ना इस पर बहुत प्रसन्न थे । भारत विभाजन की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी[१] । अब उसे केवल कार्य रूप में परिणत करना भर शेष था ।

पाकिस्तान की मांग प्रबल हो गयी थी । कांग्रेस के विरोध के कारण गतिरोध उत्पन्न हो गया था । २० फरवरी १९४७ को एटली ने स्पष्ट कर दिया था कि जून १९४८ तक भारत को अपना शासन स्वयं संभालना चाहिए । इस समय

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए --
   (क) ए० कैम्पबेल जानसन : मिशन विद माउंटबेटेन (१९५१), लन्दन ।
   (ख) मौलाना अबुल कलाम आजाद : इण्डिया विन्स फ्रीडम (१९५९), न्यूयार्क ।
   (ग) फ्रांसिस टूकर : व्हाइल मेमोरी सर्व्ज (१९५०) कैसेल ।
   (घ) परसिवल ग्रिफिथ : माडर्न इण्डिया (१९६५), लन्दन ।
   (च) फ्रैंक मोरेस : इण्डिया टूडे (१९६०), बम्बई ।
   (छ) सेलिग हैरीसन : इण्डिया : द मोस्ट डेन्जरस डिकेड्स (१९६०, प्रिंसटन ।
   (ज) एफ० जी० बेली : पालिटिक्स एण्ड सोशल चेन्ज(१९६३) कैलिफोर्निया ।

लार्ड माउंटबेटेन गवर्नर जनरल बनकर आए । कहा जाता है कि यदि राजा जी का सिद्धान्त पहले ही स्वीकार कर लिया जाता, तो बाद में इतनी हत्याएं, लूटपाट और आगजनी न होती । जबकि कांग्रेस का यह दावा अस्वीकृत कर दिया गया कि वह पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करती है, मुस्लिम लीग का यह दावा स्वीकार कर लिया गया कि वह भारत के सभी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती है । फलत: १५ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्रता प्रदान करने के साथ देश का विभाजन कर दिया गया ।

देश के विभाजन के साथ ही हत्याओं एवं निर्मम पाशविकता का बोलबाला हो गया । जिन्ना ने साम्प्रदायिकता का जो विष बोया था, सर सैय्यद अहमद खां की प्रेरणा से और जिसे अंग्रेजों ने लगातार बढ़ावा दिया था, उसने मुसलमानों को रही सही मानवता से भी वंचित कर दिया ।[१] लेकिन धीरे-धीरे देश में शांति स्थापित हुई । उसका कारण प्रशासनिक सफलता नहीं वरन् स्थिरता के प्रति लोगों की अपनी जागरूकता एवं सचेत दृष्टि ही महत्वपूर्ण रही । १९४७ के समाप्त होने के साथ एक अनिश्चितता का वर्ष समाप्त हुआ, जिसमें स्वतन्त्रता का मूल्य असंख्य मनुष्यों की हत्या से चुकाना पड़ा और रक्तपूर्ण वातावरण में बर्बरता, हिंसा एवं आचरण की मर्यादा के पूर्ण तिरस्कार के साथ एक दुखद अध्याय समाप्त हुआ । नए वर्ष का प्रारम्भ गांधी जी की हत्या से प्रारम्भ होता है । लेकिन शीघ्र राष्ट्र के पुनर्निर्माण की योजना की दिशा में गतिशील होना अनिवार्य

---

१. पेन्डरल मून : डिवाइड एण्ड क्विट (१९६१), लन्दन, पृष्ठ १०४ :--

"Muslim mobs, suddenly as though on a preconcerted singal, came out in their true colours and with weapons in their hands and in some places, steel helmets on their heads, induldged in murder, loot and aroson on a scale never witnessed before in the Punjab during a hundred years of British rule."

हो गया था । जो बहुत सी समस्याएं देश के सामने थीं, उनमें सर्वप्रमुख विभिन्न देशी राज्यों को मिलाकर राष्ट्र की एकता और देश के लिये नया संविधान बनाने का था । एकता एवं संगठन का सारा श्रेय सरदार पटेल को है, जिन्होंने दृढ़ संकल्प, अपार दूरदर्शिता एवं अपूर्व नीति-कुशलता से शीघ्र ही यह असम्भव सा दिखने वाला कार्य पूर्ण कर लिया । यदि नेहरू जी ने अनावश्यक हस्तक्षेप न किए होते, तो सरदार पटेल कश्मीर को भी भारत का अभिन्न अंग बना जाते और आज वह एक समस्या के रूप में न बना रहता ।[१] यह नेहरू जी की अयथार्थ नीति और अपने व्यक्तित्व बनाने की प्यास में देश को बलि चढ़ा देने की हठधर्मी थी कि कश्मीर आज भी हमारे देश के नेताओं के तमाम दावों के बावजूद अभिन्न अंग नहीं बन सका है । उसका संविधान अलग है, झण्डा अलग है । किसी भारतवासी को वहां भूमि खरीदने तक की आज्ञा नहीं है ।

संविधान बनाने का कार्य संविधान सभा द्वारा प्रारम्भ हुआ, जिसकी अध्यक्षता डा० राजेन्द्र प्रसाद ने की थी । संविधान बनाने का प्रमुख श्रेय परिगणित जाति के सर्वप्रमुख नेता डा० अम्बेदकर और सर बेनगल राव को है, जो एक अनुभवी सिविल अधिकारी एवं वैधानिक सलाहकार थे । १९५० में योजना आयोग गठित हुआ । इसे आर्थिक मंत्रीमंडल भी कहा जाता है ।[२] बड़ौदा के भूतपूर्व दीवान सर वी० टी० कृष्णामाचारी इसके प्रथम उपाध्यक्ष बने । विधान के अन्तर्गत इसका अध्यक्ष सदैव राष्ट्र के प्रधान मन्त्री को होनाचाहिए । १९५२ में देश का प्रथम आम चुनाव हुआ । यद्यपि प्रथम आम चुनाव में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त था, लेकिन धीरे-धीरे नेहरू जी की गलत नीतियों के कारण कांग्रेस के प्रति लोगों की आस्था कम होती गयी और १९६७ के आम चुनाव में कांग्रेस की हर तरफ तरफ बुरी पराजय हुई ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना भारत-चीन

---

१. एन० वी० गाडगिल : गवर्नमेन्ट फ्राम इन्साइड (१९६८), पृष्ठ ४६ ।

२. अशोक चन्दा : इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन (१९५८), लन्दन, पृष्ठ ६२ ।

सम्बन्धों में उत्पन्न तनाव एवं फलत: १९६२ में भारत-चीन युद्ध है । नेहरू जी मूलत: राजनीतिज्ञ नहीं हैं[1], चीन के प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई ने यह भली भांति समझ लिया था और जब तक उन्होंने अपनी स्थिति सुदृढ़ न कर ली, वे नेहरू जी को भ्रांति में रखने के लिए हिन्दी-चीनी भाई-भाई का नारा लगाते रहे । पहले चाऊ-एन लाई ने १९५६ में कहा था कि उन्होंने चीन और बर्मा के मध्य मैकमोहन लाइन को सीमा रेखा के रूप में स्वीकार कर लिया है और वे भारत के साथ भी इस रेखा को स्वीकार करने को तैयार हैं । किन्तु बाद में उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया ।[2]

२३ जनवरी १९५९ को उन्होंने पंडित नेहरू को एक पत्र में लिखा कि 'यह सही है कि अभी तक सीमा प्रश्न को उठाया नहीं गया क्योंकि समझौते के लिए अनुकूल परिस्थितियां नहीं थीं ।'

'परिस्थितियां अनुकूल' तब हुई जब नेहरू जी ने भारतीय जनमत की पूर्ण उपेक्षा करते हुए तिब्बत पर चीन का अधिकार मान लिया और छिटपुट घुसपैठ से चीनियों ने भारतीय प्रदेश में महत्वपूर्ण चौकियां स्थापित कर लीं और चीनी सेना पूर्वी सीमा पर आ गयी थी ।

भारत और चीन युद्ध की भूमिका पूर्ण हो चुकी थी । यद्यपि अभी भी बातचीत

---

१. मानकेकर : गिल्टी मेन आफ १९६२ (१९६८) दिल्ली, पृष्ठ ५७ ।

२. विशेष विवरण के लिए देखिए --

(क) मानकेकर : गिल्टी मेन आफ १९६२ (१९६८) दिल्ली ।

(ख) दुर्गादास : इण्डिया फ्राम कर्जन टू नेहरू एण्ड आफटर (१९६७) न्यूयार्क ।

(ग) बी० एम० कौल : अनटोल्ड स्टोरी (१९६७) दिल्ली ।

(घ) जे० पी० दालवी : हिमालयन बलण्डर (१९६८) दिल्ली ।

(च) एन० वी० गाडगिल : गवर्नमेन्ट फ्राम इन्साइड ।

(ट) मेक्सवेल : इण्डिया-चायना वार (१९७०) लन्दन ।

से समझौते का प्रयत्न हो रहा था, लेकिन चीन को इस बात का सन्तोष हो चुका था कि वह शक्ति की स्थिति में है। अप्रैल १९६० में चाऊ-एन लाई दिल्ली आए लेकिन बातचीत का निष्कर्ष विरोध का बढ़ना ही था। २० अक्तूबर १९६२ को चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया और २१ नवम्बर १९६२ को चीन ने स्वयं ही युद्ध विराम की घोषणा कर दी। उसने अपनी सेनाओं को २० किलोमीटर पीछे वापस बुला लिया, जिसे उसने '१९५९ की वास्तविक नियंत्रण रेखा' घोषित किया। इस प्रकार चीन ने आक्रमण करके १४,५०० वर्गमील पर कब्जा कर लिया।

१९६४ में नेहरू जी की मृत्यु हो गयी। अपने लम्बे प्रधान मंत्रित्व के काल में वे भारत की एक भी समस्या हल नहीं कर सके, वरन् भारत का आत्मविश्वास, सम्मान एवं गौरव सभी पर कुठाराघात करके विश्व में राजनीतिक रंगमंच पर अपना निजी ऐतिहासिक व्यक्तित्व बनाने की दिशा में सदैव प्रयत्नशील रहे। इसके विपरीत १९६५ में जब पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया तो प्रधान मन्त्री लालबहादुर शास्त्री ने भारत का खोया हुआ आत्मविश्वास, गौरव एवं सम्मान फिर से वापस लाने में सफलता प्राप्त की। ताशकंद में १८ महीने के सफल प्रधान मंत्रित्व काल के बाद ही दुर्भाग्य से शास्त्रीजी की मृत्यु हो गई थी और तब से अब तक श्रीमती इन्दिरा गांधी ही प्रधानमन्त्री हैं। १९६९ में कांग्रेस दो भागों में विभक्त हो गयी और इन्दिरा गांधी के प्रोत्साहन से फिर देश में मुस्लिम लीग का पुनर्जन्म हो रहा है। साम्प्रदायिक वैमनस्य चारों ओर बढ़ रहा है और इसके साथ हिंसा भी। बंगाल में नक्सलवादियों का आतंक सरकार की कमज़ोर एवं अपनी कुर्सी बचाओ की नीति के कारण निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

● आर्थिक पृष्ठभूमि

ब्रिटिश काल में भारत की आर्थिक परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। ब्रिटिश अधिकारी यहां की सम्पत्ति अधिकाधिक मात्रा में लूट कर अपने देश ले जाना चाहते थे। वास्तव में यहां का धन-धान्य और सम्पन्नता देखकर वे इस सीमा

तक असन्तुलित हो गये कि वह यह भी भूल गए कि इसके दूरगामी परिणाम क्या होंगे। कुछ इतिहासकारों[१] ने उस समय के भारत की संज्ञा एक ऐसे पेगोडा वृक्ष से दी है जो बार बार हिलाया गया, जब तक कि वह पूर्णतया नष्ट नहीं हो गया। ब्रिटिश अधिकारी इतने धन-लोलुप हो गये थे कि कार्टेज और पिज़ारो युग के स्पेनवासियों के समय से आज तक कदाचित् उसकी पुनरावृत्ति नहीं हुई। भारत में ब्रिटिश शासन का इतिहास विश्व में राजनीतिक छल का सबसे बड़ा उदाहरण है। इसके फलस्वरूप भारत की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गयी। अंग्रेजों ने ऐसी नीति बनाई कि इंग्लैण्ड से जो चीज़ भारत आती थी, उस पर कर नहीं लगता था, अत: उसके मूल्य भी कम होते थे। भारत से जो चीज़ विदेश जाती थी, उस पर इतने अधिक कर लगाये जाते थे कि मूल्य एकदम बढ़ जाते थे और उनकी मांग समाप्त हो जाती थी। इससे भारतीय व्यापार पूर्णतया नष्ट हो गया। इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि देश में भीषण निर्धनता व्यापक रूप से फैल गयी[२] और आर्थिक स्वावलम्बन की भावना समाप्त हो गई। १९१८-१९ में सरकार ने भारत की औद्योगिक स्थिति की जांच करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसकी मुख्य सिफारिशें थीं कि भारतीय उद्योग धन्धों की रक्षा के लिए भारत में बनने वाले मालों पर कर लगाना चाहिए तथा विदेशी पूंजी का भारत में अनियंत्रित प्रवेश होना चाहिए। द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् ६ अप्रैल १९४५ को सरकार ने अपनी नवीन आर्थिक नीति घोषित की[३]

----

१. थाम्पसन एण्ड गैरेट: राइज़ एण्ड फुलफिलमेन्ट आफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया (१९३५), लन्दन, पृष्ठ २३२।

२. एल० एफ० रशब्रुक विलियम : व्हाइट एबाउट इण्डिया (१९३९), लन्दन, पृष्ठ १५९ --" It must be stated frankly that the sidespread poverty of the Indian people impresses all observer. The great majority of Indians live in a way which would be quite impossible in a more rigorous climate : and their appearance strikes the observer as pitiable poor depressed and melancholy"2

३. सर जान कमिंग : सम्पादित माडर्न इण्डिया : एन कोआपरेटिव सर्वे (१९३१) लन्दन, पृष्ठ २८५।

और यह स्पष्ट किया कि बड़े-बड़े उद्योग धन्धों, जैसे इंजन निर्माण, लोहा, कोयले की खानों, रासायनिक पदार्थों का उत्पादन करने वाले कारखानों तथा मशीन पुर्जे, रेडियो तथा जहाज-निर्माण के कारखानों पर सरकार का नियन्त्रण रहेगा । अन्य उद्योग धन्धों को स्वतन्त्र रूप से प्रारम्भ किए जाने की अनुमति दी गई । इस महत्वपूर्ण घोषणा का प्रभाव हितकर सिद्ध हुआ ।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पूर्व भारतीय आर्थिक व्यवस्था में जो थोड़ा बहुत सुधार हुआ है, वह ब्रिटिश अधिकारियों के प्रोत्साहन देने के फलस्वरूप ही हुआ है । वे ही देश के शासक थे और सारा नियन्त्रण भी उन्हीं के हाथों में था । उन्होंने ज़रा भी नियन्त्रण कम किया तो भारतवासियों ने औद्योगिक विकास का पूर्ण प्रयत्न किया । परिणामस्वरूप उस प्रगति की गति कितनी भी मंद क्यों न हो, धीरे-धीरे देश में क्रांति की लहरें उमड़ रही थीं और भारत के आर्थिक ढांचे के इस परिवर्तन में एक ऐसे मध्यवर्ग का उदय हुआ जिस पर अंग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक प्रभाव था ।

स्वतन्त्रता के बाद भारत ने आर्थिक प्रगति १६५१ में चिंताओं की अपेक्षा विराट आशाओं से प्रारम्भ की । प्रथम दश वर्षों में हालांकि प्रगति की सीमा उतनी व्यापक नहीं थी, जिसकी आशा थी, पर वह शून्य भी नहीं थी । राष्ट्रीय आय में ४२ प्रतिशत या ३.५ प्रतिशत औसतन प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई ।

कृषि उत्पादन में प्रतिवर्ष ३.५ प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन में ७ प्रतिशत की वृद्धि हुई ।[१]

वास्तव में प्रगति मन्द होने का वास्तविक कारण योजनाओं का अतिरिक्त महत्वाकांक्षी धरातल पर निर्मित करना तथा उन्हें गलत एवं अयथार्थपूर्ण ढंगसे कार्यान्वित करना है । अफसरशाही तथा लाल फीताशाही ने अनिवार्य आवश्यकताओं की उपेक्षा कर बड़ी-बड़ी इमारतों को गिराने या बनाने, बांध या बिजली घरों के निर्माण तक ही प्रगति की बहुत कुछ सीमित कर दिया ।

----

१. पी० टी० बायर : इंडियन इकोनामिक पालिसी एंड डेवलपमेन्ट (१६६५), लन्दन, पृष्ठ १११ ।

विदेशों से मिलने वाली सदाशयता ने हमें इस सीमा तक पंगु बना दिया कि आर्थिक क्षेत्र में न केवल हमारा आत्मविश्वास डगमगा गया, वरन् सामर्थ्य होते हुए भी आत्मनिर्भर बनने की भावना ही निष्क्रिय हो गयी ।

स्वतन्त्रता के पूर्व भी और बाद में भी निर्धनता भारत की सबसे गम्भीर समस्या रही है । असंख्य लोगों की न्यूनतम आवश्यकतारं भी पूर्ण नहीं हो पातीं । तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में हजारों करोड़ रुपये की धनराशि इस समस्या के समाधान में लगाई जा चुकी है, किन्तु समस्या बजाय सुधरने के और भी विकट होती गयी है । १६५१ में तीस लाख लोग बेरोजगार थे । दस वर्ष बाद १६६१ में इनकी संख्या बढ़कर ६० लाख हो गयी । वास्तव में पढ़े लिखे लोगों में बेरोजगारी की इस भयानक स्थिति से निराशा, कुंठा, अनिश्चित भविष्य के प्रति संत्रास इतने गहरे रूप में व्याप्त होता जा रहा है कि समाजवाद के नारे या समानता की दलील में कोई दम नहीं रह गया है । ये सब राजनीतिक जार्गन हैं, जो शिक्षित बेकारों की समस्या को हल करने के बजाय उन्हें अराजकता, हिंसा तथा निष्क्रियता के पथ पर अग्रसर कर रहे हैं । नक्सलवादियों की समस्या इसी आर्थिक विषमता का ही परिणाम है । स्वतन्त्रता के बाद समाजवाद के नाम पर धनी लोग और अधिक धन का संचय करने में सफल हुए हैं तथा निर्धन और भी भूख तथा बेकारी में दम तोड़ते हैं । आज बढ़ती हुई कीमतें, असमानता तथा वैषम्य ने आर्थिक असुरक्षा की भीषण समस्या उत्पन्न कर दी है, जिसने सामाजिक प्रतिमानों को पर्याप्त सीमा तक उलट पलट कर दिया है ।

● धार्मिक पृष्ठभूमि

नवीन शिक्षा तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में जिस चौमुखी जागृति एवं नवीन चेतना का विकास हो रहा था, धार्मिक रूढ़ियों का अतिक्रमण उसमें बाधक बन रहा था ।[१] भारत में धर्म और समाज के मध्य वस्तुत: कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती । यहां समाज का

----

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : उन्नीसवीं शताब्दी (१६६३), इलाहाबाद, पृ० ३२

आधार धर्म ही है । परम्पराओं में लोगों का इतना मोह था कि धार्मिक आडम्बरों में विश्वास न रखते हुए भी वे उनका पालन करते आ रहे थे । अत: इस कारण इस युग में अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ और धीरे धीरे धार्मिक रूढ़ियों में लोगों की आस्था कम होती गयी । इसके पीछे कई तत्व क्रियाशील थे । पहला थी पश्चिम की वह चुनौती, जो औद्योगिक क्रांति की भावना लेकर आई थी । इसमें भौतिकता का अंश ज़्यादा था । भारतवासियों का अपना एक जीवन था और भौतिकता के पार्श्व में वे अपने अन्दर आध्यात्मिकता का जो भाव सन्निहित रखते थे, वह अन्य देशों में न था । अत: पश्चिम की इस चुनौती को स्वीकार कर लेने में उन्हें अपनी आत्मा की हत्या का भाव लक्षित हुआ । इससे पश्चिम के प्रति एक जबरदस्त प्रतिक्रिया का भाव उत्पन्न हुआ, जिसे पूर्व और पश्चिम का संघर्ष भी कहा जा सकता है । यह वस्तुत: आध्यात्मिक क्षेत्र का संघर्ष था । स्वभावत: प्रश्न उठता है कि भारत की तत्कालीन जीर्ण-शीर्ण सामाजिक अवस्था में आध्यात्मिकता का वह भाव कहां से उत्पन्न हुआ ।[१] भारत के शिक्षित वर्ग ने एक ओर तो पश्चिम के बढ़ते हुए प्रभाव को देखा तथा दूसरी ओर अपने देश में सर्वत्र निर्विण्ण अन्धकार की छाया व्याप्त देखी । नैराश्य एवं दैन्य की उस विषम परिस्थिति में उन्हें भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के लुप्त हो जाने की पूर्ण सम्भावना लक्षित हुई और इसकी कल्पना मात्र से ही वे चिंतित हो उठे । अत: इस अंधकार को मिटाने के लिए उन्होंने एक ऐसे भारतीय शास्त्र का स्वरूप निश्चित किया, जो भारतीय शिक्षित

----

१. विशेष विवरण के लिए देखिए --

(क) राबर्ट एन० बेल्ला : रेलिजन एण्ड प्राग्रेस इन माडर्न एशिया (१९६५), न्यूयार्क

(ख) ए० बी० शाह तथा सी० आर० एम० राव : ट्रैडिशन एण्ड माडर्निटी इन मन्ड इण्डिया (१९६५), बम्बई-१ ।

(ग) एडवर्ड शिल्स : द इन्टलेक्चुअल बिटविन ट्रैडिशन एण्ड माडर्निटी : द इण्डियन सिचुएशन (१९६१), लन्दन ।

(घ) के० एम० पनिकर : हिन्दू सोसायटी एट क्रास रोड्स (१९५५), बम्बई-१

वर्ग को तो मान्य हो ही, पश्चिमी जगत् भी उसको मान्यता प्रदान करे। अर्थात् धर्म का ऐसा रूप प्रतिष्ठित हो, जो रूढ़ पौराणिकता और आडम्बरविहीन हो। वह धर्म का स्वरूप उपनिषदों के धर्म में खोजा गया, जो आज भी प्रचलित है। यह वही धर्म था, जिसे शंकराचार्य ने बौद्धों को परास्त करने के लिये प्रयोग किया था। अत: उस युग में जो धार्मिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उनका एकमात्र उद्देश्य परम्परागत रूढ़ियों को समाप्त कर धर्म का एक सर्वसम्मत स्वरूप उपस्थित करने का था, जो शिक्षित वर्ग के आडम्बरमुक्त परम्परागत एवं अनावश्यक रूप से कठिन होने के आरोपों से मुक्त हो।

उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वप्रथम धार्मिक सुधार आन्दोलन ब्रह्मसमाज (१८२८) के नाम से विख्यात है। इसके प्रवर्तक राजाराम मोहन राय (१७७४-१८३३) थे। उन्होंने बहु-विवाह छुआछूत तथा मूर्ति-पूजा आदि का प्रबल विरोध किया, क्योंकि प्राचीन हिन्दू धर्म तथा उपनिषदादि ग्रंथ इसका अनुमोदन नहीं करते। उन्होंने वैदिक हिन्दू धर्म को सरल, सम्पूर्ण और युक्तिसंगत बताया। उस समय भारतीय जनता पर ईसाई धर्म का प्रभाव गहरा पड़ता जा रहा था। राजाराम मोहनराय ने इसका विरोध करके हिन्दू जनता को उसके धर्म और उत्तरदायित्व के प्रति सचेत किया।[1] उन्होंने सबसे बड़ी क्रांतिकारी बात विधवा विवाहपर जोर देकर की। इसी समय एक दूसरे शक्तिशाली आन्दोलन का सूत्रपात १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२८-१८८३) के नेतृत्व में हुआ। यह आन्दोलन आर्य समाज आन्दोलन था, जिस का हिन्दी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। स्वामी दयानन्द गुजरात के थे। उन्होंने जातिभेद, विधवा विवाह के प्रचलन और सम्मिलित खान-पान पर बल प्रदान किया। आर्य समाज आन्दोलन आत्मिक शुद्धि पर अधिक बल देता है और लोगों में आत्मशुद्धि आत्मगौरव, जातीय धर्म निष्ठा औरपरम्परागत रूढ़ियों को समाप्त करने की भावना का संचार कर रहा था।[2] आर्य समाज आन्दोलन आर्य धर्म का ऐसा स्वरूप प्रदान करना चाहता था, जिससे वह हर दृष्टि से प्रगतिशील, सरल एवं आडम्बरहीन धर्म के रूप में सभी वर्गों में लोकप्रिय हो सके। उन्होंने वेदों की नये ढंग से व्याख्या

---

१. सर जान कमिंग : सम्पा० माडर्न इंडिया : ए कोआपरेटिव सर्वे, (१६३१), लन्दन, पृ० १२२।

२. सर पी० जी० ग्रिफिथ : द ब्रिटिश इम्पैक्ट आन इंडिया (१६५२), लन्दन, पृ० २५२-२५३।

प्रस्तुत की तथा सत्य को ग्रहण कर और असत्य का त्याग करने, अविधा का नाश तथा विधा की वृद्धि पर बल दिया ।

बंगाल में रामकृष्ण परमहंस (१८२६-१८८६) भी इसी प्रकार के धार्मिक पुनरुत्थान कार्य में संलग्न थे । उन्होंने हिन्दू धर्म और दर्शन के विभिन्न धाराओं का समन्वय कर धर्म का वह रूप प्रस्तुत किया, जो सरल एवं आडम्बरहीन था । एक और आन्दोलन था जिसकी स्थापना कर्नल अल्कार और ब्लैवटस्की ने ७ दिसम्बर १८५७ को न्यूयार्क में की थी । भारत में इसका पहला केन्द्र मद्रास में खोला गया । इसने सभी धर्मों की मौलिक सत्यता में अपनी आस्था प्रकट की । उसमें बौद्ध तथा हिन्दू धर्म को सत्य का सर्वाधिक उत्कृष्ट मान उन्हें विशेष गरिमा प्रदान की ।

स्वामी रामकृष्ण की मृत्यु के बाद उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द (नरेन्द्रनाथ दत्त, १८६२-१९०२) ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और सेवा भाव की वृद्धि में सहायता प्रदान की । उन्होंने वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद पर अधिक बल दिया क्योंकि उनकी विचारधारा में प्रगतिशील मानवजाति के लिए आगे चलकर सिर्फ वेदान्त धर्म ही कल्याणकारी हो सकता था । स्वतन्त्रता के बाद धर्म का आधार क्षीण हो गया है । नीत्शे की यह घोषणा कि ईश्वर की मृत्यु हो गयी है, अकारण नहीं गयी और उसने विश्व के बौद्धिक वर्ग पर अपना अत्यधिक प्रभाव डाला स्वयं मार्क्सवाद में एवं सार्त्र के अस्तित्ववाद में धर्म की उपेक्षा भावना ने हमारे स्वातंत्र्ताकालीन उपन्यासकारों को अत्यधिक प्रभावित किया है और अब हमारे जीवन का प्रमुख आधार धर्म नहीं, आधुनिक चेतना है । प्रश्न उठता है कि जैसा स्वातंत्र्योत्तरकालीन उपन्यासों में दिखाया गया है, क्या उसी के अनुसार वास्तव में धर्म का कोई सामाजिक आधार नहीं है । इसकी गहराई से जांच करें तो उपन्यासों के समाज और वास्तविक समाज में विचित्र अन्तर्विरोध उपस्थित होगा । समाज में आधुनिकता का परिवेश केवल ऊपरी सतह तक सीमित है । जरा सा नाखून से खरोंच कर देखें तो महानगरों में रहने वाले अत्याधुनिक लोग भी कमोबेश उसी धार्मिक भीरुता, आडम्बरप्रिय परम्परा एवं रूढ़ियों के शिकार हैं । जिस प्रकार स्वतंत्रतापूर्व के लोग । इन असंगतियों में ही वर्तमान जीवन विकसित हो रहा है ।

● सामाजिक पृष्ठभूमि

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन होना स्वाभाविक था । भारतीय सामाजिक जीवन उस समय जहां था, वहां नहीं रह सकता था । भारतवासियों के विचारादर्शों, फलत: उनके व्यक्तित्व में परिवर्तन हुआ । वैसे तो ब्रिटिश अधिकारियों ने भारत के वास्तविक कल्याण की बात नहीं सोची । वे जो कुछ भी परिवर्तन करते थे, उनमें उनका निजी स्वार्थ रहता था । कम्पनी यहां शासन करने नहीं व्यापार करने आई थी । एडम स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वेल्थ आव द नेशन्स (१७७६) में लिखा है कि व्यापारियों का शासन किसी देश का कदाचित दुर्भाग्य होता है । और भारत को इस दुर्भाग्य से निकलने में वर्षों लग गए ।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही जैसे भारतवासियों की नींद टूटी और उनमें अपने देश को इन विदेशियों के दमन और अत्याचार से मुक्त करने की भावना पनपने लगी । उसमें पश्चिम की प्रगतिशील भावना का भी यथेष्ठ प्रभाव पड़ा ।[1] इसके अतिरिक्त जापान सदृश छोटे से राष्ट्र द्वारा शक्तिशाली रूस को पराजित करके अपने यहां वैधानिक राज्य-प्रणाली स्थापित करना तथा टर्की के क्रान्तिकारी नेता, मुस्तफा कमालपाशा द्वारा अपने यहां धार्मिक तथा सामाजिक रूढ़ियों को समाप्त कर प्रगति की ओर निरन्तर बढ़ते रहने का प्रयास आदि से भारतवासियों में पर्याप्त उत्तेजना उत्पन्न कर दी थी और वे अपने सामाजिक जीवन में परिवर्तन कर तथा रूढ़ परम्पराओं को तोड़कर स्वाधीनता प्राप्त करने की चेष्टा में लग गए ।

१७७६ की अमरीका की स्वतन्त्रता प्राप्ति भी इसी सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण घटना थी । वहां अंग्रेजों ने अपने धर्म, अपनी शिक्षा को जबरदस्ती लादने, लोगों को उनके अधिकारों से पूर्णतया वंचित करने तथा निर्दयतापूर्वक अमानुषिक व्यवहार की परम्परा को बनाये रखा, जिसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई ।[2] पर यह स्थिति स्थायी न रह सकी और वहां शीघ्र ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी । भारत ने धीरे-धीरे

---

१. जे० रेम्जे मेकडोनाल्ड : द अवेकनिंग आफ इण्डिया (लन्दन), पृ० १०५ ।

२. चार्ल्स एण्ड मेरी बेयर्ड : द राइज़ आफ अमरीकन सिविलिजेशन (१६२८), न्यूयार्क पृ० २३४ ।

जो करवट बदली उस पर इन घटनाओं का प्रभाव पड़ा । वास्तव में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना भारत में इसी कारण हुई कि वे बड़ी-बड़ी मशीनों और औद्योगिक संस्कृति के अग्रणी थे ।[१] वे एक ऐसी ऐतिहासिक शक्ति के प्रतिनिधि थे जो शीघ्र ही संसार में आमूल-चूल परिवर्तन लाने वाली थी । स्वयं अंग्रेज इससे अपरिचित थे कि ये परिवर्तन करते जा रहे हैं, पर उसी के साथ जाने-अनजाने उनके परिवर्तनों से भारत में नवीन चेतना का उदय हो रहा था और रूढ़िवादी परम्पराओं के प्रति असन्तोष उत्पन्न होता जा रहा था । उन्होंने शिक्षा प्रणाली में जो सुधार किए, भारत का जो नवीन आर्थिक संगठन किया एवं वैज्ञानिक आविष्कारों का जो प्रचलन किया, उससे भारतवासियों को लाभ भी हुआ ।[२] इससे उनके विश्वासों को बल प्राप्त हुआ और अत्याचारों से संघर्ष करने की प्रेरणा तथा अपने को स्वाधीन करने की भावना को शक्ति प्राप्त हुई ।

इसके परिणामस्वरूप जिस नयी चेतना का उदय हुआ, उससे भारतवासियों को नवीन प्रकाश प्राप्त हुआ और तब उन्होंने अपने को जिस स्थान एवं स्थिति में पाया, उसपर उन्हें खेद ही नहीं आश्चर्य भी हुआ कि संसार उन्हें छोड़कर कितना आगे बढ़ गया है और वे कितना पिछड़ा जीवन व्यतीत कर रहे हैं । भारतवासियों की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा उनकी अपनी जातीय, धार्मिक, एवं सामाजिक, परम्पराएं थीं, जो शताब्दियों से बिना परिवर्तन के अत्यन्त रूढ़ हो गयी थीं । उन परम्पराओं का वैदिक काल अथवा पुराण काल में भले ही अत्यधिक महत्व रहा

----

१. जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी (१९४७), इलाहाबाद, पृ० ३८५ ।

२. एल० एफ० रशब्रुक विलियम्स : व्हाट एबाउट इण्डिया ? (१९३९), लन्दन, पृष्ठ १६८ -- "British rule, alone among the many dominions India has known in its tragic history, has placed the country on the road which leads alike to national integration and to national self-government."

हो, पर आधुनिक युग में उनका कोई महत्व नहीं था। उनमें पूर्णतया परिवर्तन उपेक्षित था, वे जिस रूप में वर्तमान थीं, उसके सम्मुख नवीन विचारों और प्रगतिशील भावनाओं के लिए कोई स्थान न था । यद्यपि शिक्षा के प्रसार से यह कल्पना की गयी थी कि पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव ग्रहण करने के पश्चात् लोगों में प्रगतिशील भावनाएं घर कर जाएंगी ।[१] यह बहुत दिनों तक यह विचार सम्भव न दृष्टिगोचर हुआ, उस प्रक्रिया को पूर्ण होने में पर्याप्त समय लगा ।

विश्व इतिहास के अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी भी पराधीन देश में जब शिक्षा का पुनर्गठन हुआ है, आर्थिक व्यवस्था में उन्नति हुई है, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचलन हुआ है तथा नवीन जागृति का प्रसार हुआ है तो इनके परिणामस्वरूप वहां के जन-जीवन पर गहन प्रतिक्रिया हुई है और उन देशों में सामाजिक क्रान्ति हुई है । स्वयं भारत में १८५७ की क्रांति से यह स्पष्ट हो चुका था कि जनता में असन्तोष की ज्वाला सुलगने लगी थी और अवसर प्राप्त होते ही वह अपना प्रचण्ड रूप प्रदर्शित करेगी । अत: ब्रिटिश सरकार ने पूर्ण शक्ति से जन भावना को कुचलने और उसे आधुनिक युग से पूर्णतया वंचित रखने का प्रयास किया, जिससे भारत में उनकी स्थिति सुदृढ़ रह सके और जनता के समक्ष उनको असफल न होना पड़े । पर उन्हें अपने इस दुराग्रह में अधिक दिनों तक सफलता न प्राप्त हो सकी और जनता में चेतना केविकास के साथ ही परम्परा के प्रति असन्तोष बढ़ता गया । वे सब उन परम्पराओं को समूल नष्ट कर समाज का रूप-विधान ही परिवर्तित कर देना चाहते थे, जिसके कारण वे पतन के इस गर्त तक पहुंच गये थे और प्रगति की दौड़ में शताब्दियों पीछे रह गए । अत: आगे चल कर अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ, जो इसी असन्तोष की प्रतिक्रिया स्वरूप थे और जिनसे भारतीयों में पूर्ण चेतना ही का विकास हुआ । भारतवासियों की यह चेतना ही पुनरुत्थान के नाम से अभिहित की जाती है । इस पुनरुत्थान आन्दोलन के अनेक पक्ष थे किन्तु अन्य देशों की भांति भारतवर्ष में भी इस आंदोलन के अन्तर्गत भारतवासियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुए बिना न रह सका ।

---

१. एल० एफ० रशब्रुक विलियम्स : व्हाट एबाउट इण्डिया ? (१६३६), लन्दन, पृष्ठ ६२ ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की एक नूतन रूपरेखा का विकास हुआ है।[१] इस रूपरेखा को समाजवादी व्यवस्था की संज्ञा दी गई है। राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में इस नई रूपरेखा के अनुरूप परिवर्तन हो रहे हैं। इसका सामाजिक व्यवस्था पर आधुनिकता के संदर्भ में विशेष प्रभाव पड़ा है। अब महानगरों में ही नहीं, ग्रामों में भी संकीर्णता, रूढ़ियों एवं आडम्बर से समाज मुक्त होने की दिशा में गतिशील है। लोगों की दृष्टि में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है और नये मूल्य विकसित हुए हैं। समाज का आधार अब वैयक्तिक अधिक हो गया है और लोगों की मान्यता में परिवर्तन की दिशा निजता की ओर रही है।

● मध्य वर्ग का उदय और हिन्दी उपन्यास

ऊपर कहा जा चुका है कि पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से भारतवासियों में एक नई चेतना का उदय हो रहा था। नए वैज्ञानिक आविष्कारों, विचारों के आदान-प्रदान, प्रेसों एवं समाचारपत्रों की स्थापना के कारण रूढ़ियों एवं परम्पराओं के प्रति तीव्र असन्तोष उत्पन्न हो गया था। आर्थिक प्रगति की मंद चाहे कितनी भी रही हो। धीरे-धीरे देश में आर्थिक क्रांति की लहरें उमड़ रही थीं[१] और भारतीय लोग आर्थिक विकास एवं नवीन आर्थिक संगठन के प्रति प्रयत्नशील हो रहे थे। भारत के आर्थिक ढांचे के परिवर्तन में एक ऐसो मध्यवर्ग का उदय हुआ, जिसपर अंग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक प्रभाव था और भारत में दासता की शृंखलाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिए जो सर्वाधिक कटिबद्ध था।

----

१. विशेष विवरण के लिए देखिए --

(क) सेलिंग हेरीसन : इण्डिया : द मोस्ट डेन्जरस डिकेड (१९६०, प्रिंसटन

(ख) जयप्रकाश नारायण : सोशलिज्म, सर्वोदय एंड डेमोक्रेसी (१९६४) लन्दन

(ग) परसविल ग्रिफिथ : माडर्न इण्डिया (१९६५), न्यूयार्क।

(घ) फ्रेंक मोरेस : इण्डिया टूडे (१९६०), बम्बई।

इससे एक नये युग का सूत्रपात ही नहीं हुआ, जड़ जीवन पद्धतियों एवं निष्क्रियता के बीच नवीन उत्साह, सक्रियता एवं आत्मविश्वास की भावना का उदय हुआ ।

इस काल में मध्यवर्ग ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई क्योंकि नवीन विचार-धारा का सबसे अधिक प्रभाव उसी पर पड़ा था । एक सुविज्ञ ने ठीक ही लिखा है[1] कि इससे हिन्दी नवोत्थान द्विमुखी होकर अवतरित हुआ था । एक की दृष्टि भूतकालीन गौरव की ओर थी, तो दूसरे की दृष्टि भविष्य की ओर आशा लगाए हुए थी । नवोत्थान की अवतारणा के पीछे जिन शक्तियों ने कार्य किया, उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है । ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी का नवोत्थान आन्दोलन उस व्यापक भारतीय आन्दोलन का भाग था, जो अन्त में स्वयं उस महान् ऐतिहासिक क्रम का प्रमुख भाग बन गया, जो उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ पूर्व से ही प्रधानत: एंग्लो-सेक्शन सभ्यता के सम्पर्क द्वारा मिस्र, टर्की, ईराक, अरब, ईरान, अफगानिस्तान, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलयद्वीप आदि समस्त पूर्वी संसार का जीवन स्पन्दित कर रहा था । पूर्वी संसार का आध्यात्मिक और मानसिक जीवन पूर्वी और पश्चिमी दोनों शक्तियों से प्रेरित हुआ । उस समय उसकी क्रियात्मक शक्ति का ह्रास हो चुका था । विज्ञान और औद्योगिक विकास के बल पर पश्चिम को विजय प्राप्त हुई । स्त्रियों की स्वाधीनता, विविध धार्मिक एवं सामाजिक सुधारवादी आन्दोलन, राजनीतिक चेतना, मातृभाषा नए वर्गों के जन्म आदि के रूप में पाश्चात्य विचारों का प्रभाव सभी देशों के नवोत्थान आन्दोलन पर लगभग समान रूप से पाया जाता है । इस सम्बन्ध में भारतीय आन्दोलन की अपनी एक विशिष्टता थी । एक प्राचीन तथा उच्च सभ्यता का उत्तराधिकारी और योरुप से दूर होने के कारण भारत दूसरा टर्की न बन सकता था । हिन्दी भाषियों ने एक सार्वभौम ऐतिहासिक क्रम में अपना पूर्ण योग दिया । वे क्रान्तिकारी न होकर सुधारवादी थे अथवा उनके सुधार ही मौन क्रान्ति का रूप धारण कर रहे थे ।पश्चिमी विचारों के आघात ने भारत

----

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : उन्नीसवीं शताब्दी (१९६३), इलाहाबाद, पृष्ठ ४८ ।

के प्राचीन सांस्कृतिक भावना की दीवारों को एकबारगी हिला डाला था । अच्छा यह हुआ कि उसकी नींव दृढ़ बनी हुई थी । भारतेन्दुकालीन हिन्दी मनीषी एक बिलकुल नया भवन खड़ा करने के स्थान पर उसी प्राचीन दृढ़ नींव पर नए ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में एक ऐसा भव्य प्रासाद का निर्माण करना चाहते थे, जिस के साये में रहकर अपार भारतीय जनसमूह सुख और शान्तिपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - जीवन के ये चारों फल प्राप्त कर सकता । वे युग धर्म में पोषित थे । उनकी वाणी में नवभारत का स्वर प्रतिध्वनित था ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस मध्यवर्ग की स्थिति और विचित्र हो गयी है । यद्यपि समाज का रूप काफी बदल गया है[1], किन्तु मध्यवर्ग अभी भी दिशाहीन है और अनेक समस्याओं के बीच रहा है । भाई-भतीजावाद वाली भारतीय प्रजातन्त्र तथा भ्रष्टाचार एवं स्वार्थपरक राजनीति के बीच उसका अस्तित्व प्राय: नगण्य हो गया है, हालांकि समाज का अधिकांश भाग वही है । स्वातंत्र्योत्तर भारत में `मध्य वर्ग की स्थिति अत्यन्त विचित्र है` । निम्न वर्ग आगे बढ़ रहा था और तथाकथित उच्च वर्ग के हाथों देश की नियति आ गयी थी । मध्यवर्ग ही एक ऐसा वर्ग था, जिसका निरन्तर ह्रास हो रहा था और विघटनकारी शक्तियां ही जिसकी धरोहर थीं । यह वर्ग मुख्यतया नौकरी पेशे पर आधारित था और तथाकथित भाई-भतीजावाद वाले भारतीय प्रजातन्त्र में नौकरियां बिना जोर-सिफारिशों के मिलती नहीं थीं । ध्वन्सोन्मुख मध्यवर्ग में अभी भी ऊंची-ऊंची महत्वाकांक्षाएं थीं और बड़े-बड़े सपने थे । उन्हें योग्यता होते हुए पूरा न कर पा सकने के कारण, कुंठा, घुटन एवं नैराश्य की प्रवृत्तियां बढ़ रही थीं । एक ओर

---

१. के० एम० पन्निकर : द फाउन्डेशन आव न्यू इण्डिआ (१९६३), लन्दन, पृष्ठ २४४ --

"From a status dominated society India is gradually emerging as an egalitarian democratic community."

लोगों की दैनिक आवश्यकताएं आधुनिकता के चक्कर में बढ़ रही थीं, तो दूसरी ओर आर्थिक विषमताएं मुंह बाए खड़ी थीं । आए दिन चीज़ों की मूल्यवृद्धि तथा करों का भार सबको कमर तोड़ रहा था । ऐसी स्थिति में जो नया समाज सामने आ रहा था, उसके सामने अनेक समस्याएं थीं जिनका कोई समाधान नहीं था, उसके सामने अनेक प्रश्न थे जिनका कोई उत्तर नहीं था ।[१] मध्य वर्ग की यह स्थिति निरन्तर दयनीय ही होती जा रही है ।

इस मध्यवर्ग ने प्रारम्भ से ही हिन्दी उपन्यासों को प्रभावित किया है । जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, जब हिन्दी उपन्यासों का आविर्भाव हुआ तो समाज में मध्यवर्ग ही अधिकांश रूप में शिक्षित था जिसकी पठन-पाठन में रुचि थी और जिसने उपन्यासों को शीघ्र ही स्वीकार कर लोकप्रियता का व्यापक आधार प्रदान किया । चूंकि अधिकांश लेखक स्वयं ही मध्यवर्ग के थे, इसलिए इसने लेखकों की रचना-प्रक्रिया पर भी विशेष प्रभाव डाला और उपन्यासों में मध्यवर्ग के बहुविधिय पक्षों एवं समस्याओं का विशद चित्रण प्राप्त होने लगा । यह कहना कदाचित् अत्युक्ति न होगी कि प्रारम्भ से लेकर आज तक हिन्दी उपन्यासों ने किंचित अपवादों को छोड़कर मुख्य रूप से मध्यवर्ग को ही विशाल चित्रफलक पर विभिन्न औपन्यासिक प्रवृत्तियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है ।

● मूल्यों का संक्रमण और हिन्दी उपन्यासों के बदलते आयाम

स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् मूल्यों का संक्रमण अधिक तीव्रता से हुआ है । देश के विभाजन के फलस्वरूप हत्याएं, मार-पीट, बलात्कार, आगजनी तथा घरों, कस्बों एवं शहरों के उजड़ने के कारण मानव-मूल्यों एवं नैतिक मान्यताओं में इतना आमूल-चूल परिवर्तन हो गया था कि उसका उपन्यासों पर प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक था । इसने हिन्दी उपन्यासों को एक सर्वथा नया आयाम प्रदान किया और एक नूतन दिशा का सूत्रपात किया । हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में एक नया आयाम इसी प्रकार १९१४ के लगभग प्रारम्भ हुआ था, जिसके आसपास प्रेमचन्द की

---

१. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास, (१९६६), दिल्ली, पृ० ५५० ।

सृजन प्रक्रिया शुरू हुई थी । यह वह काल था, जब भारतीय पुनर्जागरण प्रत्येक क्षेत्र में लक्षित हो रहा था और दो संस्कृतियों एवं सभ्यताओं की टकराहट में मनुष्य नित्य नए चरण रखने के लिए आकुल था ।

इस काल में प्रथम महायुद्ध समाप्त हो गया था । यद्यपि भारतीय समाज पर महायुद्ध का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा था, लेकिन वह सामाजिक प्रतिमानों की परिवर्तन-शीलता की दिशा में महत्वपूर्ण अवश्य सिद्ध हुआ । यूरोप तथा अन्य देशों में जिस प्रकार नया मानस निर्मित हो रहा था और लोगों में नैराश्य की भावना, अस्थिरता, असुरक्षा, भय एवं आशंका का जन्म हो रहा था, उसकी प्रतिक्रिया यहां होनी प्रारम्भ हो चुकी थी । प्रेमचन्द व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का निर्धारण करके जिस आस्था एवं संकल्प से भरी जिजीविषा को मूर्तमान रूप देना चाहते थे, वह आगे चलकर जैनेन्द्र, अज्ञेय, एवं इलाचन्द्र जोशी के हाथों विपरीत दिशा में गतिशील हो गयी और सामाजिक सचेतना के नए प्रतिमान विकसित हुए, जिसका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में किया गया है ।

किन्तु यहां यह कह देना असंगत न होगा कि प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय समाज में मूल्यों का संक्रमण अत्यन्त त्वरित गति से हुआ है और मानव-सम्बन्धों तथा सामाजिक रिश्तों के रूप निरन्तर परिवर्तित होते रहे हैं । व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध इन पांच-छह दशकों में पर्याप्त सीमा तक बदल गया है और समय की गति के साथ हमारा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अधिक विकसित हुआ है । समष्टिगत चेतना एवं व्यष्टिगत चेतना के बीच इस संघर्ष ने हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक सचेतना के प्रतिमानों को जिस सीमा तक प्रभावित किया है, उसे अगले अध्यायों में इसी पृष्ठभूमि में मूल्यांकित किया गया है ।

०००

२ : दूसरा अध्याय : परिभाषा

- उपन्यास : परिभाषा और सन्दर्भ सूत्र
- सामाजिक संचेतना से अभिप्राय
- क्या उपन्यासों में सामाकिक संचेतना का होना अनिवार्य है ?
- पलायनवादी उपन्यास और दायित्व-बोध
- उपन्यासकार की सजगता और प्रतिबद्धता

● उपन्यास : परिभाषा और संदर्भ सूत्र

उपन्यास आधुनिक युग में सर्वाधिक सशक्त और लोकप्रिय विधा है । काव्य, नाटक निबन्ध या आलोचना की तुलना में उपन्यास जन-जीवन में अधिक व्याप्त है । इसका कारण कदाचित यही है कि जनजीवन की संस्कृति, समस्याएं, भावनाएं, ईर्ष्या, द्वेष, दुख-सुख, कुंठा एवं विराग आदि जितने विशद रूप में उपन्यासों में अभिव्यक्ति पाते हैं, उतने किसी अन्य विधामें नहीं ।

हिन्दी में उपन्यास साहित्य किंचित् देर से आया । इसका कारण यह भी है कि हिन्दी साहित्य के प्रथम तीन कालों में गद्य की कोई विशिष्ट परम्परा न थी । ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ ही यहां नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का उदय हुआ और जीवन एवं संवेदना को अभिव्यक्त करने के लिए नए आयाम उपस्थित हुए । जैसा कि एक सुविज्ञ ने लिखा है[१] कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होने लगा था और देश में नवीन चेतना का प्रसारण हो रहा था । धार्मिक रूढ़ियां एवं परम्पराएं धीरे-धीरे समाप्त हो रही थीं और गद्य का प्रसार अत्यन्त तेजी से हो रहा था । ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवर्ष में एक नवीन युग की अवतारणा हुई । उस समय भारतवासियों का पश्चिम की एक सजीव और उन्नतिशील जाति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ । यह जाति अपने साथ यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के बाद की सभ्यता लेकर आई थी । उसके द्वारा प्रचलित नवीन शिक्षा पद्धति, वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन प्रवृत्तियों से हिन्दी साहित्य अछूता न रह सका । शासन सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन परिस्थितियों के कारण गद्य जैसे नवीन साहित्यिक माध्यम की आवश्यकता हुई, और गद्य के द्वारा ही हिन्दी में आधुनिकता का बीजारोपण हुआ, न कि काव्य द्वारा । सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् हिन्दी गद्य का अभूतपूर्व विकास हुआ । वास्तव में गद्य साहित्य का आविर्भाव तथा विकास भारतीय

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियां (बम्बई), निबन्ध संग्रह की भूमिका, पृ० ३ ।

जीवन में उस चरम लक्ष्य की ओर संकेत करता है, जिसके कारण हिन्दी साहित्य मध्ययुगीन वातावरण से निकलकर नवीन वैज्ञानिक चेतना और आधुनिकता की सीमा में प्रवेश कर सका । हिन्दी का समस्त गद्य साहित्य हमारे जीवन के परिष्करण और विकास का नवीन साहित्य है ।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक उपन्यास साहित्य का जन्म १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ । मानव जाति आदिम काल से कथासाहित्य का आश्रय लेकर अपना मनोरंजन करती चली आ रही है । कथा-प्रेम की इस मनोवृत्ति ने विश्व साहित्य की बहुत बड़ी पूर्ति की है । धन-धान्य से पूर्ण भारतवर्ष के ऋग्वेद, ब्राह्मणों, उपनिषदों, बौद्ध और जैन साहित्य में हमें कथा-साहित्य का प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है । उनमें समाज, नीति, धर्मनीति तथा दर्शन आदि जैसे गम्भीर विषय सरल और सुगम रीति से समझाए गए हैं । साथ ही मनोरंजन करने तथा जीवन की छोटी-छोटी बातों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री भी प्रचुर मात्रा में मिलती है । कथा-प्रेम की इसी मानव प्रकृति की उद्भावना शक्ति की प्रेरणा से संस्कृत में पंचतंत्र, हितोपदेश, वैताल पंचविंशति, सिंहासद्वात्रिंशिका, शुकसप्तशती, सोमदेव कृत कथा सरित्सागर, गुणाढ्य कृत बृहत कथा और क्षेमेन्द्रकृत बृहतकथामंजरी आदि साहित्य की रचना हुई । हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक और मध्ययुगों में काव्य का एकाधिपत्य होने के कारण गद्य में हमें कथा साहित्य का साक्षात्कार नहीं होता, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य का प्रचार हो जाने से हिन्दी में भी उसका आगमन हुआ[१] और शीघ्र ही साहित्य के क्षेत्र में उसने महत्वपूर्ण स्थान बना लिया ।

प्रश्न उठता है कि उपन्यास है क्या ? 'उपन्यास' शब्द संस्कृत के 'अस्' धातु से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है - 'रखना' (असुक्षेपणे)[२] । 'उप' 'नि' पूर्वक 'अस' धातु में घञ् प्रत्यय जोड़ने से ही उपन्यास शब्द की व्युत्पत्ति हुई । इसे , इस

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९५४), इलाहाबाद, पृ० १७६ ।

२. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद (१९३४), कलकत्ता, श्लोक ३६७, पृष्ठ ४२२ ।

प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि वह रचना जिसमें जीवन के अनेक रूपों का समीप से प्रेक्षपण किया गया हो, उपन्यास है । `उप` का अर्थ समीप तथा `न्यास` का अर्थ थाती ग्रहण कर उपन्यास की संज्ञा ऐसी रचना को दी जा सकती है, जिसे पढ़कर अपने जीवन की वास्तविक यथार्थवादी प्रक्रियाओं का आभास हो और निकटता की अभिव्यक्ति हो अर्थात् निकट से जीवन को देखना । संस्कृत नाट्य-शास्त्रीय ग्रंथों में `उपन्यास` प्रक्रम की प्रतिमुख सन्धि के एक उपभेद की संज्ञा है । इस सन्दर्भमें उसका अर्थ `प्रसादन` लिया गया है । - उपन्यास-प्रसादनम् ।[१] अर्थात् अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना ही उपन्यास है ।

वैसे उपन्यास की कोई सामान्य परिभाषा देना सरल नहीं है ।[२] फिर भी अनेक विद्वानोंने उपन्यास के अर्थ का विस्तार करते हुए उसे परिभाषित करने का यत्न किया है । एक सुविज्ञ लेखक[३] के अनुसार उपन्यास में घटनाओं या वस्तुओं की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए । उपन्यास गद्य में लिखित यथार्थ जगत् का चित्रण होता है जो अपने में पूर्णता का आभास देता है ।[४] एक अन्य आलोचक के अनुसार

---

१. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण (१६३४), कलकत्ता, पृष्ठ ३७३ - `उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यास: संकीर्तितः ।

२. (क) जोसेफ टी० शिप्ले: डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिट्रेरी टर्म्स, पृष्ठ २८३ --
"Novels, the most proteen of literary termBK, is the last to forman definition."
(ख) वाल्टर एलेन : रीडिंग ए नावेल, पृ० ११३ -
"I shall not attempt to define the novel, for where everyone else has failed it is improbable that I would succeed."

३. अर्नेस्ट ए० बेकर : द हिस्ट्री आव इंगलिश नावेल, लन्दन, प्रथम पोथी, पृष्ठ १५ ।

४. अर्नोल्ड केटिल : एन इन्ट्रोडक्शन टू द इंगलिश नावेल, (लन्दन) पृष्ठ १२ ।

उपन्यास आधुनिक बुर्जुआ साहित्य की सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि रूप साहित्यिक सृष्टि ही नहीं है, वरन् उसकी महानतम् सृष्टि है । यह कला का सर्वथा नवीनतम रूप है[१], वास्तव में उपन्यास का सम्बन्ध मानव जीवन और उसकी प्रतिक्रियाओं से ही अधिक रूप में होता है, लेकिन इस प्रकार उसकी परिधि को सीमित नहीं किया जा सकता । उपन्यास का सम्बन्ध मनुष्येतर जीव-प्राणी और पशु-पक्षी से भी, हो सकता है तथा उन्हें पात्र बनाकर उनके जीवन को उपन्यासों की कथावस्तु का आधार बनाया जा सकता है । पर इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि अभी तक मनुष्येतर जीव-प्राणी और पशु पक्षियों की भाषा का अध्ययन नहीं किया जा सका है । अत: उनकी जीवन-प्रक्रियाओं को उपन्यासों में समेटना कठिन ही नहीं असंभव प्राय: है । इसलिए उपन्यासकार प्राय: मानव जीवन के बीच से ही संवेदनशील घटनाओं का निर्वाचन कर उपन्यासों की रचना करते हैं तथा अपनी कृतियों का सम्बन्ध मुख्य रूप से मानव तथा मानव जीवन की प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित रखते हैं ।

उपन्यास के सम्बन्ध में कुछ अन्य परिभाषाएं भी हैं, जिनका उल्लेख करना यहां असंगत न होगा । प्रसिद्ध इतिहास लेखक एवं आलोचक स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार[२] समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियां उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उसका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकते हैं । किसी जन समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियां खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी कभी विस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है । शुक्ल जी की इस परिभाषा को सहज ही नहीं स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि उपन्यास शास्त्रीय या दार्शनिक मत विवेचन एवं सिद्धान्त निरूपण के लिए नहीं लिखे जाते । उपन्यासों में इन चीजों को बड़े ही कलात्मक ढंग से कथा का अंग बनाकर प्रस्तुत किया

----

१. रैल्फ फाक्स : द नावेल एण्ड द पीपुल (लन्दन), पृ० ८० ।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० २००८), बनारस, पृष्ठ ४५० ।

जाता है ताकि उसकी स्वाभाविकता एवं सरसता पर कहीं आंच न आए ।

उपन्यास की अन्य अनेक परिभाषाएं दी गयी हैं[१] जिनका निष्कर्ष यही है कि उपन्यासों में प्रमुख रूप से मानव मन की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास रहता है । और इसीलिए आधुनिक युग में वे अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं । यदि आज प्रमुख उपन्यासों को एक स्थान पर एकत्रित किया जाए, तो हमारे समूचे मानव-जीवन का एक विशाल चित्रफलक उपस्थित हो जाएगा । उपन्यासों का यथार्थ व्यापक रूप से सामाजिक होता है । उपन्यास का विषय प्रमुखत: मनुष्य के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होता है, जो अनेक विषमताओं, द्वन्द्वों, संघर्षों में घिरा

---

१. (क) एडिथ व्हार्टन : नार्मन काजिन्स द्वारा सम्पा० राइटिंग फार लव आर मनी (१९४९)कनाडा, पृष्ठ ३८ - "A novel is a work of fiction containing a good story and well drawn characters."

(ख) इरा वोल्फर्ट : व्हाट इज़ ए नावेल एण्ड व्हाट इज़ इट गुड फार(१९५०) न्यूयार्क, पृष्ठ ४ - "They (Novels) are prose translation of ideas into the language of human life being lived."

(ग) हेनरी जेम्स : द आर्ट आफ फिक्शन (१९४९) न्यूयार्क, पृष्ठ ८ - "A novel in its broadcast definition, a personal, a direct impression of life."

(घ) हर्बर्ट मुल्लर : माडर्न फिक्शन : ए स्टडीज़ आफ वेल्यू, पृष्ठ १४ - "The novel is typically a representation of human experience whether liberal or ideal and therefore inevitably a comment upon life."

(ङ) क्लारा रीव : प्रोग्रेस आफ रोमांस (१७८५) पृष्ठ १८ -- "The novel is a picture of real life and manners, and of the times in which it was written."

(च) प्रेमचन्द : कुछ विचार (१९४९) बनारस, पृष्ठ ३८ - "उपन्यास मानव चरित्र का चित्र है । मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है ।"

(छ) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी उपन्यास उपलब्धियां (१९७०) दिल्ली पृष्ठ ११ - "उपन्यास यथार्थ मानव अनुभवों एवं सत्य का आकलन है । वह जीवन की अनेकता में एकता तथा अपूर्णता में समग्रता लाने का प्रयत्न करता है ।

(ज) डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१९६४) दिल्ली, पृष्ठ ३ - "उपन्यास यथार्थ की प्रतिछाया है । उसका आधार मानव या अन्य जीव-प्राणी, निर्जीव प्रकृति अथवा कोई भी हो सकता है । मुख्य रूप से वह मानव जीवन का प्रतिबिम्ब होता है । उसमें मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश में देखने की चेष्टा सन्निहित होती है ।"

शोषण का शिकार बना रहता है तथा उपेक्षणीय और दयनीय जीवन जीता है । उपन्यास इस प्रकार बाह्य यथार्थ को आधार मानकर चलता है और उसका पूर्ण ईमानदारी से चित्रण करता है । वह एक विषयागत दर्पण के समान है, जिसमें बहुमुखी मानवीय समस्याओं का चित्रण होता है । यह वर्गगत चेतना का एक कल्पनापरक रूप है । इस प्रकार औपन्यासिक विषयों का चयन बाह्य संसार से नहीं होता, वरन् निश्चित वर्ग मनोविज्ञान की गहराइयों से होता है । एक उपन्यासकार अपने वर्ग एवं समाज की उपेक्षा कर ही नहीं सकता । प्रत्येक लेखक निश्चित वर्गों की समस्याओं, विचारों एवं भावावेगों को अभिव्यक्त करता है । यदि कोई ऐसा नहीं कर पाता, तो मात्र इसलिए क्योंकि पूंजीवादी प्रभाव एवं बुर्जुआ संस्कृति के नीचे उसकी चेतना दब जाती है और वह अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त कर सकने में असमर्थ पाता है ।

उपन्यासों में वर्णित वर्ग-संघर्ष वास्तव में दासता एवं शोषण तथा समस्त शक्तियों के केन्द्रीकरण के सिद्धान्तों के विरुद्ध जनता का संघर्ष ही है । यह संघर्ष अधिक व्यापक अर्थों में धार्मिक रूढ़ियों, निर्दयता एवं अत्याचार का भी प्रतीक बन जाता है । संसार में प्रत्येक चीज़ गतिशील एवं परिवर्तनीय है तथा उसका अपना इतिहास होता है । मानव-जीवन, जिसका उपन्यासकार चित्रण करता है, इसका अपवाद नहीं है । मानव जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उसे इन द्वन्द्वों एवं संघर्षों का वर्णन करना होता है, जो वर्णों को समूल नष्ट करने के लिए प्रारम्भ किए जाते हैं और जिनका उद्देश्य जीवन स्थितियों को परिवर्तित करना तथा सम्पूर्ण मानवता की आध्यात्मिक एवं नैतिक संभावनाओं में प्रगतिशीलता लाना होता है । हमें एक उपन्यास में भविष्य को निरखने एवं परखने की क्षमता के साथ ही भूत को समझने की समर्थता भी प्राप्त होनी चाहिए ।

● सामाजिक संचेतना से अभिप्राय

सामाजिक संचेतना का सीधा अर्थ यह होता है कि कोई उपन्यास समाज की परिधि में ही मनुष्य और उसकी विभिन्न समस्याओं का कहां तक चित्रण कर पाता है । उपन्यासकार का दृष्टिकोण चाहे कुछ भी हो, लेकिन वह मनुष्य और समाज की

उपेक्षा नहीं कर पाता । कला की सार्थकता जीवन से साक्षात्कार करना है और उसे कलात्मक अभिव्यक्ति देना है । जब एक उपन्यासकार अपनी रचना में समाज की समस्याओं को राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ में देखने का प्रयत्न करता है तथा नये परिवेश में मानव-मूल्य एवं व्यक्ति के आचरण की मर्यादा स्थापित करने का प्रयत्न करता है तो वह सामाजिक संचेतना का ही चित्रण करता है । रस्किन साहित्य का ध्येय[१] 'greatest good of greatest number' स्वीकारते थे, अर्थात् अधिकाधिक जनसमूह का सर्वोत्तम कल्याण ही साहित्य का उद्देश्य होता है । टाल्सटाय के अनुसार[२] साहित्य मानव एकता का साधन होता है । इन दोनों ही महान रचनाकारों ने कला का लक्ष्य मानवता की सेवा करना और सद्भावनाओं का प्रचार करना स्वीकार किया अर्थात् लोकमंगल की भावना का प्रसार करना यह लोकमंगल की भावना सामाजिक संचेतना से घनिष्ठतम रूप से सम्बन्धित है । मैथ्यू आर्नाल्ड ने भी साहित्य का आदर्श लोक-कल्याण ही स्वीकार किया है ।[३] अर्थात् उसका प्रयोजन मानव का आत्म विकास और समाज का उत्थान होना चाहिए एक उपन्यासकार की महानता केवल इसमें ही नहीं है कि कला की दृष्टि से कितने श्रेष्ठ उपन्यास की रचना की है, वरन् इस बात में है कि उसकी रचना ने युग की सामाजिक आवश्यकताओं को किस सीमा तक पूरा किया है । जीवन केवल योगमात्र नहीं है । वह केवल कुंठा, निराशा, विघटन या अनास्था का नाम नहीं है । वह पलायन भी नहीं है । जीवन में जूझना पड़ता है । संघर्ष, समर्थता, संकल्प एवं आस्था जीवन के महत्वपूर्ण आयाम हैं, जो हमें स्थिरता न प्रदान कर गतिशीलता देते हैं । जीवन का अर्थ इस प्रकार गहन से गहनतर होता जाता है । यदि हम जीवन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करते हैं, तो हमें जीवन के विकासशील मूल्यों को, जिसके द्वारा हम जीवन धारण करते हैं, स्वीकार करना चाहिए, आजकल समाज

---

१. जान रस्किन : माडर्न पेन्टर्स, (१९१६), लन्दन, पृष्ठ ६८ ।

२. टाल्सटाय : व्हाट इज़ आर्ट, (१९५६), लन्दन, पृष्ठ २४ ।

३. मैथ्यू आर्नाल्ड : लास्ट वर्ड्स, (लन्दन), पृष्ठ ३३ ।

सापेक्षता, नैतिकता, एवं सदाचार को रूढ़ि का पर्याय मान लिया गया है। इसीलिए इनसे हमें वितृष्णा होती है। यह नितान्त भ्रमपूर्ण अवस्था है। वास्तव में यह वितृष्णा रूढ़ि से होती है, समाज सापेक्षता, नैतिकता एवं सदाचार से नहीं। अत: उपन्यासों की सामाजिक संचेतना का महत्व न्यून नहीं हो सकता है।

उपन्यास मनुष्य और जन-जीवन की ही अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति होते हैं। उपन्यासकार दृष्टा इसलिए है कि वह समाज की उन मान्यताओं एवं मूल्यों से साक्षात्कार करता है, जो समाज में व्याप्त होते हैं। उसकी रचनात्मक सार्थकता इस बात में होती है कि वह समाज के भावी विकास के रूप को समझकर अपने उपन्यासों में उसे मूर्तिमान करे। वह अपनी दृष्टि से उन तत्वों को ओझल नहीं कर पाता, जो मानव को अपने संघर्ष संकुल जीवन में आत्मबल जिजीविषा एवं आस्था प्रदान कर सकने में सहायक होते हैं। अत: उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का अभिप्राय: इस तथ्य में है कि उपन्यासकार अपने दृष्टा-तत्व की रक्षा करने में कहां तक सफल हो सका है और वह समाज में व्याप्त अन्तर्विरोधों, विभिन्न मत-मतान्तरों एवं विचार-सम्प्रदायों को किस सीमा तक पहचान सका है और सामाजिक अव्यवस्था में निश्चित व्यवस्था, असंतुलन में सन्तुलन तथा विशृंखलता में संगठन स्थापित करने की दिशा कहां तक निर्धारित कर सका है। जब हम यह कहते हैं कि उपन्यास हमें अंधेरे से प्रकाश में ले जाते हैं, या वे हमारी समस्याओं, उलझनों एवं जटिल मन:स्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हुए हमारा मार्ग प्रशस्त करते हैं तो उसका अर्थ सामाजिक संचेतना से ही होता है।

उपन्यास जीवन की व्याख्या करता है। वह जीवन के सामान्य से सामान्य व्यापार अनुभूति के छोटे-छोटे क्षण एवं उलझी हुई संवेदना को यथार्थ के धरातल पर ही समाज के विराट परिवेश में चित्रित करता है। उसका प्रमुख उद्देश्य जीवन को नए आयाम प्रदान कर मनुष्य की अपनी यथार्थ परिधि में आत्मान्वेषण की दृष्टि एवं पूर्ण समग्रता के साथ गतिशील होने की शक्ति प्रदान करना है। व्यक्ति वृहत्तर समुदाय का अंग होकर समाज के प्रवाह में जीता है। दूसरों से टकराता हुआ और

दूसरों को स्वयं टक्कर मारता हुआ वह दिशोन्मुख होता है । यही जीवन का वास्तविक संघर्ष है, जो सामाजिक परिधि में उपन्यासों में अभिव्यक्ति पाता है । आज जीवन के मूल्यों को समझने, स्वीकारने और परिवर्तित करने की समस्या सर्वाधिक प्रमुख है । वर्तमान जीवन की जटिल यथार्थवादिता, जीवन मूल्यों का संक्रमण, नए मानव-सम्बन्धों का उदय एवं सामाजिक विश्वासों में परिवर्तनशीलता के नए आधारों को पहचानने का प्रयत्न, नवीन, भौतिक सत्यों के मध्य बनती हुई मानव चरित्र की नई दिशाएं आदि जब उपन्यासों में चित्रित होती हैं, तो वे सामाजिक संचेतना के नए प्रतिमान ही स्थापित करती हैं ।

एक पूरा का पूरा समाज एक विशेष ऐतिहासिक परिधि में एक विशेष प्रकार की बनावट में जीता है, उसकी कुछ सामान्य विशेषताएं होती हैं, सामान्य संघर्ष होते हैं, सामान्य जीवन मूल्य होते हैं । सामान्य सांस्कृतिक, धरातल के साथ सामान्य विश्वास, महत्ताएं एवं हीनताएं होती हैं । व्यक्ति ऐसी समाज का एक अंग होता है और उसका अपना एक सत्य भी होता है ।

सामाजिक जीवन में विभिन्न व्यक्ति-सत्यों का महत्व विशेष भले ही न हो, पर व्यक्ति का जीवन इन्हीं सत्यों के आधार पर निर्मित या विशृंखलित होता है । अत: व्यक्ति सामाजिक जीवन की मात्र यांत्रिक इकाई न होकर, समाज, विशेष का प्रतिनिधि होता है । उसके अन्तर्मन में अन्तर्निहित उसकी विशिष्टताओं को उसके बाह्य व्यक्तित्व के भीतर निहित उसके आन्तरिक व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का ही एक रूप होता है । तभी वे मानव जीवन का यथार्थ एवं व्यापक चित्रण कर पाते हैं । अत: उपन्यासों में सामाजिक संचेतना कहने का अभिप्राय पूरे युग और समाज को उसकी समस्त जटिल वास्तविकता ब के साथ ग्रहण करना है । एक ओर उपन्यासकार सामाजिक यथार्थ को उसके विविध स्वरूपों में प्रस्तुत करता है, तो दूसरी ओर विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों और संस्कारों में पले व्यक्तियों की मानसिक गहराइयों में बैठकर मन-सत्यों का उद्घाटन करता है ।

वस्तुत: उपन्यास सामाजिक सत्यों की उपेक्षा करके अपने को निर्जीव बनाते हैं । जीवन तत्वों को ग्रहण करके वे अपने को प्राणवान बनाते हैं । उसमें जीवन की

अनेकताओं में निहित मूल एकता की खोज और स्थापना पर बल रहता है।...
उपन्यास व्यवहारिक जीवन तथा तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण पर मुख्य रूप से बल देता है। यह जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण कर उसकी समस्याओं तथा तत्सम्बन्धी समाधानों को प्रस्तुत करता है।[1] एक अन्य सुविज्ञ के अनुसार[2] उपन्यास मानवता की व्याख्या करने में समर्थ है। ये पाठकों की अन्तर्दृष्टि और संवेदनशक्ति को जागृत करते हैं। उन्हें सामाजिक विषमताओं के प्रति सतर्क कर चारित्रिक क्षमता प्रदान करते हैं।

इस प्रकार मनुष्य एवं समाज की आकांक्षाओं-महत्वाकांक्षाओं का उपन्यास प्रतिनिधित्व करते हुए सामाजिक जीवन के विविध पक्षों की सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण करते हैं। मानव जीवन की समवेत अभिव्यक्ति उसके सामाजिक गठन द्वारा होती है। - सामाजिक उपन्यास में समाज के गठन के अतिरिक्तसामाजिक मूल्यों तथा सामाजिक समस्याओं की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण करता है। मानव के विकास क्रम में समाज की स्थापना हुई है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति ने अपनी रति सम्बन्धी एवं पैतृक मूलवृत्तियों के कारण अकेलापन त्याग कर पारिवारिक जीवन अपनाया है। उसके उपरान्त उसकी सामाजिक भावना उत्तरोत्तर विकसित होती है। अत: समाज, सोद्देश्य व्यक्तियों का गतिशील गठन है। समाज अपने सदस्यों को बाह्य घातक तत्वों द्वारा नष्ट होने से बचाता है। रक्षा कर उनके व्यक्तित्व का विकास करता है और कुछ

---

१. डा० शशिभूषण सिंहल : हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां (१९७०), आगरा, पृ० ५।

२. हेनरी थियोडोर टूकरमैन : द न्यू डिक्शनरी आव थाट्स, पृ० ४२७ --

"Legitimately produced and truely inspired, fiction interprets humanity, informs the understanding and quickens the affections. It reflects ourselves, warns us against. prevaling social follies, adds rich sepcimens to our cabinets of character..."

जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा कर उन्हें पाने के लिए प्रयत्नशील होता है ।[१] उपन्यास जब इन सामाजिक प्रवृत्तियों के वाहक बनते हैं, तो वे सामाजिक संचेतना के विविध आयामों को ही प्रस्तुत करते हैं ।

मनुष्य अपनी उद्देश्यपूर्ति के हेतु साधन जुटाने में प्रत्यक्ष अथवाअप्रत्यक्ष रूप से सक्रिय रहता है । मनुष्य की इसी सक्रियता के परिणामस्वरूप विकसित मानव-सम्बन्धों का संकुल रूप 'समाज' है ।[२] उपन्यास इसी समाज के विभिन्न संदर्भों को बदलते परिप्रेक्ष्य में यथार्थ एवं स्वाभाविक ढंग से चित्रित करके सामाजिक संचेतना को स्वर देते हैं । वे सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक कर वर्तमान परिस्थितियों के प्रति पाठकों का भावोद्वेलन करते हैं । उपन्यास समाज को जिस सुचारु और सुव्यवस्थित ढंग से दिशोन्मुख करते हैं उतने कोई अन्य साधन नहीं । अतः उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का महत्व बढ़ जाता है ।

● क्या उपन्यासों में सामाजिक संचेतना आवश्यक है ?

प्राय: यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का होना आवश्यक है अर्थात् क्या उपन्यासों में जीवन और समाज का चित्रण होना चाहिए या, उसका परिवेश इससे असम्पृक्त होना चाहिए ? इसे इस रूप में भी कह सकते हैं कि क्या उपन्यासों को केवल कला के मानदण्डों तक सीमित रहना चाहिए ? वास्तव में उपन्यास रचना केवल अवकाश के समय कागज रंगने की प्रक्रिया मात्र नहीं है । जहां उपन्यासकार के लिए अपने विचारों की कलात्मक अभिव्यक्ति आवश्यक है, वहीं इसके लिए यह भी वांछनीय है कि वह मानव में जीने की आस्था उत्पन्न करे । उपन्यासकार सृष्टा और दृष्टा बनकर ही अपने दायित्व को पूरा कर सकता है । यह उसका दायित्व है कि उपन्यासों के माध्यम से ऐसी सामाजिक संचेतना प्रस्तुत करे, जो मानव जीवन से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सके और मानव की

----

१. डा० शशिभूषण सिंहल : हिन्दी उपन्यासों की प्रवृत्तियां (१६७०), आगरा, पृ० १३ ।
२. ए० आर० ए० सैलिगमैन : सम्पादित : एनसाइक्लोपीडिया आफ द सोशल साइंसेज़ (खण्ड १३), पृष्ठ २३१ ।

भावनाओं का उदात्तीकरण और परिष्करण करके उसमें जीने की अदम्य लालसा उत्पन्न कर सके। उसकी जिन्दगी का दर्पण उसके सामने प्रस्तुत करे ताकि वह अपने से साक्षात्कार कर सके और अपने जीवन संघर्ष में कोई दिशा प्राप्त कर सके।

यहां इस कथन से आदर्शवाद का भ्रम नहीं होना चाहिए। विशेषतया उस आदर्शवाद का जिसे हम प्रेमचन्द के सन्दर्भ में जानते हैं। इस सामाजिक संचेतना का अर्थ तटस्थ चित्रण है, जिसका सीधा अर्थ समाज सापेक्षता है, समाज निर-पेक्षता नहीं। इस समाज सापेक्षता को अभिव्यक्तिवादों के चश्मे से नहीं वरन् पूर्ण तटस्थता से प्राप्त होनी चाहिए, तभी वह हमारे लिये कोई महत्व रख सकती है, उसमें सजग सामाजिक चेतना का होना भी अनिवार्य है। ताकि वह मनुष्य की वास्तविक समस्याओं को पहचान कर उसे उसके यथार्थ से परिचित करा दे और उचित मार्ग के प्रति दिशोन्मुख करे।... उसका सबसे बड़ा दायित्व कला के प्रति नहीं है, मानव के प्रति ही है। यदि वह स्वयं सामाजिक जवाबदेही से पलायन कर जाता है, तो वह कभी इस दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह नहीं कर सकता। उपन्यासकार को समझना चाहिए कि यह सृष्टि पशुवत नहीं है। और न मानव ही पशु है। मानव में यदि मिनण पशुता है, तो उसमें देवत्व भी है। वह निरा मानव है - दोनों का मिश्रण। उसकी समस्याएं, कुंठाएं, वर्जनाएं भी बहुमुखी हैं। वे असल में एक व्यक्ति की नहीं, सारे समाज की हैं और उपन्यासकार को उसे व्यक्ति के दृष्टिकोण से नहीं, सारे समाज के दृष्टि-कोण से देखना चाहिए।'[१] यही दृष्टिकोण उस सामाजिक संचेतना के स्वरूप को स्पष्ट करता है जिसका होना उपन्यासों में आवश्यक है।

वास्तव में यह प्रश्न उपन्यासों की सोद्देश्यता से भी सम्बद्ध है। उपन्यासकार अपने चित्रण के लिए चाहे जीवन का जो भी स्वरूप चुने, लेकिन वह अपने सामाजिक परिवेश और मानव जीवन के यथार्थ सन्दर्भों की उपेक्षा नहीं कर सकता। अत:

----

१. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ ६।

बिना सामाजिक संचेतना के उपन्यासकार कला संसार की पगडंडियों पर भटकते रहेंगे और उनकी उपलब्धि शून्य होगी । जब उपन्यास जीवन का मर्म ही नहीं पकड़ पाएंगे या समाज धारा में अन्तर्निहित भावना को समझ नहीं पाएंगे और केवल कलाबाजियां ही दिखाते रहेंगे, तो उस कला चमत्कार का हमारे लिए कोई महत्व नहीं हो सकता । कला का अभिप्राय केवल चौंकाना मात्र या जीवन से पलायन नहीं होता । कला की सार्थकता जीवन से जूझते रहने में ही सिद्ध होती है, जिस की उपेक्षा कर उपन्यासों को निर्जीव बनाना ही होगा । जीवन की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति कला है । अतः कला जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है । जीवन यदि कला का पोषण करता है, तो कला जीवन को प्रेरणा और रस प्रदान करती है । उपन्यास इससे असम्बद्ध नहीं हो सकते ।

जो लोग उपन्यासों में सामाजिक संचेतना को तथाकथित आधुनिकता एवं फैशनपरस्ती में तिरस्कृत करने का प्रयास करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि उपन्यास वर्तमान समाज व्यवस्था का एक सांस्कृतिक अंग होता है । वह उस व्यवस्था से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित करता है । उपन्यास की महत्ता और सामाजिक उपयोगिता इसी में है कि वह हमारी चेतना में बहुत गहराई से हमारी वृत्तियों का संस्कार करता है और उन्हें एक उदात्त सामाजिकता प्रदान करता है । सामाजिक संचेतना का अर्थ कोई प्रचार नहीं है जैसाकि मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया । उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का होना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि उससे पाठकों का सौन्दर्य बोध जागृत होता है । उनका व्यक्तित्व सामाजिक बनता है तथा मानव-मूल्यों को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है । सामाजिक संचेतना ही पाठकों के दायित्व भावना को सचेत करती है और जीवन प्रक्रिया के प्रति उद्बुद्ध करके उसे समाज की अधिक सुसंस्कृत इकाई बनाती है । सेल्डेन राउमन नामक विचारक ने एक स्थान पर ठीक ही कहा है कि अगर किसी के लिये भी संघर्ष से असम्पृक्त रहना आवश्यक है तो कलाकार के लिए ।... क्रांति के दिनों में युद्ध, शान्ति और सामाजिक न्याय की समस्याओं के सामने वैयक्तिक, नैतिक समस्याएं और जीवन प्रवृत्तियां बिलकुल तिनके के समान लगने लगती हैं । यदि उपन्यासों का वास्तविक अर्थ बनाये रखना है, तो उपन्यासों को इन सामूहिक समस्याओं का आकलन-मानवमूल्यों के आधार पर करना आवश्यक होगा ।

उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का होना आवश्यक क्यों है, इस पर एक और दृष्टि से हम विचार कर सकते हैं । मनुष्य निरन्तर जीवनधारा से अपना सम्बन्ध बनाए रखना चाहता है । उसके सामने चाहे जितनी समस्याएं आएं, वह चाहे जितना भी पराजित एवं कुंठित क्यों न हो, वह अगत्या जीवित रहना चाहता है । जीवित रहने की उसकी यह लालसा निरर्थक या यांत्रिक नहीं, सार्थक एवं लक्ष्ययुक्त होती है। सार्थकता और लक्ष्य से अभिप्राय: यह है कि अपने अपने अस्तित्व और चेतना के ऊपरी पर्तों के नीचे गहराई में छिपे हुए अपने वास्तविक भाव को खोजना और अपने आचरण तथा सामाजिक सम्बन्धों के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करना । इसलिए वह आत्मान्वेषण कर आत्मोपलब्धियां प्राप्त करने की चेष्टा करता है और अपनी प्राणवत्ता बनाए रखने का प्रयास करता है । यदि ऐसा न हो तो अपूर्व कलात्मक शिल्प होने के बावजूद वह उपन्यास निर्जीव रहेगा । "उसकी रचना में प्रचलित सत्य की अनुभूति घनीभूत हो उठती है । जीवन की यथार्थता और सत्य को उभारने में ही उपन्यास का सामाजिक महत्व है । इस सामाजिक महत्व का निर्वाह करने से वह पाठकों में मानवता के नए आदर्श और मानव-मूल्यों की स्थापना करता है ।[१] इसकी असमर्थता ही उपन्यासों को महत्वशून्य करती है ।

अत: निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का होना आवश्यक होता है । तभी वे जीवनधारा से अपना सम्बन्ध जोड़ पाते हैं और अपने मानवीय पक्ष को सजीव एवं प्राणवंत बना पाते हैं । मनुष्य का अपनी परिस्थितियों से क्या सम्बन्ध है, मनुष्य और मनुष्य का रागात्मक अथवा सामाजिक सम्बन्ध क्या है तथा मनुष्य का निरपेक्ष सत्य, मर्यादा, मूल्य या किसी अरूप भावात्मक अथवा आदर्शात्मक सत्ता से किस प्रकार का सम्बन्ध होता है, जब उपन्यासों में इन प्रश्नों का उत्तर खोजने की चेष्टा की जाती है, तो वह सामाजिक संचेतना का ही चित्रण होता है । यह ऊपर कहा जा चुका है कि सामाजिक संचेतना का अभिप्राय मनुष्य की वैयक्तिक आत्मोपलब्धि की उपेक्षा करना नहीं है । समाज में

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां (१९७०) दिल्ली, पृ० ११० ।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन प्रणाली में, अपने आत्मान्वेषण में दूसरों से बिलकुल पृथक होता है और उपन्यासकार का यह मुख्य दायित्व होता है कि अपनी रचना में उसकी इस वैयक्तिकता को उभार सके तथा यह भी कि वह कैसे अपने ढंग से अपनी विशिष्ट जीवन पद्धति में अपने आप को नए अर्थों के साथ उपलब्ध करता जा रहा है ।

● पलायनवादी उपन्यास और दायित्व-बोध

हिन्दी में जिस सुधारवादी आदर्शवादी भावना को लेकर हिन्दी उपन्यासों का आविर्भाव हुआ था, उसे प्रेमचन्द ने सामाजिक दायित्व-बोध में परिणत करके यथासंभव कलात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया । प्रेमचन्द ने समाज की सत्ता सर्वोपरि समझी और उपन्यासों में सामाजिक संवेदना को प्रमुख महत्व दिया । किन्तु प्रेमचन्द के बाद जो नया लेखक वर्ग आया, उसने नितान्त आत्म परक दृष्टिकोण अपनाकर व्यक्ति ही को महत्व प्रदान किया और उपन्यासों में व्यक्ति के निजी संसार तक सीमित कर दिया । उनकी कृतियों में जीवन से साक्षात्कार की नहीं, पलायनवाद की भावना मिलती है । जीवन संघर्ष से जूझने के बजाय ये उपन्यास समस्याओं से कतराने की चेष्टा में बहुत हद तक निष्प्राण हो गये हैं । यद्यपि स्वयं प्रेमचन्द के समय में प्रसाद ने भी व्यक्ति की महत्ता स्वीकार की थी, किन्तु उनका व्यक्तिवाद, पश्चिमी दृष्टिकोण से प्रभावित न होकर भारतीय संस्कृति से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहा । उन्होंने वैयक्तिक स्वातन्त्र्य पर बल अवश्य दिया, किन्तु सामाजिक परिधि के भीतर । सामाजिक रूढ़ियों एवं आडम्बरों के प्रति उन्होंने विद्रोह करने की चेष्टा की, किन्तु सामाजिक रूपविधान को तोड़ने का प्रयास कभी नहीं किया । वे व्यक्ति से उसका व्यक्तित्व नहीं छीनना चाहते थे और न उसे समाजधारा से काटकर उसका कोई निजी संसार बनाना चाहते थे ।

किन्तु जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी के आगमन के साथ व्यक्ति की जिस सत्ता का उद्बोध हुआ, उसमें व्यक्ति न केवल समाजधारा से ही पूरी तरह कट गया, वरन् वह अपनी समस्याओं, संघर्षों एवं अन्तर्विरोधों से भी कट गया । इस युग

में उपन्यासकारों में सामाजिकता की वह भावना क्षीण पड़ने लगी, जो प्रेमचन्द और उनके सहयोगी उपन्यासकारों ने सशक्त रूप में अपनायी थी । युद्ध की विषमताओं एवं आर्थिक असमानताओं ने जीवन में दुरूहता एवं संघर्ष की जो स्थिति उत्पन्न कर दी थी, हमारे अधिकांश उपन्यासकारों ने उनके सामने माथा टेक दिया और जीवन संघर्ष से पलायनवादी स्थिति को अपनाने में ही अपना श्रेय और गौरव समझा ।... अधिकांश उपन्यासकार जीवन के प्रति भ्रमित रहे और इसभ्रम को दर्शन, मनोविश्लेषण एवं अध्यात्मवाद से छिपाने का प्रयत्न किया । इन उपन्यासकारों ने जीवन के प्रगतिशील दृष्टिकोण की नितान्त रूप से अवहेलना की और जीवन संघर्ष से दूर प्रेम, विरह, सेक्स, एवं कुंठा तथा वर्जना का चित्रण करने की ओर हिन्दी उपन्यास साहित्य को मोड़ने का प्रयत्न किया ।[१] इन पलायनवादी उपन्यासों में समाज और जीवन नहीं, कुछ केस हिस्ट्री के उदाहरण प्राप्त होते हैं । इनसे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मनुष्य अस्वस्थ है, निराश है, कुंठित है और अपनी असफलताओं के कारण पूरी तरह टूटा हुआ है ।

फ्रायड, एडलर, युंग तथा हैवलाक, एलिस आदि पश्चिमी विद्वानों के सिद्धान्तों से प्रभावित इन उपन्यासों में कला के सूक्ष्म प्रतिमान तो प्राप्त होते हैं किन्तु उनमें मानव-मूल्यों एवं मानवीय पक्ष का पूर्णतया तिरस्कार है, जिससे वे निर्जीव हो गये हैं । इन पलायनवादी उपन्यासों ने कुछ नए प्रश्न सामने रखे, जिनमें सर्वाधिक प्रमुख था कि उपन्यासकारों का दायित्वबोध क्या हो ?

उपन्यासकार का दायित्वबोध निश्चित रूप से समाज के साथ है । मनुष्य के प्रति है तथा मानव मूल्यों के प्रति है । इनमें से वह किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकता । उपन्यासकार की सार्थकता, वैज्ञानिक मनोविश्लेषक, पत्रकार या राजनीतिज्ञ बनने में नहीं, मनुष्य के भीतर अन्तर्निहित स्वार्थों सामर्थ्य, उसके जटिल परिवेश तथा उसकी जीवन प्रक्रिया के विविध आयामों को सामाजिक अनुभूतियों के

---

१. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१९६४) दिल्ली, पृष्ठ ३४२-३४३ ।

सन्दर्भों में अभिव्यक्ति देने में है । मानवीय स्तर पर उसकी आस्था उसकी सबसे बड़ी शक्ति है ।

दायित्व-बोध की चर्चा करते समय यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उपन्यासकार को सृष्टा एवं दृष्टा दोनों ही बनना पड़ता है । उसकी सहानुभूति का क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है और वह मनुष्य की अदम्य अपराजियता में विश्वास करके ही अपनी अनुभूतियों को प्राणवान बनाता है । उपन्यासकार की पदाधरता और संघर्ष विवेक का स्तर अत्यन्त गहन है । छोटे-छोटे क्षण में जीवन प्रक्रिया को उद्बुद्ध करना उसका दायित्व-बोध है । मानव-अस्तित्व की गहन पर्तों में छिपे हुए भय, आतंक एवं पराजय के संघर्ष में उसे आस्था, संकल्प, और जिजीविषा भाव प्रदान करना इसी से सम्बद्ध है । समकालीन संकटबोध में टूट रहे सामाजिक ढाँचे और बनते-बिगड़ते मानव सम्बन्धों में विभ्रान्त मानव की जीवन प्रक्रिया में अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके, उसे आत्मान्वेषण की दिशा देना तथा उसकी आत्मोपलब्धियों को स्वीकार करना उसके लिये आवश्यक होता है । इस तरह उसके दायित्व-बोध की सीमा में न तो व्यक्ति उपेक्षित होता है और न समाज । इन दोनों के बीच संतुलन स्थापित करना और मानव मूल्यों पर बल देना उसका दायित्व-बोध है ।

जागरूक चेतना से सम्पन्न कोई भी उपन्यासकार इस दायित्व की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता कि उपन्यासों के माध्यम से वे मूल्य पुन: किस प्रकार स्थापित किए जाएं, जो व्यक्ति को इतना कायर और दुर्बल बनाने से रोकें कि वह अपने सामाजिक दायित्व से पलायन कर आत्मरति में ही लीन रहे या सामाजिक कल्याण के नाम पर आने वाले किसी भी अधिनायकवादी आतंक के सम्मुख नतशिर हो जाए । कोई भी विकासोन्मुख समाज, नीतिवान, दायित्वयुक्त तथा स्वतंत्रचेता व्यक्तियों से ही संगठित होता है । इसलिए उपन्यासकार उन मूल्यों के अन्वेषण एवं पुन:स्थापना की अवहेलना कर ही नहीं सकता । इस अवहेलना का अर्थ दायित्व विमुख होना है और उपन्यासों को पलायनवादी बनाना है । ऐसे उपन्यासों की इधर हिन्दी में कमी नहीं रही है ।[१] दायित्वबोध की चेतना से हीन इन

---

१. जैनेन्द्रकुमार कृत 'मुक्तिबोध', 'जयवर्धन' । अज्ञेय कृत 'नदी के दीप', मोहन राकेश कृत 'अन्धेरे बन्द कमरे', 'न आने वाला कल', निर्मल वर्मा कृत ... (क्रमश:)

उपन्यासों में आधुनिक जीवन के साज-शृंगार सभी प्राप्त होते हैं किन्तु जीवन का वह स्पन्दन नहीं प्राप्त होता, जो इन्हें प्राणवान बना सके ।

जब उपन्यास मनुष्य की 'आन्तरिकता' को फिर से प्रतिष्ठित करने एवं उसके असन्तुलन के निराकरण की दिशा स्पष्ट करने में असमर्थ होते हैं तो वे दायित्व बोध की भावना से हीन होते हैं । मनुष्य की 'आन्तरिकता' से अभिप्राय यह है कि नूतन वैज्ञानिक आविष्कारों एवं भौतिक विकास की चरमसीमा के बावजूद मनुष्य में नैतिक निष्ठा का निरन्तर ह्रास होता गया है और वह टूटकर बिखरता गया है । यह बिखराव आधुनिक युग की समस्याथी, जिसे मध्ययुगीन रचनात्मक दृष्टि नहीं समझ सकती थी और जिसे ग्रहण करना उपन्यासों के लिए नितान्त आवश्यक हो गया था । वादों से ग्रस्त पलायनवादी उपन्यासकार इसे समझने में असमर्थ थे, लेकिन वे उपन्यासकार जो अपने दायित्वबोध को स्वीकार करते थे, इस बिखराव के स्थान पर मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित करने कानिरन्तर प्रयत्न करते रहे ।[१] आन्तरिक सामाजिकता पर आग्रह उस मानवीय विघटन को चुनौती है, जो आज व्यक्ति के विनाश और समाज के खोखलेपन में प्रतिबिम्बित हो रहा है, जिसे आज के कुछ उपन्यासकारों ने जीवन का अन्तिम सत्य समझकर स्वीकार कर लिया है ।

(क्रमशः)..... 'वे दिन', राजकमल चौधरी कृत 'मछली मरी हुई', राजेन्द्र यादव कृत 'मंत्र विद्ध' तथा उषा प्रियंवदा कृत 'रुकोगी नहीं राधिका' आदि ऐसे ही उपन्यास हैं ।

१. प्रेमचन्द कृत 'गोदान', 'यशपाल कृत 'झूठा-सच', फणीश्वरनाथ रेणु कृत 'मैला आंचल', अमृतलाल नागर कृत 'बूंद और समुद्र', सुरेश सिनहा कृत 'सुबह अन्धेरे पथ पर', शिवप्रसाद सिंह कृत 'अलग अलग वैतरणी', श्रीलाल शुक्ल कृत 'राग दरबारी', नरेश मेहता कृत 'यह पथ बंधु था' तथा मन्नू भंडारी कृत 'आप का बंटी' आदि ऐसी ही कृतियां हैं, जो दायित्वबोध की चेतना से पूर्णतया समर्थ हैं ।

● उपन्यासकार की सजगता और प्रतिबद्धता

दायित्वबोध से ही जुड़ा हुआ प्रश्न उपन्यासकार की सजगता और प्रतिबद्धता का है। उपन्यासकार की सजगता से अभिप्राय यह है कि अपनी सामाजिक विकासधारा, उसकी समस्याओं एवं मानवीय अन्तर्विरोधों के प्रति उपन्यासकार कितना सजग है और अपनी रचना में उसे कितनी ईमानदारी से अभिव्यक्त कर रहा है। जीवन को सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करने में अपूर्व कलात्मक क्षमता की आवश्यकता तो होती है, साथ ही जीवन के विशाल अनुभवों की भी। अत: ऐसी प्रतिभा से वंचित असंख्य उपन्यासकार ऐसे भी हैं, जो जीवन का अपूर्ण या एकांगी चित्रण करने में ही अपनी सजगता का परिचय देते हैं। वे प्राय: भूल जाते हैं कि उपन्यासकार की सजगता उसके निर्माण की भावना एवं उस अन्तर्दृष्टि से सम्बन्धित है, जो समाज की आन्तरिक संगति को पहचान सके और मानव मूल्यों को उस स्तर पर प्रतिष्ठित कर सके, जहाँ अँधेरे से प्रकाश में जाने की दिशा प्राप्त हो सके।

उपन्यासकार की सजगता का अर्थ है कि वह विश्वव्यापी मानवीय संकट की वेदना को पूर्ण गहनता से पहचान सके और उसे विराट सामाजिक धरातल पर पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त कर सके। इस सजगता का सम्बन्ध मानवीय गौरव की व्यापक प्रतिष्ठा की रचनात्मक प्रक्रिया से भी है। मिथ्या मूल्यों के प्रश्रय देने के स्थान पर उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक होता है कि वह पाठकों को ऐसी दृष्टि दे सके, जिसके माध्यम से वे सहज मानवीय धरातल पर अपने सम्बन्धों को पहचान सकें और ऐतिहासिक वेदना तथा नियति में सहभागी बन सकें। राष्ट्र, समाज और मनुष्य मानव नियति के प्रसंग में ही सार्थकता प्राप्त कर सकता है, जिसे उभारने का कार्य उपन्यासकार अपनी सजग दृष्टि से करता है। भय, दासता एवं आतंक से समूची मानवता मुक्ति प्राप्त कर सके और स्वातन्त्र्य की दिशा में अग्रसर हो सके। यह उपन्यासकार का उद्देश्य होना चाहिए। जब अपने उपन्यासों में इस स्वातंत्र्य की दिशा में अग्रसर होने के लिए संघर्ष करता है, तो उसका अर्थ यही होता है कि वह सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक जटिल मानवीय यथार्थ की पृष्ठभूमि में उसेग्रहण करता है और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर विश्वव्यापी मानवीय चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

सजगता से पूर्ण दृष्टि ही उपन्यासकार को मानवीय यथार्थ से सम्बद्ध करती है । वह सामान्य जन की नियति से अपने को पृथक नहीं कर सकता है । जो लोग यह समझते हैं कि उपन्यासकार की सजगता, दायित्वबोध या प्रतिबद्धता आदि प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं और सजग सामाजिक सचेतना का महत्व आधुनिकता के आगे शून्य हो गया है, वे वस्तुत: एक ऐसे भ्रम-लोक का निर्माण करते हैं जिस में मनुष्य का कोई अर्थ नहीं रह जाता और कुंठा, निराशा, भय तथा संत्रास आदि ही प्रमुख हो जाते हैं ।

प्रतिबद्धता की चर्चा करते समय प्राय: पश्चिमी विचारक सेल्डन राडमन के शब्दों को दुहरा दिया जाता है कि 'अगर किसी के लिए संघर्ष से असपृश्य रहना एकदम आवश्यक है तो वह कलाकार के लिए ।' आज अधिकांश प्रबुद्ध उपन्यासकार यह समझते हैं कि उनकी प्रतिबद्धता केवल कला के प्रति होती है, जीवन और समाज के प्रति नहीं । राजनीति, समाज-संघर्ष या ज्वलन्त समस्याओं में भाग लेना वे एक 'अपराध' या 'अवांछनीय' बात समझते हैं । इसलिए कभी व्यक्ति स्वातन्त्र्य की बात की जाती है या आस्थाहीन, दिग्भ्रमित, क्षुब्ध, अस्वस्थ और आतंकग्रस्त स्थितियों की । ऐसे उपन्यासकार अपनी प्रतिबद्धता भी इन्हीं इन्हीं चीज़ों के प्रति मानते हैं । उनके लिए प्रश्न यह महत्वपूर्ण नहीं है कि वे अपनी कृतियों में समाज विरोधी तत्वों को ही प्रश्रय दे रहे हैं और समाज का कोई वास्तविक चित्र उपस्थित करने और एक स्वस्थ सामाजिक दृष्टि का निर्माण करने में असमर्थ हैं ।

यों प्रतिबद्धता का प्रश्न कोई नया नहीं है । अपने समाज, जीवन, राजनीति, धर्म और स्वस्थ, आस्थापूर्ण दृष्टिकोण के प्रति तुलसीदास कदाचित सबसे ज्यादा प्रतिबद्ध थे, लेकिन आधुनिक सन्दर्भों में इसका प्रश्न सबसे पहले ज्यां पाल सार्त्र ने उठाया । द्वितीय महायुद्ध में फ्रांस जर्मनी से पराजित हो गया था । उसकी भयंकर विभीषिका, युद्ध में मनुष्य की असहाय स्थिति, अनिश्चय एवं आतंक की भावना तथा विघटित मानव मूल्यों ने नितान्त नवीन समस्याएं उत्पन्न कर दी थीं । अपने उपन्यास 'द एज आफ रीजन' में उसने इस प्रश्न को अस्तित्व के साथ जोड़ दिया है और मैथ्यू नामक नायक पात्र के माध्यम से संघर्षों,

समस्याओं एवं द्वन्द्व आदि से अलग रहने का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया । वह आत्म-केन्द्रित हो जाता है । और कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं होना चाहता । उसका मत है कि केवल एक उद्देश्य मात्र के लिए विवेकहीन ढंग से प्रतिबद्ध होने का अभिप्राय ऐसे विचार के प्रति आग्रहशील होना है, जिसे आत्मा पसन्द और स्वीकार न करे ।[१] लेकिन १९४५ में फ्रांस की पराजय में निर्दोष व्यक्तियों की भयानक विनाशलीला, संहार और पीड़ा से उसे एक नई दृष्टि प्राप्त हुई और उसने प्रतिबद्धता के प्रश्न पर अपने को अधिक तर्कसम्मत बनाते हुए कहा[२] कि किसी भी परिस्थिति में तटस्थ रहना संभव नहीं । यदि हम पत्थर की तरह प्रयासहीन और मौन हों, तो यह निष्क्रियता ही एक न एक कर्म स्वीकार कर ली जाएगी ।

आधुनिक युग में प्रतिबद्धता का अर्थ उत्तरदायित्वपूर्ण अस्तित्व है, क्योंकि हर व्यक्ति की नियति दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है । प्रत्येक व्यक्ति अपने युग की मानव नियति से जुड़ा रहता है और अपनी समस्याओं, सामाजिक संघर्ष एवं परिवर्तन-शीलता के नए सन्दर्भों के प्रति प्रतिबद्ध रहता है । अतः उपन्यासकार के लिए सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से प्रतिबद्ध रहना अनिवार्य होता है क्योंकि तभीवह मानव मूल्यों को उचित परिप्रेक्ष्य में देख पाता है । प्रतिबद्धता का अर्थ किसी मतवाद, दल, सम्प्रदाय या राजनीतिक व्यवस्था से जुड़ा नहीं होता है । वह प्रतिबद्धता नहीं पक्षधरता है । मानव नियति से संबंधित हर समस्या को वस्तुनिष्ठ ढंग से मूल्यांकित करने का प्रयास ही प्रतिबद्धता है । इस सम्बन्ध में एक विचारक[३] का यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है कि वह लेखक जो प्रतिबद्ध है, जो प्रतिबद्धता के लिए व्यक्तिगत कर्म स्वीकार करताहै, समाज का होता है, राज्य का नहीं, उसे किसी रूढ़ आदेश को स्वीकार नहीं करना चाहिए । चाहे वह जदानोव की ओर से आता हो या मैकार्थी की ओर से । वह लेखक जो ईमानदारी से अपनी कार्य चेतना से प्रतिबद्ध है और अपने प्रति सच्चा होने की इच्छा रखता है, अवश्य मानव की सेवा में या अपनी जाति के साथ रहे ।

----

१. ज्यां पाल सार्त्र : द एज आव रीजन (१९६०), लन्दन, पृष्ठ ५६ ।

२. ज्यां पाल सार्त्र : सिचुएशन्स (१९६३), न्यूयार्क, पृष्ठ २६-२७ ।

३. इगनाजियो साइलान : संदर्भ, मई १९६५ में प्रकाशित एक निबन्ध ।

अत: स्पष्टत: कहा जा सकता है कि उपन्यासकार के दायित्वबोध एवं सजगता का आत्म परीक्षण ही प्रतिबद्धता है, जो उपन्यासों को हमारे जीवन के साथ जोड़ता है और हमारी आस्था, कर्म-भाव, सतत संघर्ष एवं जागरूकता को सशक्त बनाता है। इस तरह की प्रतिबद्धता प्रेमचन्द के 'गोदान', अमृतलाल नागर के महाकाल' तथा 'बूंद और समुद्र', फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' तथा परती परिकथा', 'नरेश मेहता के 'यह पथ बंधु था', श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी', सुरेश सिनहा के 'सुबह अंधेरे पथ पर' तथा 'पत्थरों का शहर' तथा शिवप्रसाद सिंह के 'अलग-अलग वैतरणी' आदि अनेक उपन्यासों में प्राप्त होती है। इस प्रकार उपन्यासकार के लिए प्रतिबद्धता का अभिप्राय उसकी अप्रतिहत आस्था और जिजीविषा से है, जो किसी प्रकार की कुंठा, नैराश्य, अनास्था, संत्रास एवं भय से निस्तेज नहीं होती। ऊपर के उपन्यास इसके प्रमाण हैं जिनमें प्रतिबद्धता का सही एवं स्वस्थ रूप प्राप्त होता है।

उपन्यासकार अपने समय की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से निरपेक्ष नहीं रह सकता। उसकी प्रतिबद्धता की यह मांग है कि वह अपने समय की आवश्यकताओं एवं समाज की अपेक्षाओं की अवहेलना न करे। अत: सामाजिक संचेतना से ही गहरे जुड़ा हुआ प्रश्न प्रतिबद्धता का है, जो उपन्यासों के सम्बन्ध में अधिक विचारणीय हो जाता है।

इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने के पश्चात् सामाजिक संचेतना का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है और उसके वर्गीकरण का आधार भी प्राप्त हो जाता है। यह तो स्पष्ट किया ही जा चुका है कि सामाजिक संचेतना का अर्थ न तो व्यक्ति की उपेक्षा करना है और न समाज की। इसका अभिप्राय दोनों के बीच संतुलन स्थापित कर मानवीयता को उजागर करना है। उपन्यासकार जहां एक ओर अपनी सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं करता, वहां व्यक्ति की आन्तरिकता को भी स्पष्ट करता है। इसलिए वह व्यक्ति की विभिन्न समस्याओं की, सामाजिक संदर्भों की परख करता है, जिनके माध्यम से व्यक्ति को वह समाज का अधिक उपयोगी सदस्य बना सके और अपनी वैयक्तिकता सुरक्षित

रखते हुए भी सामाजिकता को अधिक सशक्त बनाने में दिशा स्पष्ट कर सके।

इस स्पष्टीकरण के साथ सामाजिक संचेतना का वर्गीकरण किया जा सकता है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह वर्गीकरण आलोच्य-काल के उपन्यासों में प्राप्त सामाजिक एवं वैयक्तिक समस्याओं के आधार पर ही किया गया है। सामाजिक संचेतना के अन्य अनेक प्रतिमान हो सकते हैं, परन्तु प्रस्तुत विषय की दृष्टि से वे यहां उल्लेखनीय नहीं हैं क्योंकि उपन्यासों में उनके रूप नहीं प्राप्त होते या जो प्राप्त होते भी हैं,उनका समाहार इस वर्गीकरण में किसी-न-किसी शीर्षक के अन्तर्गत हो गया है। अत: सामाजिक संचेतना के विभिन्न प्रतिमानों का इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है --

- व्यक्ति और समाज।
- परिवार के विविध रूप।
- नारी और सामाजिक सन्दर्भों के बदलते मानदण्ड।
- आर्थिक विसंगतियां और मानव सम्बन्धों के नए धरातल।
- राजनीतिक परिवेश और नवीन सामाजिक ढांचा।
- परिवर्तित परिस्थितियां तथा मानव-मूल्य और मर्यादा।
- धर्म सम्प्रदाय और समाज।

आगे के अध्यायों में आलोच्य-काल के उपन्यासों के सन्दर्भ में सामाजिक संचेतना के इन्हीं प्रतिमानों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

0000

४ : तीसरा अध्याय : व्यक्ति और समाज

- समाज की सत्ता
- समाज के विविध रूप
- अछूतोद्धार आन्दोलन तथा सामाजिक खानपान
- मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण तथा समाज के प्रति विद्रोह
- वैयक्तिक दृष्टिकोण और व्यक्ति की सत्ता
- नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रश्न
- आस्थाहीन बौद्धिकता

व्यक्ति और समाज प्राय: विचारकों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय रहे हैं। व्यक्ति और समाज के मध्य सम्बन्धों का आधार क्या हो, व्यक्ति की सत्ता सर्वोपरि हो या समाज की, इन प्रश्नों पर विद्वानों में प्राय: मतभेद रहा है। व्यक्तियों से ही समाज बनता है। अत: दोनों के मध्य अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। व्यक्तिवादी और अस्तित्ववादी विचारधारा के सूत्रपात के बाद इस प्रश्न पर नए सिरे से विचार किया जाने लगा और यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाने लगी कि समाज की सत्ता नगण्य है और केवल व्यक्ति याउसका वैयक्तिक स्वातंत्र्य ही प्रमुख है। हिन्दी उपन्यास साहित्य में इन विचारधाराओं के आगमन के पूर्व समाज की सत्ता ही प्रमुख समझी जाती थी। हिन्दी उपन्यासों का आरम्भ ही समाज सुधार की भावना से हुआ था और उसने प्रारम्भ से ही व्यक्ति के स्थान पर समाज को सर्वोच्च स्वीकार कर व्यक्ति के लिए नैतिक दिशाएं स्थापित कीं। प्रेमचन्द ने अपने आगमन के साथ ही इसे अधिक सशक्त एवं व्यापक ढंग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की। वे व्यक्ति की एकांगिता से त्रस्त न होकर सम्पूर्ण समाज को उसकी जटिल वास्तविकता के साथ चित्रित करने के प्रति आग्रहशील थे। उन्होंने व्यक्ति की मानसिक गहराइयों में पैठकर मन-सत्यों का मार्मिक उद्घाटन तो किया, किन्तु उसे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से कभी महत्व न दिया क्योंकि वैयक्तिक स्वातन्त्र्य उनकी दृष्टि में समाज को नगण्य बनाने एवं उसको विघटित बनाने की प्रक्रिया है।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रेमचन्द ने व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को पूर्णतया एकांगी दृष्टिकोण से स्वीकार किया है। वास्तव में वे व्यक्ति को उसकी वैयक्तिक संकीर्णताओं से समाज को मुक्त करके समाज-कल्याण की दिशा में प्रवृत्त करना चाहते थे। जब उपन्यास व्यक्ति निरपेक्ष या केवल वैयक्तिक स्वातंत्र्य एवं अहं तक ही सीमित हो जाते हैं तो व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी वे जीवन के लिए मूल्यहीन हो जाते हैं। अत: व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी उपन्यासों के लिए यह आवश्यक है कि वह समाज-मंगल की भावना से ओतप्रोत हो। क्योंकि व्यक्ति की निर्बाध वैयक्तिकता व्यष्टि

एवं समष्टि दोनों के लिए हितप्रद नहीं हो सकती । व्यक्ति की चेतना के निर्माण में समाज की सामूहिक शक्तियां योगदान करती हैं । इसलिए समाज की उपेक्षा नहीं की जा सकती । यह भी सत्य है, किन्तु उसका चित्रण समाज हित के सन्दर्भ में ही किया जाना अपेक्षित है ।

इसे इस दृष्टि से भी स्पष्ट किया जा सकता है कि समाज-निरपेक्ष व्यक्ति का महत्व आखिर क्या है । उसकी समस्याएं, कठिनाइयां, संघर्ष, आस्था-निराशा सभी कुछ समाज की परिधि में ही सम्भव है । व्यक्तित्वहीन व्यक्ति महत्वशून्य होता है । व्यक्तित्व का विकास सामाजिक सम्बन्धों से होता है । व्यक्ति के भीतर इन मानसिक एवं शारीरिक गुणों के संगठन से व्यक्तित्व का निर्माण होता है, जो वातावरण के साथ उसके सामंजस्य का निर्धारण करते हैं । प्रत्येक व्यक्ति को दैनिक जीवन में अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के दौर से गुजरना पड़ता है और यही सम्बन्ध इस सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण को जन्म देते हैं, जिनके साथ अपना महत्वपूर्ण सामंजस्य स्थापित कर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता है । जब वह समाज-निरपेक्ष हो जाता है, तो उसके सामाजिक सम्बन्ध भी समाप्त हो जाते हैं और उसके व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया भी अवरुद्ध हो जाती है । ऐसी स्थिति में वह अपना सारा अर्थ खो देता है । अत: व्यक्ति और समाज दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं और दोनों को अलग करके नहीं देखा जा सकता है ।

व्यक्ति की सार्थकता वास्तव में विकासशील होने में है । अपने विकास के लिए वातावरण को अनुकूल बनाने के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है । यह वातावरण समाज से ही सम्बन्ध होता है । समाज मानव सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है अत: कोई भी व्यक्ति अपने को समाज से पृथक कर गति-शून्य ही हो सकता है, विकासशील नहीं । उसका हित समाज से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होता है, जिसकी वह उपेक्षा नहीं कर सकता । जैसाकि ऊपर कहा गया है व्यक्ति का टूटना-बनना समाज की सीमाओं में ही होता है । समाज की अवनति होती है तो व्यक्ति की भी । व्यक्ति के सामाजिक वातावरण का निर्माण उसके विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों से होता

है । एक सुविज्ञ ने लिखा है[१] कि व्यक्ति अपनी सुरक्षा और विकास के लिए समाज का संगठन करता है और तदर्थ एक मर्यादा स्थापित कर, व्यक्ति का नियमन भी करता है । यदि समाज अत्यधिक मर्यादा-मोह के कारण व्यक्ति की सहज स्वतन्त्रता का अपहरण कर उसके स्वत्व को भुठलाता है, तो वह अपने उद्देश्य से विवर्जित होकर व्यक्ति के विकास-पथ का साधक न रहकर, बाधक बन जाता है । दूसरी ओर यदि व्यक्ति आत्मरत हो अपनी स्वच्छन्दता के मद में सामाजिक नियमों, मर्यादाओं को ठुकराता चलता है, तो उसकी यह उच्छृंखलता सभी के लिए हानिकर है । इन दोनों स्थितियों में समाज तथा व्यक्ति के मध्य उपयुक्त संतुलन, समन्वय स्थापित करने से ही मानव जीवन सुखी होगा ।

● समाज की सत्ता

व्यक्ति और समाज का संघर्ष चाहे जिस रूप में भी उपन्यासों के माध्यम से चित्रित किया गया हो, एक बात निर्विवाद है कि हिन्दी उपन्यासों का आविर्भाव समाज की सत्ता को स्वीकार करके ही हुआ है । श्रद्धानन्द फिल्लौरी और लाला श्रीनिवासदास से लेकर प्रेमचन्द तक ने समाज की सत्ता को कभी नगण्य नहीं स्वीकारा और बराबर ही सामाजिक सचेतना को कलात्मक अभिव्यक्ति देने की चेष्टा करते रहे । उनके बाद के उपन्यासकारों में भी अधिकांश ने इसी भावना को प्रश्रय दिया । यह नहीं है कि आरम्भिक उपन्यासकारों या प्रेमचन्द आदि ने व्यक्ति की भावना की उपेक्षा की । उन्होंने व्यक्ति को भी महत्व दिया, परन्तु कभी भी व्यक्तिवादी भावना का पोषण नहीं किया । इन उपन्यासकारों की धारणा थी कि उपन्यासों में यदि व्यक्ति की अपनी वैयक्तिक आकांक्षा, संकीर्ण विचारधारा एवं कुण्ठा-वासना ही महत्वपूर्ण हो उठे, तो वे मूल्य-रहित हो जाएं । जब समाज मंगल की भावना की उपेक्षा करके व्यक्ति की असीम वैयक्तिकता को महत्व प्रदान किया जाता है, तो वैसे उपन्यास हमारे लिए अपनी सारी उपयोगिता खो देते हैं ।

---

१. डा० शशिभूषण सिंहल : हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां (१९७०), आगरा, पृ० ५६ ।

समाज की सत्ता को व्यक्ति-मंगल की दृष्टि से उपयोगी बनाकर जीवन तथा समाज में अधिकाधिक सन्तुलन एवं सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है और तभी उपन्यास मानव-जीवन को विकासोन्मुख बनाने में प्रेरणादायक हो सकते हैं । समाज की सत्ता स्वीकार करके ही मानव हित एवं समाज मंगल की भावना की कल्पना की जा सकती है । प्रारम्भ से ही हिन्दी उपन्यासकारों ने इस धारणा को महत्वपूर्ण समझा और उसी के अनुरूप उपन्यासों की रचना की ।

प्रारम्भिक उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२ ई०) ने कलाप्रधान जासूसी एवं ऐयारी प्रवृत्तियों के साथ-साथ सामाजिक प्रवृत्ति पर भी विशेष ध्यान दिया और अपने उपन्यासों में उन्होंने समाज की सत्ता को स्वीकारा है । अपने उपन्यासों में यत्र-तत्र उन्होंने मध्यवर्गीय समाज पर भी प्रकाश डाला है । गोस्वामी जी के उपन्यासों में समाज की सत्ता का वर्णन अलग से खोजना व्यर्थ होगा । उन्होंने मुख्य रूप से अन्य विषयों के साथ चलते-चलते समाज का भी वर्णन कर दिया है । प्राय: सभी उपन्यासों में उन्होंने स्त्रियों के सदाचार एवं दुराचार पक्षों को लेकर समाज पर उनके पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण करके अपनी उपदेशात्मक दृष्टि का ही परिचय दिया है । एक उपन्यास[१] में एक दुराचारिणी विधवा की मृत्यु पर वे एक आदर्श पात्र के मुख से कहलाते हैं --"डाक्टर साहब की बातें सुनकर बाबू साहब तो बड़े तरद्दुद में पड़ गए पर मैं बहुत ही खुश हुआ क्योंकि ऐसी-ऐसी पापिनी स्त्रियों से यह संसार जितनी जल्दी खाली हो, उतना ही अच्छा । कारण इसका यह है कि देश और समाज को रसातल भेजने के हेतु ऐसी-ऐसी कुलटा स्त्रियां ही हैं, न कि हरिहर सरीखे दुराचारी पुरुष, क्योंकि यदि स्त्री भली हो तो उसे कोई भी नारकी पुरुष नहीं बिगाड़ सकता । इस विषय में गोस्वामी तुलसीदास ने बहुत ठीक कहा है - "टरे न शम्भु सरासन कैसे, कामी बचन सतीमन जैसे ।" वे वास्तव में समाज को सनातनी वैष्णव विचारधारा के अनुरूप, देखना चाहते थे और कल्पना-मनोरंजन आदि से अपने उपन्यासों में उन्हें जहां भी अवकाश मिला है, इसका उपदेश उन्होंने अवश्य दिया है ।" गोस्वामी जी

----

१. किशोरीलाल गोस्वामी : माधवी - माधव वा मदन-मोहिनी (१९०९), पृ० ४७

पक्के सनातनधर्मी थे, इस कारण से उनका दृष्टिकोण यथेष्ट मात्रा में परम्परागत और रूढ़ था। अंग्रेजी सभ्यता से प्रभावित व नवोन्मेष की भावना और नवीन प्रगतिशीलता की लहर से वे अपना सामंजस्य कर पाने में एक प्रकार से असमर्थ ही रहे थे। नारी शिक्षा के वे प्रबल विरोधी थे[1] लेकिन जहां तक उपन्यासों में समाज का सत्ता को स्वीकार करने का प्रश्न है, यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि सर्वप्रथम उन्होंने ही उपन्यासों के माध्यम से सामाजिक संचेतना का स्वरूप प्रस्तुत किया।

किशोरीलाल गोस्वामी ने `कटे मूंड की दो-दो बातें` (१६१४), `गुलबहार वा आदर्श भ्रातृस्नेह` (१६१६), अंगूठी का नगीना` (१६१८) तथा `गुप्त गोदना` (१६१८) आदि उपन्यासों में यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

गोपालराम गहमरी (१८६६-१६४६) ने यद्यपि जासूसी उपन्यास ही अधिकांश रूप में लिखे हैं, पर उनके उपन्यासों में भी अवकाश मिलने पर समाज की सत्ता का चित्रण प्राप्त हो जाता है। `मेम की लाश` (१६१४) उपन्यास की भूमिका में उन्होंने उपन्यास को `जगत् का भला करने की चेष्टा` स्वीकार करते हुए कहा है, अच्छे और सदाचारी पात्रों का शुभ परिणाम देखकर पाठक अपना आचरण सुधारें और कर्तव्य स्थिर करें। दुराचारिणी, कुपथगामी लोगों की दीन-हीन और दुखपूर्ण दशा विचार कर अवगुणों को त्यागे। यही मंगल उद्देश्य लेकर लिखना अच्छे औपन्यासिक और नाटककार का अभिप्राय होता है। `उनके उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य कल्पना एवं मनोरंजन है, पर व्यक्ति की अपेक्षा समाज को महत्व देकर सुधार एवं आदर्श की स्थापना करने की ओर भी उन्होंने कहीं कहीं ध्यान दिया है।

मेहता लज्जाराम शर्मा (जन्म १८६३) के उपन्यासों में समाज की सत्ता का[2] चित्रण अवश्य ही कुछ स्पष्ट रूप में हुआ है। अपने एक उपन्यास की भूमिका में उन्होंने

----

१. डा० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास (१६६४), दिल्ली, पृ० ६३।

२. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श दम्पति (१६०४), इलाहाबाद, भूमिका।

लिखा है कि 'उपन्यास अवश्य ही मनोरंजन के लिए है, परन्तु मेरा सिद्धान्त है कि इसके साथ-साथ पाठक-पाठिकाओं को किसी न किसी तरह अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिए। यह केवल मेरा ही सिद्धान्त नहीं है, वरन् जो लोग संसार रूपी महती ज्ञानशाला में भगवान दत्तात्रेय जी की तरह नित्य के अनुभव से शिक्षा गृहण नहीं कर सकते हैं, उन्हें नित्य की बुरी-भली घटनाओं का अनुभव कराकर शिक्षा देने के लिए ही प्राचीन विद्वानों ने दृश्य काव्य के नाम पर नकली संसार की सृष्टि की है। सृष्टि अवश्य की है, परन्तु नाटक के अभिनय रूपी नकली संसार से अनुभव लेने को सब ही लोगों को सुविधानहीं होती है, इसलिए श्रव्य काव्य है। इसी का उपन्यास भी एक अंग है। यद्यपि उपन्यास आजकल बिलकुल कल्पित वा ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर लिखे जाते हैं और इसलिए उनकी कथा कोई प्रमाणभूत नहीं मानी जाती है। परन्तु मैं मानता हूं और बड़े बड़े विद्वान मानते हैं कि उपन्यास समाज का चित्र है और आज उपन्यास की जो कल्पित कथा मानी जाती है, वही समय पड़ने पर इतिहास बन जाती है। इसलिए उपन्यास ऐसा बनना चाहिए, जिससे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो। उन्हें पढ़ने से पाठकों के चरित्र सुधरें और वे दुराचारों से छूटकर सदाचार में प्रवृत्त हों। केवल इतना ही नहीं, वरन् मैं मानता हूं कि आजकल के उपन्यास लेखक होनहार प्रजा के चरित्र का खाका खींच रहे हैं। 'जुझारतेजा' (१६१४) तथा 'आदर्श हिन्दू' (१६१५) में शर्मा जी का यही दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है।

लेकिन शर्मा जी ने समाज का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त प्राचीन है। बिना उपयोगिता या अनुपयोगिता का निर्णय किए उन्होंने प्राय: सभी परम्पराओं का यहां तक कि पर्दा-प्रथा एवं वेश्यावृत्ति तक का ठोस समर्थन किया है। उनका समाज रूढ़ियों से लदा हुआ है, आडम्बरों से बोझिल है और प्रगतिशीलता से पूर्णतया वंचित है। उन्होंने समाज की सत्ता को इस सीमा तक स्वीकार कर लिया है कि व्यक्ति का किंचित मात्र भी महत्व नहीं रह गया है। वह मृत प्राय: सा हो गया है। 'उनके उपन्यासों की समस्या प्रमुख रूप से हिन्दू परिवारों से सम्बद्ध है। वे पक्के सनातनधर्मी थे और उसी नजरिए से

देखने पर उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा था कि पश्चिमी सभ्यता के संस्पर्श से एवं अंग्रेजी परम्पराओं के अन्धानुकरण से अनेक सामाजिक विकृतियां उत्पन्न हो रही हैं, जिससे हिन्दू परिवार और साथ ही भारतीय समाज का पतन हो रहा है। वे समाज को पतन की इस स्थिति से बचाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने परम्पराओं एवं प्राचीन आदर्शों तथा मर्यादाओं को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न उपन्यासों के माध्यम से किया। वे लोगों को उनके गौरव का स्मरण कराकर सामाजिक विकृतियों की ओर उनकी आंखें खोलना चाहते थे और उन्हें ऐसी दिशा में ले जाना चाहते थे, जो परम्परागत थी। जहां आदर्श ही आदर्श थे, जो परम्परागत नवोन्मेष की भावना एवं प्रगतिशीलता के लिए कोई स्थान नहीं था।[१]

बाबू ब्रजनन्दन सहाय (जन्म १८७४) ने भी शर्मा जी की ही भांति अपने उपन्यासों में समाज का वही रूप ग्रहण किया है। 'अरण्यबाला' (जून १९१५) का नायक मुकुन्ददेव सोचता है कि, "इतना ज्ञान उपार्जन करने पर भी वह संसार के दूसरे व्यक्तियों के सदृश धन-धान्य से सम्पन्न क्यों नहीं होता। संसार में कितने लोग बिना परिश्रम किए संसार का अनन्त सुख भोग रहे हैं, किन्तु इतना उद्योग करने पर भी उसे सांसारिक सुख क्यों नहीं मिलता?"[२] इस उपन्यास की नायिका ब्रजमंजरी भी श्रम की महत्ता को स्वीकारती है और आर्थिक स्वावलम्बन में अपनी समस्याओं का समाधान खोजकर समाज को नई दिशा देने की चेष्टा करती है।

इन आरम्भिक उपन्यासकारों का मुख्य उद्देश्य समाज का कोई यथार्थ चित्र खींचकर व्यक्ति और समाज की समस्याओं का समाधान खोजना न था, पर लेखकगण जनता को अधोगति के गर्त से निकालकर उचित मार्ग पर लाना चाहते थे। इसलिए पाप और पुण्य के संघर्ष की कहानी कहने वाली कथा के प्रारम्भ में कालीदास, हर्ष, भारवि, सुभाषित रत्नावली, रहिमन विलास आदि के नीति और धर्म विषयक

----

१. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ ९२।

२. ब्रजनन्दन सहाय : अरण्यबाला, (१९१५), काशी, पृष्ठ १।

अवतरण भूमिका के रूप में उन्होंने उद्धृत किए हैं। लेखकों को भारतीय जीवन का ह्रास देखकर सच्ची मानसिक पीड़ा का अनुभव होता था। कथानक चाहे सामाजिक हो या ऐतिहासिक, वे समाज के सामने एक ऐसा आदर्श रखना चाहते थे, जिससे वह अपना जीवन सुधार सके।[1] इन उपन्यासों में समाज की सत्ता या सामाजिक संचेतना के विविध प्रतिमानों का वह रूप खोजना व्यर्थ होगा, जो प्रेमचन्द एवं बाद के उपन्यासकारों की रचनाओं में लक्षित होता है। इन उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य कल्पना एवं मनोरंजन का उपयोग करके इस विधा को लोकप्रिय बनाना था और उनका महत्व ऐतिहासिक सन्दर्भ की दृष्टि से है। लेकिन जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि यत्र-तत्र लेखकों ने समाज का भी ध्यान रखा है और क्षीण रूप में ही सही, सामाजिक संचेतना का आभास अवश्य है।

प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) के आगमन के साथ हिन्दी उपन्यासों में समाज की सत्ता का प्रौढ़ एवं सुविंतित रूप दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने समाज के माध्यम से व्यक्ति का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने उसकी अलग से कोई सत्ता न स्वीकारकर उसे समाज का अविभाज्य अंग स्वीकार किया है और सामाजिक दृष्टि से ही उसका मूल्यांकन किया है। उनके अनुसार, "हमारे पथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति रूप में उपयोगी है, और न समुदाय रूप में।"[2] इसे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अंग रूप में देखता है।"[3] वे सीधी-सादी जिन्दगी और जीवन के उच्च लक्ष्य के पक्षपाती थे क्योंकि "मनुष्य की भलाई या बुराई की परख उसकी सामाजिक या असामाजिक कृतियों में है। जिस काम से मनुष्य-समाज की क्षति पहुंचती है, वह पाप है। जिससे उसका उपकार होता है वह पुण्य है। सामाजिक उपकार

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य(१९४८),इलाहाबाद पृ० ४९८ २१४

२. प्रेमचन्द : कुछ विचार (१९४६), बनारस, पृ० ११।

३. वही, पृ० १६।

या उपकार से परे हमारे किसी कार्य का कोई महत्व नहीं है और मानव जीवन का इतिहास आदि से इसी सामाजिक उपकार की मर्यादा बांधता चला आया है।' समाज की सत्ता को महत्व देने की उनकी यह प्रवृत्ति उनके सभी उपन्यासों में स्पष्टतया देखी जा सकती है।

प्रेमचन्द समाज का एक नया निर्माण करना चाहते थे। 'वरदान' से लेकर 'गोदान' तक प्राय: सभी उपन्यासों में उन्होंने एक ऐसे प्रगतिशील समाज की कल्पना की, जिसमें सामाजिक असमानता न हो, किसी का शोषण न हो और आर्थिक विषमताओं के कारण किसी के अधिकारों का हनन न हो। एक स्थान पर उन्होंने कहा है - 'मेरा सिद्धान्त है कि मनुष्य को अपनी कमाई खानी चाहिए। यही प्राकृतिक नियम है। किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों की कमाई को अपने जीवन-वृत्ति का आधार बनाए।... भूमि उसकी है जो उसको जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती हो ही नहीं सकती। इस प्रथा के कारण देश की कितनी आत्मिक और नैतिक अवनति हो रही है, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। हमारे समाज का वह भाग जो बल, बुद्धि, विद्या में सर्वोपरि है, जो हृदय व और मस्तिष्क के गुणों से अलंकृत है, केवल इसी प्रथा के वश आलस्य, विलास और अविचार के बन्धनों में जकड़ा हुआ है।'[1] एक अन्य स्थान पर भी उन्होंने लिखा है, 'जिस समाज में गरीबों के लिए स्थान नहीं, वह उसी घर की तरह है, जिसकी बुनियाद न हो।.... मानवता हमेशा कुचली नहीं जा सकती है... यह जागृति का युग है। जागृति अन्याय को सहन नहीं कर सकती है। जागे हुए आदमी के घर में चोर और डाकुओं की गति नहीं।'[2] इस प्रकार प्रेमचन्द ने न व्यक्ति को उपेक्षित किया न समाज को। वे वस्तुत: समाज की सत्ता को सर्वोपरि मानते हुए समाज की मंगल की भावना का प्रसार करना चाहते थे, ताकि

---

१. प्रेमचन्द : प्रेमाश्रम (१९२२), बनारस, पृष्ठ १४२।

२. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१९३२), बनारस, पृष्ठ २८७-८८।

व्यक्ति अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके और समानता के आधार पर आगे बढ़ सके ।

जयशंकर प्रसाद (१८८६-१९३७) ने समाज की सत्ता को नगण्य तो नहीं समझा है, पर उसे व्यक्ति की तुलना में महत्वपूर्ण भी नहीं माना है । लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था । व्यक्ति को महत्व देते हुए भी वे पश्चिम की व्यक्तिवादी भावना से प्रभावित न थे । वस्तुत: वे भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओं से समन्वित समाज का ऐसा रूप देखना चाहते थे, जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव कर सके और समाज की रूढ़ियां, आडम्बर तथा पिछड़ी प्रवृत्तियां उसके विकास का हनन न कर सकें । वे व्यक्ति की निरंकुशता के पक्षपाती नहीं थे । `कंकाल` (१९२९) तथा `तितली` (१९३४) में उनका यही दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है ।

जैनेन्द्रकुमार (१९०५-) का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है । उन्होंने समाज का कोई महत्व स्वीकार नहीं किया है । इस सम्बन्ध में एक स्थान पर उन्होंने लिखा भी है[१] कि `आप समाज के बारे में मुझसे न पूछिए । मैं उसे जानता ही नहीं । वह धारणात्मक संज्ञा है । वस्तु या तत्व की दृष्टि से वाचक और बोधक संज्ञा नहीं है । इसलिए समाज है तो मेरे लिए वह अपनी बीवी या अपने पड़ोसी से शुरू हो जाता है । अन्यथा मुझे कहीं उपलब्ध ही नहीं हो पाता । पड़ोसी को छोड़ दें, तो समाज की कोई स्थिति बनती है ऐसा भी मुझे नहीं लगता । तब यदि वह है, तो इसी अर्थ में कि जैसे देवता होता है - है भी, नहीं भी है, मैं सुधार और संशोधन की प्रेरणा को स्वीकार नहीं करता । मुझे वह स्वार्थ की भाषा जान पड़ती है । स्वार्थ से मुझे चिढ़ नहीं लेकिन वह हो, तो उस पर नकाब डालने की क्या जरूरत है ?` जैनेन्द्रकुमार ने `परख` से `मुक्तिबोध` तक अपने सभी उपन्यासों में एक प्रकार से समाज का मखौल उड़ाने की ही चेष्टा की है और व्यक्ति को सर्वोपरि माना है । उन्होंने व्यक्ति का जो चित्रण भी

----

१. जैनेन्द्रकुमार : साहित्य का श्रेय और प्रेय (१९५३), दिल्ली, पृ० १२ ।

किया है, वह समाज की त्राण रेखा से भी कोई सामंजस्य नहीं रखता । जिस सीमा तक उन्होंने व्यक्ति की स्वतंत्रता का उद्घोष किया है, वह समाज कदाचित् पूर्णतया अनुशासनहीन, मूल्यहीन होगा, जहां यौन-स्वतन्त्रता सर्वप्रमुख होगी ।

इलाचन्द्र जोशी यद्यपि प्रारम्भ में फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर व्यक्ति की काम ग्रन्थियों एवं आन्तरिक कुंठा का मनोविश्लेषण करने में ही संलग्न रहे, पर बाद के उपन्यासों की पृष्ठभूमि सामाजिक है और 'जहाज का पंछी' 'सुबह के भूले' तथा 'ऋतु चक्र' आदि उपन्यासों में उन्होंने व्यक्ति की अपेक्षा समाज की सत्ता को भी महत्व दिया है । 'जोशी जी के अनुसार यह व्यक्ति का अहंभाव ही वर्तमान पूंजीवादी संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता है । व्यक्ति में अहं की आज प्रबलता है और वही व्यक्ति की सारी गतिविधियों का केन्द्र है । इस भावना को सामन्ती युग ने धरोहर के रूप में सौंपा था, जिसे पूंजीवाद ने अधिक पुष्ट एवं सशक्त किया है । बुद्धिजीवी मध्यवर्गीय समाज आज इन्हीं संस्कारों के परिवेश में बुरी तरह जकड़ा हुआ है । ये संस्कार उपयोगी नहीं हैं और व्यक्ति को विकसनशील बनाने एवं सहज गति प्राप्त करने में अवरोधक हैं या इनका विकास सरल नहीं है । पर इन मान्यताओं का, जिन्हें पूंजीवादी संस्कृति ने हमें प्रदान किए हैं, जबर्दस्त विरोध होना चाहिए और उन्हें समूल नष्ट कर व्यक्ति को अरूप स्थिति एवं कुण्ठाग्रस्त परिस्थितियों से मुक्त होने का प्रयास होना चाहिए ।'[1] 'अपने एक उपन्यास में स्वयं जोशी जी ने लिखा भी है[2] कि, 'आज का मानव न स्वयं अपने को समझ पा रहा है, न दूसरे को समझना चाहता है । प्रत्येक सम्पन्न व्यक्ति बाहर से भरा-पूरा रहने पर भी अपने निपट संकीर्ण अहं में डूबा रहने के कारण अपने भीतर किसी एक अनन्त हाहाकार भरे अस्पष्ट प्रभाव का अनुभव कर रहा है और प्रत्येक अकिंचन व्यक्ति सारे जीवन को ही अभावमय, अर्थहीन और अनावश्यक मानकर जहां तक सामर्थ्य

---

१. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ ३६८ ।
२. इलाचन्द्र जोशी : जहाज का पंछी (१९५५), दिल्ली, पृष्ठ ५९ ।

है, उसके भार को किसी तरह ढोता चला जा रहा है । बीच वाले व्यक्ति प्रतिक्षण जीवन और मृत्यु के झूले में झूलते हुए परस्पर विरोधी परिस्थितियों के क्रूर परिहास के शिकार बन रहे हैं । सर्वत्र भय, संशय, अनास्था और अविश्वास का बोलबाला है और सब कहीं झूठ और ढोंग का राज्य छाया हुआ है । सब ओर जीवन अरक्षित और अव्यवस्थित है । सबके मन में अणु बिखरकर छितरा गए हैं और विस्फोटक तत्वों से भरे हुए हैं । इस प्रकार जोशी जी ने व्यक्ति को महत्व तो प्रदान किया है, पर व्यक्तिवाद की उस सीमा तक नहीं, जहां जैनेन्द्रकुमार उसे ले जाना चाहते हैं या उसे उतनी स्वतन्त्रता देने के पक्षपाती नहीं हैं कि वह पूर्णतया निरंकुश होकर अनाचार में संलग्न हो जाए ।

भगवतीचरण वर्मा (१६०३ -   ) ने भी जैनेन्द्रकुमार की ही भांति समाज की अपेक्षा व्यक्ति का महत्व स्वीकार कर व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता का पक्ष लिया है । इसी प्रकार अज्ञेय ने भी व्यक्ति के उस रूप का चित्रण किया है जो समाज में एक प्रकार से प्राप्त नहीं होता, और यदि प्राप्त है, तो केवल अपवाद रूप में । उन्होंने समाज की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है । 'नदी के द्वीप' में रेखा और भुवन तथा 'अपने अपने अजनबी' में योके और सेलमा जिस प्रकार जीवन जीते हैं, उससे स्पष्ट होता है कि जैसे अज्ञेय को शिकायत है कि समाज क्यों है, उसका अनुशासन-नियन्त्रण क्यों है ? उस समाज की सत्ता को अज्ञेय नहीं स्वीकारना चाहते, जहां न प्रेम की स्वतन्त्रता है और न सेक्स की ।

यशपाल (१६०३ -   ) ने समाज की सत्ता को स्वीकारा है क्योंकि उनका दृष्टिकोण मार्क्सवाद से अत्यन्त प्रभावित है । उन्होंने लिखा भी है[१] कि प्रगतिशील साहित्य का काम समाज के विकास के मार्ग में आने वाली अन्धविश्वास, रूढ़िवाद की अड़चनों को दूर करना है । समाज को शोषण के बन्धनों से मुक्त करना है । कार्यक्रम में प्रगतिशील क्रान्तिकारी सर्वहारा श्रेणी का सबल साधन बनना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। काल्पनिक सुखों की अनुभूति के भ्रमजाल

----

१. यशपाल : बात-बात में बात (१६५४), लखनऊ, पृ० २७ ।

को दूर करके मानवता की भौतिक और मानसिक समृद्धि के रचनात्मक कार्य के लिए प्रेरणा देना प्रगतिशील साहित्य का मार्ग है। इसे और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है[1] कि मध्यम श्रेणी का साहित्य आत्मलिप्ती का साहित्य है। वह स्वान्त: सुखाय की बात कहकर झूठा सन्तोष करता है। उसकी परिस्थिति उसे सुख की इच्छा और कल्पना का संस्कार और अवसर तो देती है परन्तु साधन नहीं देती। इसलिए वह काल्पनिक आत्मलिप्ति में सुख पाता है। जो चाहता है वह पा नहीं सकता तो न पाने को ही सुख समझना चाहता है। वह शृंगार रस का सुख-वियोग के रूप में भोगना चाहता है। यह शृंगार रस का सुख-वियोग के रूप में भोगना चाहता है। यह उसकी भौतिक, सामाजिक परिस्थितियों में परास्त मनोवृत्ति और कल्पना है। मध्यम श्रेणी साधनहीन का वर्ग में मिलती जा रही है। परन्तु उसका परम्परागत सफेदपोशी का अहंकार शेष है। इसलिए वह ऐसे सुख की कल्पना करती है, जिसे साधनों का अभाव न बिगाड़े।... साहित्यिक व्यक्तिवाद की शरण तभी लेता है जब वह सामूहिक जीवन में संघर्ष और असुविधा देखकर मैदान से भागना चाहता है। वह अपनी और अपनी श्रेणी की महत्वाकांक्षा के पूर्ण होने की संभावना नहीं देखता तो अभाव को, वियोग को, आत्मरति को ही सुख बताने की दार्शनिकता का दम्भ करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यशपाल के अनुसार मनुष्य-समाज परम्परागत विचारधाराओं का दास नहीं है, बल्कि वह अपनी विचारधारा का निर्माता है। समाज के जीवन मे प्राय: घटने वाली घटनाओं को उपन्यास के परीक्षण-पात्र में रखकर वे दिखाना चाहते हैं कि किस प्रकार इन घटनाओं से हमारी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है या समाज के नए अनुभव कैसी नयी विचार धारा को जन्म देते हैं।

अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, राजेन्द्र यादव, फणीश्वरनाथ रेणु आदि उपन्यासकार भी समाज की सत्ता को स्वीकार कर चलने वाले लेखक हैं। अमृतलाल नागर ने एक स्थान पर लिखा है[2] कि, "जिस देश का इतिहास इतना महिमामय

----

१. यशपाल : बात बात में बात (१९५४) लखनऊ, पृ० २६।

२. अमृतलाल नागर : बूंद और समुद्र (१९५६), इलाहाबाद, पृष्ठ ६०४-५-६

है - वह देश जड़ता और गन्दगी में रहना पसन्द करते हुए आज की भयंकर अगति के रूप में आत्महत्या क्यों कर रहा है । महिपाल और भारत अपने ज्ञान और अज्ञान को लेकर एक समान हैं... सैकड़ों सदियों के रहन-सहन, रीति, बरताव और मान्यताओं को, जो आज भौतिक-विज्ञान के युग में अनुपयुक्त सिद्ध होती हैं, हमारा समाज अन्धनिष्ठा के साथ अपनाए हुए है ।... हमारे समाज में आत्मविश्वास ही नहीं रहा ।... राजनीति जिस रूप में आज प्रचलित है वह तनिक भी प्रगतिशील शक्ति नहीं है ।... जन जीवन अन्धविश्वास और भ्रान्तियों से जकड़ा हुआ है ।... इस समय तो ऐसा लगता है कि इस देश में, पृथ्वी पर, केवल व्यक्ति रहता है, समाज नहीं । व्यक्ति केवल अपने दायरे में रहता है, सोचता है और कर्म करता है । ऐसा लगता है जैसे हर व्यक्ति एक-एक द्वीप में अलग-अलग है । आज का मनुष्य अपने मन में कहीं न कहीं यह अवश्य अनुभव करता है कि वह गलत जा रहा है । इसलिए व्यक्ति अपने को नजर ओट कर हर दूसरे व्यक्ति को गलत बताता है ।... मनुष्य की यह स्थिति अप्राकृतिक है । मनुष्य का आत्मविश्वास जागना चाहिए, उसके जीवन में आस्था जागनी चाहिए ।... सुख दुख में व्यक्ति का व्यक्ति से अटूट सम्बन्ध बना रहे - जैसे बूंद से बूंद जुड़ी रहती है - लहरों से लहरें । लहरों से समुद्र बनता है - इस तरह बूंद में समुद्र समाया रहता है । व्यक्ति की सामाजिक चेतना जागकर ही रहेगी ।' इस प्रकार स्पष्ट रूप से नागर जी ने समाज की सत्ता स्वीकार की है और उनका यह दृष्टिकोण 'महाकाल' से लेकर 'सात घूंघट वाला मुखड़ा' नामक उपन्यासों में विविध रूपों में स्पष्ट हुआ है ।

फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आंचल' तथा 'परती : परिकथा' के साथ 'कितने चौराहे', 'जुलूस' तथा 'दीर्घतपा' आदि उपन्यासों में इसी भावना को स्वीकार किया है । रेणु ने एक नए समाज की कल्पना की है, जिसने स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् हुए परिवर्तनों को भी आत्मसात किया गया है, और व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों की नई दृष्टि से व्याख्या की गयी है, इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि समाज की सत्ता स्वीकारने वाले अन्य उपन्यासकारों की तुलना में रेणु ने व्यक्ति को अधिक महत्व प्रदान किया है और उसे इस रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है, ताकि व्यक्ति समाज मंगल की दिशा में बिना अपनी

वैयक्तिकता ओर अग्रसर हो सके और समाज व्यक्ति कल्याण की दृष्टि से बिना अपनी महत्ता का हनन किए स्वरूप ग्रहण कर सके ।

उषा प्रियंवदा, निर्मल वर्मा, नरेश मेहता, शिवप्रसाद सिंह, श्रीलाल शुक्ल तथा धर्मवीर भारती आदि उपन्यासकारों ने भी व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों की व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से करने की चेष्टा की है । पर इनमें से अधिकांश का दृष्टिकोण मुख्यतया व्यक्तिवादी है । उन्होंने जाने-अनजाने समाज की सत्ता को स्वीकार तो किया है, पर प्रमुख रूप से उन्होंने व्यक्ति को ही महत्व प्रदान किया है । शिवप्रसाद सिंह कृत `अलग अलग वैतरणी`, नरेश मेहता कृत `यह पथ बन्धु था`, श्री लाल शुक्ल कृत `राग दरबारी` तथा धर्मवीर भारती कृत `सूरज का सातवां घोड़ा` में समाज कीसत्ता को अवश्य ही किंचित अधिक स्पष्ट ढंग से स्वीकार किया गया है । स्वतन्त्रता के बाद उभरने वाले उपन्यासकारों में सुरेश सिनहा का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इधर जहां घोर वैयक्तिकता का स्वर अधिकांश उपन्यासकारों में प्रमुख रहा है, वहां सुरेश सिनहा का स्वर कदाचित अकेला है, जिन्होंने समाज की सत्ता को स्वीकार करके व्यक्ति को पश्चिमी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अनुसार न परखकर सामाजिक पृष्ठभूमि में मूल्यांकित किया है । इस प्रकार इनका दृष्टिकोण समाज के अनुरूप व्यक्ति का मूल्यांकन करना और व्यक्ति को एक ऐसी दिशा का निर्धारण करना है । जो मानवतावाद के अधिक निकट है । व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का निर्धारण जिस प्रकार अपनी युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में प्रेमचन्द ने किया था, उसी प्रकार बदली हुई परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करके सुरेश सिनहा ने समाज की सत्ता कोअपने उपन्यासों के माध्यम से नए आयाम प्रदान किए हैं ।

उनके एक उपन्यास[१] का पात्र कहता है, `मेरे समाजवाद का अर्थ है मानवीय होना, पूर्ण मानवीय होना । सारा समाज एक है ।सारे व्यक्ति एक परिवार

----

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर, (१९७१) इलाहाबाद ।

के अंग हैं । धर्म, सम्प्रदाय या दृष्टिकोण के आधार पर उनमें विभाजन नहीं किया जा सकता । जहां भी मनुष्य किसी प्रकार के अमानवीय तन्त्र का शिकार है और उसके खिलाफ विद्रोह कर रहा है, उसके साथ मैं प्रतिबद्ध हूं । वादों का चक्कर मिथ्या है... व्यापक सत्य सिर्फ इतना है कि हम किसी भी स्तर पर इस समाज को मानवीयता से वंचित न होने दें तथा युद्ध, घृणा, हिंसा, झूठ, और मायावी छल-प्रपंच से त्रस्त इस संसार को भय-मुक्त कर सुख और निश्चिन्त जीवन के साथ सुरक्षा प्रदान कर सकें... । इसी प्रकार उनके एक अन्य उपन्यास[1] का नायक सोचता है, 'कैसे अजीब हैं ये लोग, जो यथार्थ की भयंकरता को सामने देखते हुए भी उसकी कटुता को झुठलाना चाहते हैं । वे यह भूल जाते हैं कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में विपत्तियां ही उनकी धरोहर हैं । व्यथा, पीड़न, और घुटन की छाया उनपर आच्छादित है । जिन्दगी किसी भी क्षण कोई भी दिशा ग्रहण कर सकती है । वे टूट कर बिखर जाने के चरम बिन्दु पर हैं । उन्हें इसका कोई गुमान नहीं कि वे किस स्थिति में हैं । वे अपनी सारी आवश्यक बातें सहज-सम्भव ढंग से करना चाहते हैं । इसके लिए सारी सीमाएं तोड़ सकते हैं । निम्न मध्यवर्ग की विपदा का कदाचित् मूल कारण यही है । सुखी वह रहता है, जो विगत की असफलताओं से दिशा पाता है और वर्तमान की यथार्थता से अगत का स्वरूप समझने की चेष्टा करता है और उसी दिशा में गतिशील होता है । जो ऐसा करने में असमर्थ हैं, किसी बात के लिए उपयुक्त समय की प्रतीक्षा नहीं कर सकते, वे धर्म, भाग्य, ईमान और इन्सानियत की आड़ लेकर अपनी असफलताएं एक भ्रमित अव्यक्त एवं मृत सत्ता के नाम मढ़ कर सामाजिक रूप से निष्क्रिय ही नहीं, शक्तिहीन भी बन जाते हैं ।' इस प्रकार सुरेश सिनहा स्पष्ट रूप से समाज की सत्ता को स्वीकारते हुए समानता एवं प्रगतिशीलता की बात करते हैं ।

● समाज के विविध रूप

आलोच्य काल के उपन्यासों में हमें समाज के विविध रूप प्राप्त होते हैं । आरंभिक

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृ० ३९८ ।

उपन्यासकारों ने अधिकांश रूप में अपने उपन्यासों में समाज का वह रूप लिया है, जिसका मूलाधार धर्म है और वह भी सनातन धर्म । इन उपन्यासकारों में इतना साहस न था कि वे समाज का एक प्रगतिशील रूप उपस्थित कर सकें, जो रूढ़ परम्पराओं एवं आडम्बरों से मुक्त हो । यद्यपि इस काल में एक सर्वाधिक सशक्त जाति से भारतवासियों का सम्पर्क स्थापित हुआ था और उनकी परम्परागत चेतना को पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति ने बुरी तरह झकझोरा था । किन्तु इस काल के उपन्यासकारों ने उनका विपरीत प्रभाव ही देखा और उसी के अनुसार समाज का रूप भी प्रस्तुत किया ।

प्रेमचन्द ने समाज का जो रूप प्रस्तुत किया, वह वर्ग वैषम्य का था । एक तरफ जमींदारों, पूंजीपतियों और तथाकथित उच्च वर्ग के लोगों का समूह था, जो शोषणकर्ता के नाम से जाना जाता था । दूसरी तरफ किसानों, श्रमिकों एवं साधारण लोगों का वर्ग था, जिसे शोषित वर्ग कहा जाता था । जयशंकर प्रसाद, यशपाल, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नागर, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, शिवप्रसाद सिंह, तथा सुरेश सिनहा आदि ऐसे ही उपन्यासकार हैं जिन्होंने शोषण के विरुद्ध अपने-अपने ढंग से आवाज़ उठाई है और समाज का ऐसा रूप उपस्थित करना चाहा, जो समानता पर आधारित हो, जिसका मूलाधार मानवतावादी दृष्टिकोण हो । इस सन्दर्भ में एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य है कि इन सभी उपन्यासकारों ने समाज के जो विविध रूप वर्तमान हैं - उनका अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार व्यापक परिप्रेक्ष्य में चित्रण किया है ।

इसके ठीक विपरीत जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, उषा प्रियम्वदा तथा मोहन राकेश आदि ऐसे उपन्यासकार हैं, जिन्होंने एक प्रकार से समाज का उच्च वर्ग या सामन्ती रूप ही अपने उपन्यासों में ग्रहण किया । यह वर्ग ऐसा है जिसे न कभी आर्थिक विसंगतियां ही घेरती हैं और न किसी प्रकार की विषमता ही दुख देती है । उनके सामने केवल समस्या अस्तित्व की है, सेक्स की है या फिर वे अकेलेपन या अजनबीपन की है । इस प्रसंग में एक मनोरंजक बात यह उल्लेखनीय है कि इन उपन्यासकारों की कृतियों में समाज का जो रूप उपस्थित किया गया है, उनमें व्यक्ति की कोई सीमा नहीं है और

यदि है, तो स्वतन्त्रता की पुरज़ोर मांग की है। उनके सामने स्त्री-पुरुष की समस्या इतनी हावी रहती है कि कभी सम्बन्ध-विच्छेद होता है तो कभी आत्महत्या। कभी पर-स्त्री के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित होता है तो कभी कुंठा की चरमसीमा। इस प्रकार कहना यह चाहिए कि इन उपन्यासकारों ने समाज का जो रूप उपस्थित किया, वह पूर्णतया घृणित, कुत्सित और एकांगी है। इसे देखकर लगता है कि जैसे नारकीय जीवन का कोई विकल्प नहीं है और यह संसार मानवता का सुखी निवास न तो है और न कभी बन सकता है। अछूतोद्धार आन्दोलन, सामाजिक खान-पान, मध्यवर्ग का उदय, उसकी समस्याएं तथा उसका नया दृष्टिकोण आदि ऐसे विषय हैं, जो समाज की ज्वलन्त समस्याएं हैं, लेकिन उपन्यासकारों ने उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझी है।

● अछूतोद्धार आन्दोलन और सामाजिक खान-पान

अछूतों की समस्या प्राचीन काल से चली आ रही है। यह एक मानवीय समस्या है। आश्चर्य है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के पूर्व किसी ने इस ओर ध्यान न दिया और न इस बात का प्रयत्न किया गया कि हरिजनों को कोई अधिकार दिया जाय। समाज में उनका सम्मानित स्थान न था, शिक्षा-दीक्षा की कोई उचित व्यवस्था न थी। लोग उनकी परछाईं से भी बचते थे और घृणा करते थे। स्वयं हरिजनों में भी कोई चेतना न थी। धार्मिक स्थानों में वे दूर से पूजा आदि कर लेने में सन्तोष कर लेते थे। १९१७ में पहली बार कलकत्ता कांग्रेस ने प्रस्ताव पास किया, "यह कांग्रेस भारतवासियों से आग्रह करती है कि परम्परा से दलित जातियों पर जो रुकावटें चली आ रही हैं, वे बहुत दुख देने वाली और क्षोभकारक हैं, जिससे दलित जातियों को बहुत कठिनाइयों, असुविधाओं, सख्तियों का सामना करना पड़ता है। इसलिए न्याय और भलमन्सी का यह तकाज़ा है कि यह तमाम बन्दिशें उठा ली जाएं।[1] गांधीजी इस समस्या का समाधान सहयोग एवं सद्भाव से करना चाहते थे। उनका विचार था कि अछूतवर्ण

---

१. डा० पट्टाभि सीतारमैया : कांग्रेस का इतिहास (१९३८), इलाहाबाद, पृ०५६

को जाति व्यवस्था से भिन्न मानकर उसे मिटा दिया जाए और उन्हें हिन्दू सामाजिक संगठन में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हो ।

लेकिन अंग्रेजों की स्थिति भेदभाव और वैमनस्य उत्पन्न करने की थी । उनकी इस नीति के फलस्वरूप ही डा० अम्बेदकर तथा श्रीनिवासन ने अछूतोद्धार की समस्या को राजनीतिक रंग दे दिया । अंग्रेजों का प्रचार था कि अछूत हिन्दू नहीं हैं । डा० अम्बेदकर ने गोलमेज परिषद में बुनियादी अधिकार, बालिग मताधिकार के अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व की मांग प्रस्तुत की । कांग्रेस ने स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व की मांग अस्वीकार कर दी, लेकिन रैमजे मेकडोनल्ड के कम्यूनल स्वार्ड ने इस मांग को स्वीकार लिया । गांधीजी ने इसके विरोध में १३ सितम्बर १६३२ में आमरण अनशन किया । फलत: कांग्रेस तथा अछूत वर्ग में पूना पेक्ट का समझौता हुआ, जिसके अनुसार कांग्रेस ने अछूत वर्ग को १४८ सीटें देना स्वीकार किया, जबकि अंग्रेज ६१ सीटें देना चाहते थे । इसके बाद हरिजनों की स्थिति में बराबर परिवर्तन होता गया है । स्वतन्त्रता के बाद तो चुनावों और नौकरियों में उनके लिए अलग अलग स्थान ही नहीं सुरक्षित किए गए हैं वरन् शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता आदि की भी व्यवस्था की गई है ।

अछूतोद्धार की प्रमुख समस्याएं सामूहिक खान-पान, विवाह, उच्च-शिक्षा तथा मन्दिरों आदि में प्रवेश के साथ समाज में प्रतिष्ठा की है । आरम्भिक उपन्यासों में इससमस्या के चित्रण की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती थी, क्योंकि इस काल के अधिकांश उपन्यासकार सनातनधर्मी थे और वे परम्पराओं को, भले ही वे रूढ़ एवं आडम्बरपूर्ण हों, सुरक्षित रखने के पक्षपाती थे ।

प्रेमचन्द कदाचित् ऐसे पहले उपन्यासकार हैं, जिन्होंने समस्याओं की ओर ध्यान दिया और उपन्यासों के माध्यम से उनका यथार्थ चित्रण किया । 'कर्मभूमि' में अमरकान्त चमारों के एक गाव में आश्रय लेता है और गांव की चमारिन बुढ़िया सलोनी की झोंपड़ी में रहने लगता है । उसी गांव में ठाकुर परिवार की मुन्नी रैदासों के चौधरी गूदड़ की बहू बनकर जीवन व्यतीत करती है । अमरकान्त से जब सलोनी कहती है, 'यहां तो सब रैदास रहते हैं, भैया,' - अमरकान्त

उत्तर देता है[1], "मैं जाति-पांति नहीं मानता, माता जी जो सच्चा हो, वह चमार भी हो तो आदर के योग्य है। जो दगाबाज, झूठा, लम्पट हो, वह ब्राह्मण भी हो, तो आदर के योग्य नहीं।" प्रेमचन्द ने इस प्रकार अमरकान्त के माध्यम से इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है।

प्रेमचन्द के ही एक अन्य उपन्यास 'गोदान' में सिलिया चमारिन का ब्राह्मण मातादीन का अवैध-सम्बन्ध और बाद में विवाह भी उनके इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। मातादीन के माध्यम से उन्होंने आडम्बरपूर्ण धर्म का मज़ाक बनाया है। सिलिया के साथ उसका प्रणय एवं काम-सम्बन्ध है, लेकिन उसके हाथ का छुआ पानी भी नहीं पीता। इस पर व्यंग्य करते हुए सिलिया की मां कहती है, "तुम बड़े नेमी-धरमी हो। तुम उसके साथ सोओगे, लेकिन उसके हाथ का पानी नहीं पिओगे। यही चुड़ैल है, कि यह सब सहती है। मैं तो ऐसे आदमी को माहुर दे देती।"[2] चमारों में चेतना जाग रही है, वे अपने अधिकार प्राप्ति के लिए सक्रिय हो रहे हैं, इसका भी संकेत प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में दिया है। चमार मातादीन के मुंह में हड्डी का टुकड़ा जबर्दस्ती डाल देते हैं, क्योंकि वह सिलिया का सतीत्व नष्ट करता है। वे उसे विवश करते हैं कि वह उसे पत्नी रूप में स्वीकार करे।[3] प्रेमचन्द का विद्रोही स्वर कहता है, "सिलिया कन्या जात है, किसी न किसी के घर तो जायेगी ही। इस पर हमें कुछ नहीं कहना है, मगर उसे जो कोई भी रखे हमारा होकर रहे। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह सामरथ नहीं है, फिर तुम भी चमार बनो, हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो, हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धरम मुझे दो।" अन्त में मातादीन को स्वीकार करना पड़ता है, "बाह्मन नहीं, चमार ही रहना चाहता हूं, जो अपना धर्म पाले, वही बाह्मन है, जो धरम से मुंह मोड़े वह चमार है।"[4]

---

१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१९३२), बनारस, पृष्ठ १४६।

२. प्रेमचन्द : गोदान (१९३६), बनारस, पृष्ठ २६१।

३. वही, पृष्ठ ३६०।

४. वही, पृष्ठ ३५७।

प्रेमचन्द का यह दृष्टिकोण यद्यपि उस नई सामाजिक संचेतना की ओर संकेत करता है, जो युग के अनुरूप थी और सशक्त ढंग से उभर रही थी ।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'मनुष्यानन्द' (१६३५) में भी इसी समस्या की ओर संकेत किया है । भंगी बुधुआ की अनाथ बालिका के पालन-पोषण के लिए कोई हिन्दू सामने नहीं आता । इस पर प्रहार करते हुए उग्र ने लिखा है, 'यद्यपि यहां पर ऐसे अनेक हिन्दू हैं, जिनके यहां कुत्ते भी पले हैं - और एक नहीं अनेक । भंगी समाज में मैला फेंकने के कारण पतित है और उसी मैले को खाने वाला कुत्ता शुद्ध है । वसुधैव कुटुम्बकम् सिद्धान्त आदि के आविष्कारक इन हिन्दुओं का ऐसा पतन हो गया है ।'[1] अछूतों के साथ होने वाले अमानुषिक व्यवहार की ओर ध्यान दिलाते हुए इसी उपन्यास में लेखक ने अन्यत्र लिखा है, 'हमें तो देहात वाले कुरता पहनने ही नहीं देते, कहते हैं, ससुर भंगी की जात और पहनोगे ऊंचों की तरह धोती कुरता ।'[2] और इसका समाधान लेखक ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है, 'क्योंकि आजकल के संसार की सबसे बड़ी समस्या पैसों की समस्या है । इस पैसे के प्रश्न को हल करने के लिए तुम्हें सबसे पहले आपस में एका करना चाहिए । अपना एक संघ बना लेना चाहिए । ज्योंही तुम संघबद्ध हो कर काम करोगे त्योंही समाज तुम्हारे सामने झुक जावेगा । लोग समझने लगेंगे कि तुम्हारा भी कोई अस्तित्व है और आवश्यक अस्तित्व है ।'[3] इस उपन्यास में म्यूनिसिपेलिटी, अंग्रेजी शासन और तथाकथित सभ्य वर्ग, सभी सामूहिक रूप से भी भंगियों की एकता को कुचल नहीं पाते और उनका वेतन दुगना कर दिया जाता है । उनके रहने के लिए मकानों की व्यवस्था की जाती है । दलित विद्यालय का निर्माण होता है तथा हस्तकौशल के शिक्षा की व्यवस्था की जाती है ।

यह उस नवजागरण की चेतना का ही परिणाम है, जो युग की देन है ।...

----

१. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र : मनुष्यानन्द (१६३५), पृष्ठ ६८ ।

२. वही, पृ० १३५ ।

३. वही, पृ० १३८ ।

सम्मिलित खान-पान और जाति-भेद तोड़ने के जो प्रयास राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में हो रहे थे, हिन्दी उपन्यास उससे अछूते न रह सके। उग्र के 'बुधुवा की बेटी' (१६२८) में रधिया भंगिन की बेटी है, पर घनश्याम से लेकर इंगलैण्ड में मि० यंग के साथ वह सम्मिलित खान-पान का अंग बनती है और बिना किसी भेदभाव के जाति-प्रथा की उपेक्षा करने में सफल हो पाती है। प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' (१६३२) में भी डा० शान्तिकुमार के प्रयत्नों से अछूतों के साथ सम्मिलित खान-पान होता है। ठाकुर जी के मन्दिर में रामायण की कथा में जब अछूत भी कथा सुनते और सबके साथ प्रसाद खाते, तो एक दिन हंगामा हो गया - 'ये दुष्ट रोज यहां आते थे। रोज सबको छूते थे। इनका छुआ प्रसाद लोग रोज यहां खाते थे। इससे बढ़कर अनर्थ क्या हो सकता है। धर्म पर इससे बड़ा आघात और क्या हो सकता है। धर्मात्माओं के क्रोध का वारापार न रहा। कई आदमी जूते लेकर उन गरीबों पर पिल पड़े।'[१] डा० शान्तिकुमार इसपर अत्यन्त आक्रोशपूर्ण स्वर में कहते हैं, 'अन्धे भक्तों की आंखों में धूल झोंक कर यह हलवे बहुत दिन खाने को न मिलेंगे महाराज, समझ गये। अब वह समय आ रहा है जब भगवान भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नहीं।'[२] वास्तव में इन अछूतों की शिक्षा की समस्या प्रमुख थी, उनके लिए कोई व्यवस्था भी न थी। 'कर्मभूमि' में अमरकान्त एक बालक से पूछता है कि कहां पढ़ने जाते हो, तो वह उत्तर देता है, कहां जायं, हमें कौन पढ़ाए। मदरसे में कोई जाने तो देता नहीं, एक दिन दादा हम लोगों को लेकर गये थे। पंडित जी ने नाम लिख लिया, पर हमें सबसे अलग बैठाते थे। सब लड़के हमें चमार-चमार कहकर चिढ़ाते थे। दादा ने नाम काट दिया।'[३] इन उपन्यासकारों ने इस सामाजिक समस्या को जिस गहनता से प्रस्तुत किया, उसी का परिणाम है कि आज हरिजनों को समाज में प्रत्येक अधिकार और सुविधाएं प्राप्त हैं। आज उनमें राजनीतिक चेतना भी है, जागरूकता भी।

----

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (१६३२), बनारस, पृष्ठ २०५-२०६

२. वही, पृ० २०७।

३. वही, पृ० १५०।

अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' (१६४०) में शेखर ब्राह्मण छात्रों का छात्रावास छोड़कर अछूत छात्रों के छात्रावास में रहने लगता है ।[१] वह सदाशिव, राघव आदि अछूत छात्रों की सहायता से उन्हें संगठित करता है तथा अछूत बालकों के लिए स्वयं स्कूल खोलकर पढ़ाने लगता है ।

स्वतन्त्रता मिलने के बाद किसी भी उपन्यास में अछूत समस्या का चित्रण नहीं मिलता । यद्यपि 'रेणु' के 'मैला आंचल', श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी', शिवप्रसाद सिंह के 'अलग अलग वैतरणी' तथा सुरेश सिनहा के 'पत्थरों का शहर' में हल्के संकेत अवश्य मिलते हैं, पर इस समस्या की गहराई में जाने और इस वर्ग के मनोभावों को स्पष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है । सुरेश सिनहा के उपन्यास में अछूत वर्ग के शोषण की ओर अवश्य ही संकेत किया गया है और उनके राजनीतिक दुरुपयोग को भी स्पष्ट किया गया है, "डा० अम्बेदकर आपके लिए जीए और मरे । उन्होंने देश में कानून बनाया । मुदा हमारी सरकार ने क्या किया । जानते हैं क्यों ? इसलिए कि ये लोग हमें अछूत समझते हैं । हमें हरिजन कहकर हमारे साथ धोखा करते हैं । हमको बेवकूफ बनाते हैं । आज आबादी का अस्सी परसेन्ट लोग हम सब बिरादरी वाले हैं । बाकी बीस परसेन्ट लोग बराहमन और ऊंचे हिन्दू कहलाते हैं । मैं कहता हूं, हमारा इमतहान बहुत हो चुका । अब हम कुछ बरदास्त नहीं कर सकते भाइयो ।"[२] लेकिन कुल मिला कर यह खेदजनक है कि हमारे नए उपन्यासकारों ने इस दिशा में कोई ध्यान नहीं दिया और न ही उसकी ओर चित्रण करने का कोई प्रयत्न ही किया है ।

● मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण तथा समाज के प्रति विद्रोह

भारत में पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क एवं राष्ट्रीयता के विकास के साथ ही उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मध्यवर्ग का उदय हुआ है । भारत में मध्यवर्ग के उद्भव और

---

१. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (प्रथम भाग, १६४०), बनारस, पृ० २१७ ।
२. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१६७१), इलाहाबाद, पृ० १८५ ।

विकास का बहुत कुछ श्रेय ब्रिटिश शासन पर है । ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व समाज के उच्च स्तर के व्यक्तियों में राजगुरु, क्षत्रिय राजा और उनके अभिकर्ता सम्मिलित ही थे । इन व्यक्तियों में ब्राह्मण, अध्यापक, उपदेशक, क्षत्रिय, शूरवीर और राजनीतिक नेता भी थे । कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे, जो शासन-व्यवस्था में सहायता करते थे, ये सभी व्यक्ति मध्यवर्ग के ही थे । इन व्यक्तियों में वैश्य जाति लोग शामिल थे, जो विशेषकर सौदागर, पूंजीपोषक और औद्योगिक थे । सामन्त युग में उच्च और मध्यवर्ग के व्यक्ति बढ़ते गए... जागीरदार, पंचहजारी, मध्यवर्ग के बुर्जुवा वर्ग के भारतीयों ने उच्च स्तर के वर्ग का निर्माण किया है । इनके प्रबन्धकों, सलाहकारों, राजस्व अधिकारियों, प्रशासकों, सौदागरों तथा व्यापारियों ने मध्यवर्ग बनाया ।[1] अंग्रेजों ने भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली की नींव डाली, जिसके परिणामस्वरूप मध्यवर्ग का विकास हुआ ।

मध्यवर्ग के विकास का क्रम निर्धारित करने में राजा राममोहन राय की उल्लेखनीय भूमिका है । वे पाश्चात्य विचारों से प्रभावित और अंग्रेजों में शिक्षित थे । अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से उन्होंने भारतीय बुद्धिजीवियों की दिशा निर्धारित करने की चेष्टा की । भारत में भारतीय बुद्धिजीवियों का नेतृत्व करने वाले प्रथम राजा राममोहन राय थे, जिन्होंने पाश्चात्य संस्कृति का अध्ययन करते हुए लोकतांत्रिक सिद्धान्तों की विवेचना की । जैसे-जैसे अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार होता गया, भारतीय बुद्धिजीवियों की संख्या बढ़ती गयी ।[2] वास्तव में ब्रिटिश शासन के मूल में उनकी व्यावसायिक प्रवृत्ति और अधिकाधिक धनसंग्रह करके अपने देश भेजने की लालसा थी । इस शोषण की प्रक्रिया में उन्हें एक ऐसे शिक्षित मध्यवर्ग की आवश्यकता थी, जो ब्रिटिश शासन और भारतवासियों के बीच मध्यस्थ का कार्य कर सके । शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए भी मध्यवर्ग की आवश्यकता थी ।

----

१. डा० नासिर अहमद खां : मिडिल क्लास इन इण्डिया (१६५८), लखनऊ, पृ० ३-४ ।

२. ए० आर० देसाई, सोशल बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज़्म, (१६५६), बम्बई, पृष्ठ १८२ ।

लेकिन प्रारम्भ से ही भारत में मध्यवर्ग की स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है । उसकी महत्वाकांक्षाओं के एक ओर पूर्ण होने की कोई आशा नहीं रहती थी, दूसरी ओर उसकी आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं रहती थी । यह वैसे कोई भारत तक ही सीमित समस्या न थी, सभी जगह मध्यवर्ग यह अनुभव करने लगा है कि उसका कोई भविष्य नहीं है । भारत में उसकी दशा और भी दयनीय है । पूंजीवाद के विकास ने अन्य देशों में सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में उनके लिए स्थान बना दिया है, पर भारत में पूंजीवाद को अंग्रेजों ने राजनीतिक और आर्थिक दबावों के कारण बढ़ने नहीं दिया । इस पर भी समाज की अन्य श्रेणियों का झुकाव, मध्यवर्ग की अपेक्षाकृत अधिक अच्छी दशा देखकर उसकी ओर बराबर ही रहा । मध्यवर्ग इतना बढ़ा कि मौजूदा आर्थिक स्थिति उस संस्था को संभाल न सकी ।[1] नवीन शिक्षित मध्यवर्ग अधिकांश रूप से पश्चिमी देशों के व्यक्तियों के विचारों से अपना नया दृष्टिकोण बनाने लगा । वह किसी-न-किसी रूप में अंग्रेजों के सम्पर्क के कारण उनके रहन-सहन को भी अपनाने लगा । अंग्रेजी भाषा ने मध्यवर्ग को इस सीमा तक प्रभावित किया कि वे उसे अपनी मातृभाषा से अधिक महत्व देने लगा । राजा राममोहन राय भी अंग्रेजी भाषा से अत्यधिक प्रभावित थे, किन्तु उनमें भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी आस्था और निष्ठा थी । अंग्रेजी संस्कृति के समक्ष उन्होंने कभी भी भारतीय संस्कृति को हेय और उपेक्षित नहीं समझा । लेकिन जो नया मध्यवर्ग सामने आया, उसे अपनी संस्कृति पिछड़ी हुई लगी और उसका मोह भारतीय संस्कृति और परम्परा के प्रति बहुत कुछ टूट गया । फलत: मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रवाह में बह गया ।

इसका परिणाम यह हुआ कि मध्यवर्ग अपनी वह पृष्ठभूमि खो बैठा, जिसके कारण कोई वर्ग पहचाना जाता है । मध्यवर्ग का असन्तुलित फैलाव आज सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या है । मध्यवर्ग में इतनी अकुलाहट एवं अशान्ति है तथा उनमें व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का प्रसार इस सीमा तक हो गया है कि उनकी आर्थिक

---

१. हुमायूं कबीर : इण्डियन हेरीटेज (१९६०), बम्बई, पृष्ठ ११४ ।

व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी है। उनकी आकांक्षा अपना सम्मानपूर्ण स्तर बनाए रखने की होती है, जो उनके साधनों की पहुंच के बाहर होता है। इससे मध्यवर्ग में तीव्र असन्तोष की भावना व्याप्त हो गयी है। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए दूसरों की आलोचना करने की दृष्टि का उसमें स्वभावत: विकास हो गया है।

इन परिस्थितियों में मध्यवर्ग का जो नया दृष्टिकोण विकसित हुआ है, वह दूसरों की आलोचना करना उचित समझता है। उसमें अपनी सभ्यता और संस्कृति पिछड़ी हुई प्रतीत होती है तथा परम्पराएं उसे रूढ़िवादी एवं आडम्बर-प्रिय लगती हैं। न तो वह पूरी तरह पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति को ही अपने जीवन में आत्मसात कर पाता है और न अपनी परम्परा से वह पूरी तरह कट ब पाता है। इसलिए उसकी स्थिति बीच में लटके हुए त्रिशंकु की भांति है, जो न इधर का रह गया है और न उधर का। रूढ़िवादी परम्पराओं के प्रति उसमें विद्रोह की भावना व्याप्त हो गयी है और धर्म पर से उसका विश्वास खंडित हो गया है। हमारे समाज का नया मध्यवर्ग परिवार की मर्यादा और विशिष्ट स्तर बनाए रखने तथा अधिकाधिक धनोपार्जन कर उच्च वर्ग की समानता करने में ही अपनी सारी शक्ति लगा रहा है। इस वर्ग की राष्ट्रीय चेतना के ह्रास के साथ उसकी नैतिक शक्ति, साहस एवं आत्मविश्वास भी डगमगा गया है।

मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण आस्था तथा जीजिविषा से कोसों दूर है। असंतोष, आक्रोश एवं कुंठा में ही इसकी परिणति हो रही है। वह पूर्णतया विभ्रान्त है, इसलिए उसमें धुरीहीनता की विडम्बना उत्पन्न हो गयी है। न चाहते हुए भी वह जीविका के लिए अपनी स्वतन्त्रता बेचता है और एक मिथ्या चेतना अपने ऊपर आरोपित कर कृत्रिम जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हो गया है। आत्म परायेपन का एक ऐसा भाव उसमें उत्पन्न हो गया है कि उसकी आस्था तिरोहित हो गयी है।

प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग का यह नया दृष्टिकोण चित्रित नहीं हुआ। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अधिकांश उपन्यासकार सनातन धर्मी थे और समाज में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के सम्पर्क के कारण जो

परिवर्तन हो रहे थे, उसे वे उचित नहीं समझते थे । यही कारण है कि इन उपन्यासकारों ने मध्यवर्ग में विकसित होने वाले नए दृष्टिकोण को जानबूझ कर अतिरंजित ढंग से या तोड़-मरोड़ कर अस्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है । इन उपन्यासकारों का तो दृष्टिकोण था कि 'अभी कुछ नहीं बिगड़ा है और अभी भी अपने समाज की रक्षा हो सकती है । यदि अंग्रेज जरा बाज़ आवें और अपने समाज को उसी पुरानी रीति से संस्कृत करें, जो वैदिक और वर्तमान काल के उपयुक्त हो ।'[१] जैसा कि एक सुविज्ञ ने उचित ही कहा है[२], कि इस युग के उपन्यासकारों में नए दृष्टिकोण के प्रति संशय की भावना थी । वे समाज में इतनी तीव्रता से परिवर्तन नहीं चाहते थे क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं धर्म का आधार समाप्त ही न हो जाए ।

ब्रजनन्दन सहाय ने अवश्य ही अपने 'आरण्यबाला' उपन्यास में नायक मुकुन्ददेव के माध्यम से मध्यवर्ग के इस नए दृष्टिकोण का किंचित आभास दिया है । वह शिक्षा भी प्राप्त करता है और उद्यम भी, फिर भी सामाजिक असमानता एवं विषमता का शिकार बना रहता है । इसी पर तीव्र आक्रोश प्रगट करते हुए वह कहता है - 'इतना ज्ञान उपार्जन करने पर भी वह संसार के अन्य व्यक्तियों के सदृश धन-धान्य से सम्पन्न क्यों नहीं हो जाता ? संसार में कितने लोग बिना परिश्रम किए संसार का अनन्त सुख भोग रहे हैं किन्तु इतना उद्योग करने पर भी उसे सांसारिक सुख क्यों नहीं मिलता ।'[३] इसके पहले ब्रजनन्दन सहाय अपने एक अन्य उपन्यास 'राधाकान्त' (१९०७) में भी इसी प्रकार के विचारों को प्रकट कर चुके थे । 'अरण्यबाला' की नायिका ब्रजमंजरी भी इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती है । इस उपन्यास में नारी शिक्षा का विरोध नहीं किया गया है, यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है । बल्कि लेखक यहां तक कहता है कि 'आदि से ही हम लोग असभ्य, दुर्बल जाति के हैं और विदेशियों ने हम लोगों को सब कुछ सिखाया-पढ़ाया । यदि विदेशियों से हम लोगों का संसर्ग नहीं होता तो आज

----

१. किशोरीलाल गोस्वामी : लीलावती (१९०२), ग्यारहवां परिच्छेद, पृ० १२३ ।
२. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : उन्नीसवीं शताब्दी (१९६३), इलाहाबाद, पृ० ३१
३. ब्रजनन्दन सहाय : आरण्यबाला (१९१५), बनारस, पृष्ठ १०१ ।

दिन हम लोग जंगली ही रहते ।"[1] यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण चाहे जितना हो मध्यवर्ग के विकसित होने वाले नए दृष्टिकोण का परिचय अवश्य देता है । इसमें पाश्चात्य संस्कृति का समर्थन किया गया है और नए विचारों तथा नवीन शिक्षा का पक्ष लिया गया है ।

प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में मध्यवर्ग का विशद चित्रण प्राप्त होता है । 'प्रेमाश्रम' (१६२२) में प्रेमचन्द ने मध्यवर्ग के नए दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए दिखाया है कि त्याग करने में भी यह वर्ग पीछे नहीं है । पहले वर्ग का प्रतिनिधि प्रभाशंकर और प्रेमशंकर करते हैं, तो दूसरे वर्ग का ज्ञानशंकर। 'रंगभूमि' (१६२४) में ताहिर अली के परिवार के मध्यवर्ग के नए दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला गया है । उसके माध्यम से मध्यवर्ग की आर्थिक विषमताओं, पारिवारिक कलह, मिथ्या प्रदर्शन, झूठी शान-शौकत तथा बेइमानी आदि का कुशल संगुफन हुआ है । ताहिर अली कहता है - "अगर स्वामी के आज्ञाओं को न मानूं तो कुटुम्ब-पालन क्योंकर हो । बरसों मारा-मारा फिरने के बाद तो यह ठिकाने की नौकरी हाथ आई है । इसे छोड़ दूं तो फिर उसी तरह ठोकरें खानी पड़ेंगी । अभी कुछ नहीं है तो रोटी-दाल का सहारा तो है ।"[2] प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' (१६२६) में भी चक्रधर, मनोरमा, अहिल्या, लौंगी आदि के माध्यम से मध्यवर्ग के असंतुलन, अनमेल विवाह, आर्थिक विषमता, प्रदर्शन एवं दहेज पर तीखा प्रहार किया गया है । उदयभानु लाल निर्मला के विवाह पर कहते हैं, "क्योंकि जगहंसाई भी तो अच्छी नहीं लगती है । शिकायत हुई तो लोग कहेंगे, नाम बड़े दर्शन थोड़े । फिर जब वह मुझसे दहेज एक पाई नहीं लेते तो यह मेरा कर्तव्य है कि मेहमानों के आदर-सत्कार में कोई बात उठा न रखूं ।"[3] इसका विरोध करते हुए कल्याणी कहती है, "घर में टका है नहीं, कर्ज का ही भरोसा ठहरा, तो इतना कर्ज क्यों लें कि जिन्दगी में अदा न हो ।"[4] यह मध्यवर्ग की वह विशेष प्रवृत्ति है, जो इस युग में विकसित हो रही थी ।

---

१. ब्रजनन्दन सहाय : आरण्यबाला (१६१५), बनारस, पृष्ठ ३३० ।
२. प्रेमचन्द : रंगभूमि (१६२४), बनारस, पृष्ठ ८० ।
३. प्रेमचन्द : निर्मला (१६२८), बनारस, पृष्ठ १० ।
४. वही, पृष्ठ ११ ।

`गबन` (१६३०) प्रेमचन्द का मध्यवर्ग के नए दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने वाला सर्वाधिक सशक्त एवं महत्वपूर्ण उपन्यास है ।`इस उपन्यास में जहां तक मध्यवर्गीय जीवन के चित्रण का प्रश्न है वह पूर्ण यथार्थवादी है । मध्यवर्गीय जीवन की कुंठा, आर्थिक विषमता एवं पारिवारिक जीवन का चित्र इस उपन्यास में प्राप्त होता है ।`[1] मध्यवर्ग की आर्थिक-नैतिक विकृतियों का इस उपन्यास में व्यापक सन्दर्भों में चित्रण हुआ है । इसमें खोखले प्रदर्शन की भावना, आभूषणप्रियता, अपनी स्थिति में परिवर्तन लाने की प्रयत्नशीलता, सम्मिलित कुटुम्ब की समस्या आदि का मार्मिक चित्रण हुआ है ।

इस युग में जो नया मध्यवर्ग आया, वह प्रदर्शनप्रियता के चक्कर में इसलिए पड़ गया, क्योंकि वह अंग्रेजी समाज के समान स्तर पर अपने को प्रतिष्ठित करना चाहता था । `गबन` में दयानाथ, रमानाथ, रमेश, जालपा तथा रतन आदि सभी प्रमुख पात्रों में यही प्रदर्शन की भावना है । आर्थिक विषमताओं से संघर्ष करते हुए भी दयानाथ बड़ी शान-शौकत से रमानाथ का विवाह करते हैं - केवल प्रदर्शन के आत्मगौरव का अनुभव करने के लिए । टीके में एक हजार पाकर उनकी यह इच्छा और भी तो तीव्र हो जाती है -` बंधा हुआ घोड़ा थान से खुल गया, उसे कौन रोक सकता है । धूमधाम से विवाह करने की ठन गयी। पहले जोड़े-गहने को उन्होंने गौण समझ रखा था । अब वही सबसे मुख्य हो गया । ऐसा चढ़ाव हो कि मड़वे वाले देखकर फड़क उठें ।`[2] सरीफ से वे गहने उधार लेकर चढ़ाते हैं और विवाह के बाद रमानाथ को अपनी पत्नी की दृष्टि बचाकर गहने चुराने पड़ते हैं ताकि वे वापस किए जा सकें ।

रमानाथ प्रदर्शन की भावना में अपने पिता से भी बढ़कर है । वह मध्यवर्ग की नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है । वह पत्नी से, रतन से, वकील साहब से और देवीदीन सभी से अपनी स्थिति का बढ़ा-चढ़ाकर बखान करता है और झूठ बोलता है । इसी प्रकार जालपा भी पास-पड़ोस की स्त्रियों से गंगा स्नान

----

१. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१६६४), दिल्ली, पृष्ठ १८६
२. प्रेमचन्द : गबन (१६३०), बनारस, पृष्ठ ७ ।

के अवसर पर आभूषण दिखाने और जलपान आदि में अपनी हैसियत से ज्यादा करने का प्रयत्न करती है । और रमेश बाबू जब दावत देते हैं तो 'दूसरे ही दिन से सामान जमा करना शुरू कर दिया । उनकी पहुंच अच्छे-अच्छे घरों में थी, सजावट की अच्छी-अच्छी चीज़ें बटोर लाए । सारा घर जगमगा उठा । कौन गमला कहां रखा जाए, इन प्रश्नों पर तीनों मनुष्यों में घंटों वाद-विवाद होता था ।'[1], इस प्रकार 'ग़बन' में प्रेमचन्द ने जिस नए मध्यवर्ग को चित्रित किया है, वह मिथ्या-प्रदर्शन की भावना के चक्कर में पड़कर विडम्बनाओं का शिकार बनता है । वहां मध्य वर्ग की नई और पुरानी पीढ़ी में कोई अन्तर नहीं रह जाता । नैतिक मूल्यों एवं सिद्धान्तों के प्रति उनका कोई आग्रह नहीं रह जाता ।

'ग़बन' में मध्यवर्ग की दूसरी मुख्य समस्या आभूषणप्रियता की है । मध्यवर्ग में ऐश्वर्य एवं विलासिता के सपनों के साथ-साथ अपना विशिष्ट स्तर निर्मित करने का जो नया दृष्टिकोण उभर रहा था, यह उसी का प्रतीक था । मानकी, जागेश्वरी, जालपा तथा रतन - सभी आभूषणों के प्रति इतनी आकर्षित हैं, कि रमेश बाबू कहते हैं, 'वह धन जो भोजन में खर्च होना चाहिए, बाल-बच्चों का पेट काटकर गहनों की भेंट कर दिया जाता है ।बच्चों को दूध न मिले न सही । मेवों और फलों के दर्शन उन्हें न हों, कोई परवाह नहीं, पर देवी जी गहने जरूर पहनेंगी, और स्वामीजी गहने जरूर बनवाएंगे ।'[2] यही नहीं सब घरों का यही हाल है । जहां देखो हाय गहने । गहने के पीछे जान दे दें, घर के आदमियों को भूखों मार दें, घर की चीज़ें बेचें, कहां तक कहूं, अपनी आबरू तक बेच दें ।'[3] प्रेमचन्द ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस आभूषण-प्रियता ने ही मध्यवर्ग का जीवन नारकीय बना रखा है । 'ग़बन' में मध्यवर्ग का सयुक्त परिवार प्रथा के प्रति क्या दृष्टिकोण विकसित हो रहा है, यह रतन के माध्यम से चित्रित किया गया है । रिश्वत की समस्या भी रमानाथ के माध्यम से प्रकाश में आई है क्योंकि मध्यवर्ग नैतिक-अनैतिक उन सभी हथकंडों

----

१. प्रेमचन्द : ग़बन (१६३०), बनारस, पृ० १८३ ।

२. वही, पृ० ५१ ।

३. वही, पृ० १४ ।

को अपनाना चाहता था, जिससे रातों-रात वह अपना सामाजिक स्तर बढ़ा सके ।

जयशंकर प्रसाद ने 'कंकाल' (१६२६) में मध्यवर्ग का कृत्रिमता एवं उसकी खोखली जड़ों पर प्रहार किया है । श्रीचन्द मध्यवर्ग का कुलीनता तथा सामाजिकता को प्रस्तुत करता है, तो देव निरंजन मध्यवर्ग में व्याप्त ढोंग एवं अन्धविश्वास का प्रतीक है । उसी के माध्यम से जारज सन्तान की समस्या उभर कर आई है । देव निरंजन के माध्यम से ही मध्यवर्ग की धार्मिक मान्यताओं का भी पर्दाफाश किया गया है । मंगल मध्यवर्ग की दुर्बलताओं का प्रतीक है । उसमें आस्था-अनास्था, प्रेम और घृणा तथा आदर्श-यथार्थ का तीव्र संघर्ष बराबर बना रहता है और मध्यवर्ग अन्तर्विरोधों का जिस प्रकार शिकार बन गया था उसे वह बखूबी प्रस्तुत करता है । असत्य संभाषण, प्रदर्शन लालसा तथा मिथ्या आडम्बर आदि की जड़ें भी उसमें गहरी हैं । वह अपनी माँ से एक स्थान पर कहता है, 'जिन्हें आवश्यकता नहीं, उनको बिठाकर आदर से भोजन कराया जाय केवल इस आशा से कि परलोक में वे पुण्य-संचय का प्रमाण पत्र देंगे और इन्हें, जिन्हें पेट ने सता रखा है, जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है, जिनकी आवश्यकता नंगी होकर वीभत्स नृत्य कर रही है - वे मनुष्य कुत्तों के साथ जूठी पत्तलों के लिए लड़ें, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है ।'[1] धर्म के प्रति तिरस्कार एवं उपेक्षा की यह भावना मध्यवर्ग के नए दृष्टिकोण का ही परिणाम है ।

'कंकाल' में इस प्रकार मध्यवर्ग की ध्वन्सोन्मुखता का विशद चित्रण हुआ है । मंगल देव इसलिए मध्यवर्ग में सुधार की आवश्यकता मानता है । क्योंकि 'सुधार सौन्दर्य का साधन है । सभ्यता सौन्दर्य की जिज्ञासा । शारीरिक और अलंकारिक सौन्दर्य प्राथमिक है, चरम सौन्दर्य मानसिक सुधार का है... हमें समाज के रचनात्मक कार्य में भीतरी सुधार लाना चाहिए ।'[2] इस उपन्यास में भारत-संघ की स्थापना

---

१. जयशंकर प्रसाद : कंकाल (१६२६), इलाहाबाद, पृ० ६५ ।

२. वही, पृष्ठ २६२ ।

भी मध्यवर्ग की सामाजिक चेतना को स्पष्ट करता है । स्त्रियों को समाज में सम्मानित स्थान देना, उनकी समानता स्वीकारना तथा धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों का सक्रिय विरोध करना मध्यवर्ग के नए दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब है, जो इस उपन्यास में प्रसाद जी ने सशक्तता से उभारा है ।

वृन्दावनलाल वर्मा ने 'संगम' (१९२७) 'कुंडली चक्र' (१९२८), 'प्रेम की भेंट' (१९२८), 'प्रत्यागत' (१९२८) तथा अमर बेल (१९५३) में मध्यवर्ग की नई चेतना को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । 'अचल मेरा कोई' (१९४८) में यह और भी तीव्रतर रूप में उद्घाटित हुआ है । अपने पुराने विचारों वाली बुआ को समझाते हुए सुधाकर एक स्थान पर कहता है, 'इस जमाने में जब हम लोग स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी का पद देने पर जोर लगाते हैं, तब घर में एक एम० ए०, बी० ए० स्त्री अवश्य होनी चाहिए । वह स्त्रियों के आन्दोलन का भी काम कर सकेगी ।'[१] वही विवाह के बाद कुंती पर प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ कर देता है । कुन्ती सोचती है, 'ड्राइवर मेरी इच्छा के लिए पीछे लगाया जा रहा है । स्त्री की स्वतन्त्रता का स्वांग समाप्त करके पति के स्वामित्व का शासन स्थापित किया जा रहा है ।'[२] यह मध्यवर्ग के उसी अन्तर्विरोध को स्पष्ट करता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति ने भारतीय जीवन में विशेषकर मध्यवर्ग के जीवन में जो अनेक समस्याएं उत्पन्न कर दी थीं, वर्मा जी ने अपने इस उपन्यास में उनका बड़ा ही सजीव चित्रण किया है । इस उपन्यास के माध्यम से वर्मा जी ने दिखाया है कि मध्यवर्ग में संस्कारगत भारतीयता अभी विद्यमान है, परन्तु शिक्षा, रहन-सहन एवं वेषभूषा में वह पश्चिमी सभ्यता के अत्यन्त निकट ही नहीं पहुंचता जा रहा है, वरन् चिन्तन के धरातल पर उसे अपने ऊपर आरोपित करता जा रहा है ।

इस प्रकार उपन्यास में वर्मा जी ने विवाह, प्रेम, नारी स्वतन्त्रता, प्रदर्शन-मोह, एवं कृत्रिम जीवन पर प्रकाश डालते हुए अपना निष्कर्ष यह प्रस्तुत किया है कि

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : अचल मेरा कोई (१९४८), झांसी, पृ० १२३ ।
२. वही, पृ० २४६ ।

शहर के मध्यवर्ग ने राष्ट्रीयता की चेतना पाई, उस चेतना को बहरों के मजदूर वर्ग ने सबल किया, परन्तु इन दोनों वर्गों में सहयोग होते हुए भी कुछ अन्तर बना रहा । गावों के मध्यम और मजदूर वर्गों में जात पांत के अन्तर के सिवाय कोई खास अन्तर न था । इसलिए गांवों में जो भी अन्तर हुआ उसकी गति-प्रगति शीघ्र ही द्रुत हो उठी । आंधी भी आई और आंधी पर आंधी आई । यह आंधी न केवल पुलिस थानों से टकराई, बल्कि गावों के जन्मजात अधिकारों को समूल हिला दिया ।[1] इस आंधी में मध्य वर्ग का जो बना, जो टूटा, वह इस उपन्यास में उसी का विशद चित्रण हुआ है ।

भगवती प्रसाद वाजपेयी ने अपने 'मनुष्य और देवता' (१९५४) में जाति-प्रथा को तोड़ने के नए मध्यवर्गीय दृष्टिकोण को सुधीर के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया है, "मैं उस जाति भेद में विश्वास नहीं करता, जो मनुष्य के पावन मूल्यों की नित्य अवहेलना करने के लिए आज भी हमारे सिर पर गधे के बोझ की भांति लदा हुआ है । मेरे बन्धु-बान्धव भले ही मुझे छोड़ दें, पर इस तुच्छ जातिवाद के नाम पर मैं अनामिका के आत्मदान की कभी उपेक्षा नहीं करूंगा ।"[2] मध्यवर्ग में परिश्रम की कमी और स्वार्थपरता का आधिक्य है । इसकी आलोचना करता हुआ कुंजविहारी कहता है, "जिस प्रकार पूंजीवाद बुर्ज़ुवा क्लास हमारे देश की जनता का रक्त शोषण करने में कोई बात उठा नहीं रखता, उसी प्रकार हमारे समाज का यह मध्यवर्ग भी नैतिक पतन और व्यभिचार के इस कार्य में पूर्ण रूप में संलग्न रहता है और समाज के पंडों, ठेकेदारों, व्यवस्थापकों और व्यवस्थादायकों के कानों में जूं तक नहीं रेंगती ।"[3] प्रदीप समझता है कि मध्यवर्ग का बुद्धजीवी होने के नाते उसका दायित्व है कि शासन की गलत नीतियों की आलोचना करे । उसका विश्वास है कि तथ्यों और निष्कर्षों को गलत सही प्रमाणित करने का अधिकार बुद्धिजीवी वर्ग को सदैव रहेगा । यह मध्यवर्ग की नई चेतना का ही प्रतीक है ।

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : अचल मेरा कोई (१९४८), झांसी, पृ० १८३ ।

२. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : मनुष्य और देवता (१९५४), देहरादून, पृ० २३४ ।

३. वही, पृ० ११८ ।

'चलते-चलते' (१९५१) में मध्यवर्गीय ध्वन्सोन्मुख परिवार में वासनात्मक प्रवृत्तियों का कितना आधिक्य है और बुर्जुआ मनोवृत्ति ने पारिवारिक सीमाओं को किस प्रकार विच्छिन्न कर सम्बन्धित लोगों के बीच दरारें उत्पन्न कर दी हैं, इसका अत्यन्त यथार्थवादी चित्रण किया गया है ।[१] मध्यवर्ग जो सेक्स स्वतंत्रता चाहता है और यौन स्वच्छन्दता पर बल देता है, वाजपेयी जी ने इस उपन्यास में उसका सफल अंकन किया है, राजेन्द्र जिसका प्रतीक है ।

प्रेमचन्द युग में मध्यवर्ग का जो नया दृष्टिकोण चित्रित हुआ है, वह अपनी विकृतियों के प्रति आलोचनात्मक अधिक है । उपन्यासकारों ने मध्यवर्ग की अनेक ज्वलन्त समस्याएं उठाई हैं और प्रतीक पात्रों के माध्यम से आत्मान्वेषण पर अधिक बल दिया है । उनमें न तो वैयक्तिकता का आग्रह है और न आत्मपरक दृष्टिकोण का विस्तार करने का उपन्यासकारों ने कोई प्रयत्न ही किया है । अधिकांश रूप में इस युग में मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण आर्थिक समस्याओं से अधिक जुड़ा हुआ है या फिर प्रेम-विवाह, आभूषणाप्रियता, धर्म, दहेज, आदि की समस्याओं से । इन समस्याओं में मध्यवर्ग की जागरूकता चित्रित करने के प्रति उपन्यासकारों का विशेष आग्रह रहा है ।

प्रेमचन्द के बाद पाश्चात्य प्रवृत्तियों - विशेषत: फ्रायड, एडलर और युंग के मनोविश्लेषणवाद के प्रभाव के कारण मध्यवर्ग की वैयक्तिक अनास्था तथा कुंठा का ही वर्णन हुआ है । प्राय: उपन्यासकारों ने समाज की सत्ता स्वीकार नहीं की है और मध्यवर्ग के बढ़ते हुए आत्मपरक दृष्टिकोण का ही चित्रण किया है । मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण यशपाल के उपन्यास अवश्य ही अपवादस्वरूप हैं । यशपाल तथा रांगेय राघव आदि ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रभाव के फलस्वरूप मध्यवर्ग की आर्थिक विषमता एवं नई जागरूक चेतना का व्यापक सन्दर्भों में चित्रण किया है ।

जैनेन्द्रकुमार ने प्रमुख रूप से मध्यवर्ग की नारी और पुरुष के विवाह, प्रेम एवं सेक्स

----

१. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ २६१ ।

की समस्या को ही अपने उपन्यासों में उठाया है और उसी का सन्तुलित-असन्तुलित पक्ष प्रस्तुत किया है । मध्यवर्ग की अनिश्चय प्रवृत्ति, पलायनवाद, आदर्शवाद के आरोपित आवरण में यथार्थ जीवन की विषमताओं को छिपाने की सायास प्रयत्नशीलता तथा बौद्धिकता की विवश सीमाओं का करुण चित्र खींचने में जैनेन्द्रकुमार सफल रहे हैं । उनके उपन्यास स्पष्ट करते हैं कि पुराने सामाजिक बन्धन विछिन्न हो रहे हैं, मान्यताएं टूट रही हैं तथा एक सामाजिक अव्यवस्था एवं नैतिक शिथिलता मध्यवर्ग में विकसित हो गई है, जिसकी परिणति व्यक्तिगत आत्मपीड़न में हो रही है, `परख` (१६२६), `सुनीता` (१६३४)`, `त्यागपत्र` (१६३७),`कल्याणी` (१६३६), `विवर्त` (१६५३), `व्यतीत` (१६५३), `सुखदा` (१६५४), `जयवर्द्धन` (१६५६) तथा `मुक्तिबोध` (१६५६) में उनके इसी दृष्टिकोण का प्रकाशन हुआ है ।

`परख` में मध्यवर्ग में व्याप्त धर्म के प्रति तिरस्कार भावना का संकेत देते हुए कहा गया है- `हमने तो एक शब्द में कह दिया `परमात्मा` और मानों हमने पा लिया । पर लोग हैं कि थकना ही नहीं चाहते । कहते हैं कि हम पाकर ही छोड़ेंगे । हम उनको धन्यवाद ० देते हैं, हाथ जोड़ते हैं, बड़ी श्रद्धा से, भाई खूब खोजो जितना बने उतना । पर विदा से एक दिन पूर्व यदि समाधान नहीं मिल पाए तो हमारे साथ हो जाना ।`[१] इसी प्रकार `सुनीता` (१६३४) में उन्होंने नारी की जागरूकता की ओर संकेत करते हुए मध्यवर्ग में घर और बाहर की समस्या का गहन चित्रण किया है । सुनीता के माध्यम से मध्यवर्ग की नई नारी के तन-मन के द्वन्द्व को प्रस्तुत किया गया है । सुनीता का कथन है, `हमारा यह काम है कि पुरुष को सामने चलावो जब तक वह सामने बढ़ता है, हम पीछे-पीछे हैं । जब वह पीठ की ओर भागना चाहे, तो हम सामने हो आती हैं । पुरुष इस उत्तरदायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री में गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे-आगे चलना होगा । पुरुषों के इस अधिकार के आगे स्त्री कृतज्ञ है, किन्तु

----

१. जैनेन्द्र कुमार : परख (१६२६), बम्बई, पृष्ठ १२७ ।

स्त्री का यह अधिकार है कि वह पुरुष को पदच्युत न होने दें ।'[1] यह मध्यवर्ग की वह नई नारी है, जो अपने भीतर नया आत्मविश्वास, स्वावलम्बन की भावना और उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपना निजी व्यक्तित्व बनाने में लगी हुई थी ।

त्यागपत्र (१६३७) में मृणाल के माध्यम से इस नई नारी का करुण चित्रण हुआ है, जो समाज की मंगलाकांक्षा में स्वयं टूटती चली जाती है । मध्यवर्ग की कृत्रिमता और खोखलेपन को प्रमोद के माध्यम से स्पष्ट किया गया है - 'मैं अपनी व्यर्थ प्रतिष्ठा के ठूह पर बैठा हूं । वह कृत्रिम है, क्षणिक है । हृदय वहां कहां है ? यश वहां है ? लेकिन वह सब कुछ मुझे ऊंचा उठाये हुए है । नामी वकील रहा, अब जज हूं, लेकिन सच पूछो तो मेरा जी जानता है कि वह कैसे कर्मों का फल है । कामयाब वकालत और जजी के इतने मोटे शरीर में क्यारत्ती जितनी भी आत्मा है - मुझे इसमें बहुत सन्देह है । मुझे मालूम होता है कि मैं अपने को खो चुका हूं तभी सफल जज और बड़ा वकील बन सका हूं ।'[2] इसी प्रकार जैनेन्द्र ने 'मुक्तिबोध' (१६५६) में भी मध्यवर्ग की समस्याओं को यत्र-तत्र प्रकाश डालकर स्वातंत्र्योत्तर युग में मध्यवर्ग की नई चेतना पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है, पर उसमें उन्हें विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है । उनके प्रायः सभी उपन्यासों में मध्यवर्ग की नई नारी का ही चित्रण हुआ है और मध्यवर्गीय संस्कृति की विकृतियों का करुण चित्र उपस्थित करते हुए मध्यवर्गीय पुरुष की अधिकार भावना, मिथ्या अहंकार एवं खोखली मान्यताओं पर तीव्र प्रहार किए हैं ।

इलाचन्द्र जोशी ने मध्यवर्ग की कुंठाओं का अपने उपन्यासों में विस्तार से चित्रण किया है । मध्यवर्गीय संस्कृति अपने ह्रासोन्मुख काल में अत्यन्त अन्तर्मुखी है । फलतः वैयक्तिक धरातल पर स्थिति हो जाती है, जिससे मध्यवर्ग विभ्रान्त, दिशाहीन एवं कुंठित होकर अपने सारे अर्थ खो देता है - 'लज्जा' (१६२६), 'संन्यासी' (१६४१), 'पर्दे की रानी' (१६४१), 'प्रेत और छाया' (१६४६), 'मुक्ति पथ' (१६५०),

----

१. जैनेन्द्र कुमार : सुनीता (१६३४), बम्बई, पृष्ठ ८२-८३ ।
२. जैनेन्द्र कुमार : त्यागपत्र (१६३७), बम्बई, पृ० ३७ ।

`सुबह के भूले` (१९५२), जिप्सी (१९५२) - यह सब `त्याग का भोग` के नाम से प्रकाशित है, `जहाज का पंछी` (१९५५) तथा `ऋतु चक्र` (१९६८) में जोशी जी ने इसी सूत्र को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने मध्यवर्ग के कुंठाग्रस्त पात्रों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है और प्रसंगवश मध्यवर्ग की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक समस्याएं भी चित्रित की हैं।

`संन्यासी` (१९४१) में बलदेव नामक पात्र गांधीजी को पूंजीवादियों का पिट्ठू मानकर मध्यवर्ग की आर्थिक विषमताओं एवं दूसरी समस्याओं के लिए राजनीतिक नेताओं को ही उत्तरदायी मानता है -- `केवल किसानों और मजदूरों के जीवन की कठोरता के प्रति ही आप लोगों के श्रद्धेयगण उदासीन नहीं हैं, बल्कि बीच की श्रेणी के जो जीव हैं... हमारे कष्टों का कितना अनुभव आपके नेताओं को है निर्धनता और बेकारी के सबब से हम लोगों की जो दुर्गति हो रही है, पग पग पर हमारा तथा हमारे कुटुम्बी जनों का आत्मसम्मान जिस निर्दयता से ठुकराया जा रहा है तथा उसकी खबर आपके श्रद्धालु रखते हैं।`[1] मध्यवर्ग की दयनीय दशा का विश्लेषण करते हुए बलदेव अन्यत्र कहता है, `दलितों की दीनता और निर्धनता की पराधीनता के विरुद्ध जैसी जबरदस्त आवाज़ इस युग में उठाई जा रही है, वैसी शायद ही पहले कभी किसी युग में उठाई गई हो। साथ ही धन के वैभव के प्रति मस्तक नत करने की दास प्रवृत्ति इस युग के बने हुए नेताओं के भीतर पाई जाती है, वह अतुलनीय है। इस युग के एक ओर साम्यवाद का आदर्श चरम सीमा तक पहुंचने जा रहा है और दूसरी ओर उसके पास ही पास फासिज़्म उग्रतम रूप धारण करके अपने कराल जबड़ों को दिखला रहा है। सभ्यता और संस्कृति का जैसा दर्द इस युग के विश्व नेताओं की बातों से प्रकट होता है वह किसी से छिपा नहीं है।`[2] जोशी जी का यह प्रहार उन अन्तर्विरोधों एवं विडम्बनाओं पर है जो ध्वंसोन्मुखी मध्यवर्गीय, संस्कृति के कारण सामने आ रही थीं और मध्यवर्ग खोखली मान्यताओं को आत्मसात कर रहा था।

----

१. इलाचन्द्र जोशी : संन्यासी (१९५१), इलाहाबाद, पृ० १६४।
२. वही, पृ० १८३-८४।

इसी प्रकार 'प्रेत और छाया' (१६४६) एक ओर मंजरी के रूप में क्रांतिकारी नारी का उग्र रूप सामने आता है, तो दूसरी ओर हरि वर्मा मध्यवर्ग की दयनीय स्थिति की ओर संकेत करता है - 'हम मध्यवित्तों की स्थिति जैसी दयनीय है, वैसी और किसी वर्ग की नहीं। हम लोग सैकड़ों प्रकार के लौकिक और सामाजिक नियमाचारों के सम्बन्धों से इस बुरी तरह से जकड़े रहते हैं कि उनसे छुटकारा पाना असम्भव हो जाता है।'[१] पारसनाथ को भी लगता है कि समाज एवं संसार के लिए मध्यवर्ग पूर्णतया निरर्थक सिद्ध हो रहा है - 'हम सब मध्यश्रेणी के प्राणी वर्तमान संसार के लिए निष्ट, निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं।'[२] मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण 'जहाज का पंछी' (१६५५) में भी स्पष्ट हुआ है। 'एक दिन वह भी आएगा जब सिर्फ मेरी ही नहीं, सभी की वैयक्तिक चेतना विकसित हो कर सामूहिक चेतना के विकास में सहायक होती हुई उसके साथ मिलकर एक पूर्णतः नई चेतना को जन्म देगी।'[३] इस उपन्यास में नायक हर क्षण आदर्शवादी ढंग से मध्यवर्ग की स्थिति में परिवर्तन लाने की चेष्टा में सलग्न रहता है। जोशी जी ने यह दिखाया है कि मध्य वर्ग का यह आदर्शवाद केवल एक सपना है, यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं।

यशपाल के ऊपर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव है, इसलिए प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यासकारों में मध्यवर्ग को गहराई से समझने और उसका चित्रण करने की दृष्टि से उनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने उपन्यासों में न केवल मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण ही प्रस्तुत किया है, वरन् उसकी समस्याओं का विशद विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। 'दादा कामरेड' (१६४१) में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, 'मध्यम श्रेणी अनिश्चित स्थिति के लोगों की एक अद्भुत पंचमेल खिचड़ी है। कुछ लोग मोटरों और शानदार बंगलों का व्यवहार कर विनयसे अपने आपको इस श्रेणी का अंग बताते हैं। दूसरे लोग मजदूरों की-सी असहाय स्थिति में रहकर भी

---

१. इलाचन्द्र जोशी : प्रेत और छाया (१६४६), इलाहाबाद, पृष्ठ ४०६।
२. वही, पृ० २३।
३. इलाचन्द्र जोशी : जहाज का पंछी (१६५५), बम्बई, पृ० ४०६।

केवल सफेदपोश और शिक्षित होने के बल पर इस श्रेणी का अंग होने का दावा करते हैं, देश की राजनीति और समाज-सुधार की चिन्ता जितनी इस श्रेणी में रहती है, उतनी न तो अपने विस्तृत स्थानों की चिन्ता में व्यस्त रहने वाली ऊंची श्रेणियों के और न रोटी के टुकड़े की चिन्ता से कभी मुक्ति न पाने वाली निम्न श्रेणी को ही होती है ।'[१] इस उपन्यास में वर्ग-विभाजन, शोषण एवं सामाजिक असमानता का चित्रण कर यशपाल ने मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण साम्यवादी चेतना चित्रित करने का प्रयास किया है ।

'देशद्रोही' (१९४३) में मध्यवर्ग का बुद्धिजीवी वर्ग प्रस्तुत किया गया है, जो वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर उन्मुख होना चाहता है और जो अपनी मानसिक उलझनों के होते हुए भी श्रमिक आन्दोलनों की ओर मुड़ता है । लेकिन जितना ही वह श्रमिक आन्दोलनों की ओर मुड़ता है, यौन समस्याओं मे वह उतना ही उलझता जाता है । 'मनुष्य के रूप' में भी उन्होंने मनोरमा एवं भूषण के माध्यम से मध्यवर्ग की जागरूकता पर प्रकाश डाला है और उन्हें नवीन समाजवादी चेतना को आत्मसात् करते हुए नवीन साम्यवादी दृष्टिकोण की तरफ उन्मुख दिखाया है । एक स्थान पर जगदीश कहता है, 'मैं मूर्खों और कुसंस्कारों में फंसे मिथ्याभिमानी लोगों से डरता हूं । पूरा समाज पिस रहा है । प्रकट में स्वतन्त्र होकर मैं भी पिस रहा हूं । इस अवस्था की असंगति और खोखलेपन को समझता हूं । परन्तु असमर्थ और निर्बल हूं, मेरे समझने का लाभ क्या ? लेनिन ने ठीक ही कहा है -'कर्म बिना सिद्धान्त मिथ्या और निष्फल है ।' मैं केवल विचारक हूं, कर्मठ नहीं । कर्मठ होता तो समाज को बदल देता । मैं कितना निर्बल और निकम्मा हूं ।'[२] ऐसी स्थितियां यशपाल के सभी उपन्यासों में हैं । जहां उन्होंने मध्यवर्ग के मस्तिष्क में परिवर्तन लाकर उसे मार्क्सवादी दिशा देने की चेष्टा की है ।

----

१. यशपाल : दादा कामरेड (१९४१), लखनऊ, पृ० २० ।

२. यशपाल : मनुष्य के रूप (वतन और देश), १९४६, लखनऊ, पृ० १८६-८७ ।

'झूठा-सच' में मध्यवर्ग की विभिन्न समस्याओं की यशपाल ने विस्तार से व्याख्या की है। जयदेव नारी के सम्बन्ध में स्वतन्त्र तथा प्रगतिशील विचार रखता है, पर अपनी बहन तारा के प्रति अत्यन्त रूढ़िवादी है। शीलो, तारा, कनक आदि नारी पात्र पुरुष की अधिकार लिप्सा के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाकर विद्रोह करने की चेष्टा करती हैं। मध्यवर्ग की नारी में स्वावलम्बन की भावना कितनी बलवती हो गयी है, इसका उल्लेख करते हुए कनक कहती है - 'मैं जहां भी काम करूंगी, जाना ही होगा। आखिर जो लोग अपने पांव पर खड़ी होती हैं, आती जाती ही हैं। मर्द कैसे काम करते हैं, और औरतें कैसे काम करती हैं।'[1] कनक अपने पति के साथ इसीलिए सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाती क्योंकि दोनों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। गिल जब कहता है कि उसे सहिष्णु होना चाहिए, तो वह कहती है, 'क्या सह लूं? मैं क्या प्राप्त हूं... इस घर में रहने के लिए, पत्नी बने रहने के लिए, सब तरह रिझाने के लिए, मुझे सब कुछ करना होगा? मैं स्वयं कुछ नहीं हूं? वेश्या और क्या करती होगी? कभी नहीं करूंगी, नहीं सहूंगी। मैं पत्नी नहीं हूं।'[2] यह मध्यवर्ग की नई नारी की चेतना का प्रतीक है, जो समाज में अपने विशिष्ट स्थान एवं निजी व्यक्तित्व के प्रति व्याकुल ही नहीं, सतत् रूप से प्रयत्नशील भी थी।

भगवतीचरण वर्मा ने अपने सभी उपन्यासों ('चित्रलेखा' को छोड़कर) में मध्यवर्ग की नई चेतना को स्पष्ट किया है तथा उसकी विभिन्न समस्याओं को उठाकर उनका व्यक्तिवादी समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। 'पतन' से लेकर अपने नवीनतम उपन्यास 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' तक वर्मा जी यही दृष्टिकोण लेकर चले हैं। पाप और पुण्य की खोखली मान्यताएं, प्रेम और विवाह का नया दृष्टिकोण व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना, नारी और पुरुष के सम्बन्धों की नई व्याख्या उनका मुख्य विषय रहा है।

---

१. यशपाल : झूठा-सच (वतन और देश), लखनऊ, पृ० ३७८।

२. वही (देश का भविष्य), पृ० ५३६।

'पतन' (१६२८) में मध्यवर्ग में असफल विवाह, चारित्रिक पतन एवं नारी के स्वच्छन्द प्रेम का वर्णन हुआ है । मध्यवर्ग को अपनी आर्थिक विषमता के कारण जातीय एवं सामाजिक अपमान किस सीमा तक सहना पड़ता है, इसका चित्रण प्रकाशचन्द्र के माध्यम से हुआ है । मुंशी रामसहाय मध्यवर्ग की दुर्बलताओं के प्रतीक हैं --'वे कमाते थे अपने लिए नहीं, वरन् अपने मित्रों के लिए, उनके खर्च भी अनाप-शनाप थे । जितनी उनकी बंधी हुई आय थी उसका चौगुना उनका खर्च था ।'[१] इस प्रकार इस उपन्यास में यद्यपि बहुत अधिक विस्तार नहीं है, फिर भी वर्मा ने मध्यवर्ग की आडम्बरप्रियता, प्रदर्शन-मोह एवं कृत्रिमता का यथार्थ चित्र खींचा है ।

'भूले-बिसरे चित्र' (१६५६) में मध्यवर्ग के विघटन की कथा प्रस्तुत की गई है । गत कई दशाब्दियों में मध्यवर्ग की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं के बनने और टूटने का मार्मिक चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है । मध्यवर्ग का पनपना और मध्यवर्गीय धारणाओं का ह्रास इस उपन्यास का मुख्य विषय है । 'सामन्ती परम्पराओं से सम्बन्धित, एक परिवार की चार पीढ़ियों के माध्यम से सामन्ती समाज की विशृंखलता, शिक्षित मध्यवर्ग का उदय, फिर उसकी ध्वंसोन्मुखता और युग की परिवर्तनशीलता का नवोन्मेष की भावना के परिप्रेक्ष्य में यथार्थवादी चित्रण किया गया है ।'[२] संयुक्त परिवार, स्वच्छन्द प्रेम एवं विलास, नारी की पराधीनता, दहेज-प्रथा तथा नए दृष्टिकोण की वर्मा जी ने इस उपन्यास में विशद व्याख्या की है । और मध्यवर्ग का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है ।

वर्मा जी का निष्कर्ष है कि मध्यवर्ग की सभी समस्याओं के मूल में अर्थ व्यवस्था है । ज्ञान प्रकाश एक स्थान पर कहता है, 'देश की चेतना जाग उठी है । यह जो मध्यवर्ग में बेकारी बुरी तरह बढ़ रही है, वह अपना रंग दिखाएगी ही । अब देश में हजारों लाखों ऐसे युवक हैं जो शिक्षित हैं, असम्पन्न हैं, बेकार हैं । यह क्रांतिकारी

----

१. भगवतीचरण वर्मा : पतन (१६२८), इलाहाबाद, पृ० ६२ ।

२. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१६६४), दिल्ली, पृ० ५५४ ।

आन्दोलन आखिर इसी बेकारी का अभिशाप है न। बहुत दिनों तक अंग्रेजों ने शिक्षित लोगों की बेकारी के असन्तोष को हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न खड़ा करके तथा हिन्दू-मुसलमानों को आपस में लड़ाकर दबाए रखा। लेकिन झूठे उपचारों से तो सत्य समस्याएं हल नहीं हो सकतीं।'[१] इसी प्रकार मध्यवर्ग की धार्मिक संकीर्णता का चित्रण गंगा प्रसाद के माध्यम से हुआ है। मुंशी रामसहाय के अनुसार धर्म के दो रूप होते हैं -- एक सामाजिक, दूसरा वैयक्तिक। लेकिन नवल किशोर तथा ज्ञानप्रकाश आदि मानवता को ही धर्ममानते हैं, जो मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण है।

'थके पांव' (१९६३) में भी केशव के माध्यम से मध्यवर्ग की आर्थिक, सामाजिक, समस्याओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। मध्यवर्ग की वास्तविक स्थिति क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए केशव कहता है, 'उसकी शिक्षा केवल इसलिए हुई थी कि वह नौकरी करे, बैल की भांति गृहस्थी की गाड़ी ढोए। एक क्लर्क के घर में उसने जन्म लिया था और उसके भाग्य में वहां क्लर्की बदी थी। वह उस दिन निकलपड़ा था नौकरी की तलाश में... उसके मन में किसी प्रकार का अवसाद नहीं था। किसी प्रकार की कुंठा नहीं थी, उसे पच्चीस वर्ष पहले की अपनी उस मन:स्थिति पर आश्चर्य हो रहा था। कितनी उमंगें थी उसमें। कितना उत्साह था उसके अन्दर और जैसे सब कुछ बदल गया।'[२] मध्यवर्ग की ध्वंसोन्मुखता का इस प्रकार वर्मा जी ने इस उपन्यास में भी कुशल अंकन किया है। दहेज और विवाह की समस्याओं के अतिरिक्त मध्यवर्ग में फैली हुई विकराल बेकारी का भी चित्रण बड़े ही कारुणिक ढंग से हुआ है। लेखक का कथन है, 'जिसे लोग मध्यवर्ग कहते हैं उसमें यह जीवित रहने का संघर्ष भयानक है। इस मध्यवर्ग के पास विशिष्टता का ढोंग है, सम्पन्नता का दिखावा है। इसके पास सामाजिकता है, इसके पास नैतिकता है। इन सामाजिक और नैतिक मान्यताओं का निर्माता यह मध्यवर्ग ही तो है। ये मान्यताएं केवल इस वर्ग के सत्य हैं और मान्यताओं को वह अपने

---

१. भगवतीचरण वर्मा : भूले बिसरे चित्र (१९५९), दिल्ली, पृ० ६६९।

२. भगवतीचरण वर्मा : थके पाव (१९६३), देहरादून, पृ० २७।

सिर पर लादे हुए है । इस मध्यवर्ग के पैर लड़खड़ा रहे हैं - लेकिन अपने सिर से बोझ उतार फेंकने का उसका साहस नहीं ।[१] इस उपन्यास में माया एक विद्रोहिणी नारी के रूप में सामने आती है, जो सभी मान्यताओं एवं स्वीकृत परम्पराओं को अपने नए दृष्टिकोण के सामने ठुकरा देती है । 'रेखा' (१९६४), 'सीधी सच्ची बातें' (१९६८) तथा 'सबहीं नचावत रामगोसाईं' (१९६९) में भी मध्यवर्ग के नए दृष्टिकोण का वैयक्तिक धरातल पर प्रतिफलन हुआ है ।

अमृतलाल नागर ने मध्यवर्ग की समस्याओं को अपने उपन्यासों में विस्तार से उठाया है । उन्होंने मध्यवर्ग के मनोविज्ञान को बड़ी गहराई से समझा है और उसमें जो नया दृष्टिकोण विकसित हुआ है या ह्रासोन्मुख हुआ है, उसका उन्होंने बड़ा ही सजीव चित्र उपस्थित किया है । अपने पहले उपन्यास में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है - 'मध्यवर्गीय आबरूदार अपने दिल के गुबारों को आबरू की फटी चादर में बांधकर गांव भर में उसे बिखेरते हुए चलते । इनकी दशा और भी बुरी थी । नंगे घूमने पर शान्तिपुरी धोती जोड़ों की बातें करना और बाबा राज के छत्तीस पकवानों की चर्चा करना । हर एक आबरूदार के दादा और परदादा के यहां दयाल जमींदार का दादा गुमाश्ता रह चुका था - भूख से तड़पते हुए पेट को बड़ी-बड़ी बातों से बहलाकर अपने दर्द को दिल ही दिल में कस रखने की कोशिश पानी की तरह बह जाती थी ।[२] इस मध्यवर्ग के खोखलेपन, आडम्बर-प्रियता एवं झूठे प्रदर्शन मोह की ओर संकेत करते हुए नागर जी ने इस उपन्यास में मध्यवर्ग की आर्थिक विषमताओं का कारुणिक चित्र खींचा है ।

'बूंद और समुद्र' (१९५६) मध्यवर्ग के नए दृष्टिकोण का महाकाव्य है । स्वयं नागर जी ने ही स्वीकार किया है कि 'इस उपन्यास में मैंने अपना और आपका - अपने देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण-दोष भरा चित्र ज्यों का त्यों आंकने यथामति यथासाध्य प्रयत्न किया है...[३] । इस उपन्यास में लेखक ने मध्यवर्गीय

----

१. भगवतीचरण वर्मा : थके पांव (१९६३), देहरादून, पृ० ८१-८२ ।

२. अमृतलाल नागर : महाकाल (१९४७), इलाहाबाद, पृ० ६५ ।

३. अमृतलाल नागर : बूंद और समुद्र (१९५६), इलाहाबाद, पृ० ३ ।

जीवन में चेतना के विविध स्तरों के प्रतीक चित्र और विभिन्न दृष्टिकोण बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किए हैं। महिपाल, वनकन्या और कर्नल के माध्यम से वह समूचा मध्यवर्ग जो चुक रहा है या समाप्तप्राय: हो रहा है तथा वह मध्यवर्ग जो नया स्वरूप ग्रहण करने के बिन्दु पर है, यथार्थ परिवेश में चित्रित हुए हैं। रूढ़िग्रस्त समाज की दुर्बलताएं, उसकी अव्यवस्थित मान्यताएं, उसके बहुमुखी परम्परा-पालित विकार एव दुर्व्यवस्था ही वह अथाह समुद्र है जिसमें लघु बूंद की भांति प्रत्यन्न मानव विशाल लहरों की विभीषिका में अपना निजी अस्तित्व रखते हुए भी उससे पृथक रहने को विवश है। लेकिन बूंद का अपना अस्तित्व है, यह स्वयं की इकाई में पूर्ण है। इस प्रकार इस उपन्यास में नागर जी ने मध्यवर्ग का वह दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहा है, जो अलग-अलग होते हुए भी पूर्णता में एकाकार होना चाहता है और अपनी वैयक्तिकता की रक्षा करता हुआ समाज की एकता को बनाए रखना चाहता है।

'बूंद और समुद्र' में मध्यवर्ग में व्याप्त रूढ़ियों-आडम्बरों, आस्था-अनास्था, आशा-निराशा, नैतिकता-अनैतिकता, पराजयवादी मनोवृत्ति, मिथ्या अहंकार तथा प्रदर्शनप्रियता का विराट परिप्रेक्ष्य में चित्रण हुआ है। यह वह मध्यवर्ग है जिस में 'अंग्रेजी सभ्यता की नकल धीरे-धीरे बढ़ती गई। हिन्दुस्तानी अपने को प्रगतिशील दिखाने के लिए हिन्दी को तोड़-मरोड़ कर उच्चारण करने लगे। नीम की दातुन से ब्रुश, टूथ पाउडर और पेस्ट तक, सुबह के नाश्ते में जलेबी-कचौड़ी सेलेकर मक्खन टोस्ट तक, पहनावे में पगड़ी, अचकन, दुपट्टा, दुपल्ली, चौगोशिया से लेकर अंग्रेजी फैशन तक अनेक प्रकार की बातें हुईं।'[1] यह मध्य वर्ग मिथ्या-आडम्बरों के चक्कर में पड़कर शक्तिहीन हो गया। उसमें परिस्थितियों से संघर्ष करने की कोई क्षमता शेष नहीं रह गयी। अनैतिकता के चक्कर में पड़कर वह अपना नैतिक साहस एवं आत्मबल भी खो बैठा। उसमें कितनी कमजोरियां उत्पन्न हो गई थीं, इसे महिपाल इस प्रकार स्पष्ट करता है, 'यह चोरी करते हुए मेरी आत्मा बहुत कांपी थी परन्तु अभाव के तर्कों ने मेरी आत्मा को अपने सींकचों

---

१. अमृतलाल नागर : बूंद और समुद्र (१९५६), इलाहाबाद, पृ० ५४८।

से जकड़ लिया । मैं अपनी मातृ-पितृ विहीना मांजी का विवाह शानदार करना चाहता था । ताल्लुकेदारी के वातावरण में पलकर मेरे संस्कार भी राजसी हो गए थे । उनके लिए पिछले कुछ वर्षों से जबसे कि मेरा आर्थिक जीवन संकटग्रस्त हो गयाथा, मेरे मन में एक जबर्दस्त अतृप्ति उत्पन्न हो गई थी । मेरी इस हीन भावना ने औचक में दबोच कर मेरे ईमान की इच्छा हत्या कर डाली ।[1] इस प्रकार समूचा मध्यवर्ग अपनी ही दुर्बलताओं एवं अन्तर्विरोधों का शिकार होकर ध्वन्सोन्मुखता के कगार पर खड़ा हो गया । सामाजिक अव्यवस्था से उसके सामने आर्थिक विवशताएं उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके कारण उसे नतमस्तक होना पड़ता है । 'बूंद और समुद्र' में नागर जी का निष्कर्ष है कि जन-जीवन भ्रान्तियों से जकड़ा हुआ है । ऐसी स्थिति में बुद्धिजीवी चुप भला कैसे बैठ सकते हैं । वे मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण यह स्वीकारतेह हैं कि व्यक्ति, परिवार, समाज तथा देश की प्रगति के लिए बुद्धिजीवियों को ही अपनी सहज आस्था एवं विश्वास से बढ़ना होगा -- 'मनुष्य का आत्मविश्वास जागना चाहिए । उसकी जीवन में आस्था जागनी चाहिए । मनुष्य को दूसरे के दुख-सुख में अपना सुख-दुख मानना चाहिए । विचारों में भेद हो सकता है, विचारों के भेद से स्वस्थ द्वन्द्व होता है और उससे उत्तरोत्तर उसका समन्वयात्मक विकास भी, पर शर्त यह है कि सुख-दुख में व्यक्ति का व्यक्ति से अटूट सम्बन्ध बना रहे ।'[2] तभी मध्यवर्ग की स्थिति सुधर सकती है और उसमें फिर से सन्तुलन स्थापित हो सकेगा ।

फणीश्वरनाथ रेणु ने स्वतन्त्रता के बाद मध्यवर्ग का जो सर्वथा नया दृष्टिकोण बना है, उसे अपने उपन्यासों में बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया है, विशेषत: ग्राम अंचल के परिवेश में । 'मैला आंचल' (१९५४) में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि आज के भारतीय गांवों की राजनीति मध्यवर्ग द्वारा ही संचालित है, जिसमें स्वयं भी दो वर्ग हैं - एक मध्यवर्गीय किसानों का, दूसरे सामन्ती प्रवृत्तियों के शिकार खेतिहर जमींदारों का । ममता, प्रशान्त के माध्यम से रेणु में मध्यवर्ग में होने

----

१. अमृतलाल नागर : बूंद और समुद्र (१९५६), इलाहाबाद, पृ० ६०२ ।
२. वही, पृ० ६०६ ।

वाले परिवर्तनों का संकेत दिया है। मानवता के कल्याण के लिए साधना-व्रत लेते हुए प्रशान्त लिखता है, "मैं फिर काम शुरू करूंगा - यहीं इसी गांव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूं। आंसू से भींगी धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएंगे। मैं साधना करूंगा, ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आंचल तले। कम से कम एक ही गांव के कुछ प्राणियों के मुरझाए होंठों पर मुस्कराहट लौटा सकूं - उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूं।"[१] यह मध्यवर्ग का वह नया आदर्शवादी दृष्टिकोण है जो भविष्य के प्रति आस्थावान है निष्क्रियता से नहीं, सक्रियता में विश्वास करता है।

'परती :परिकथा' (१९५७) में भी ग्रामीण मध्यवर्ग में होने वाले इन्हीं परिवर्तनों का उल्लेख रेणु ने किया है। जितेन्द्र, कामरेड मकबूल, इरावती आदि इसके प्रतीक हैं। इसमें ग्रामीण मध्यवर्ग के विभिन्न स्तरों को बड़ी कुशलता से उजागर किया गया है। 'दीर्घतपा' (१९६३) में उन्होंने मध्यवर्गीय नारी के नए दृष्टिकोण को बेला के माध्यम से प्रस्तुत किया है। 'जुलूस' (१९६५) में पवित्रा तथा नरेश वर्मा के माध्यम से बंगाल से आए हुए मध्यवर्गीय शरणार्थियों को चित्रित किया गया है। एक स्थान परपवित्रा कहती है, "मैं अकेलीनहीं हूं।मैं एक विशाल परिवार की बेटी... इन आत्मीय स्वजनों के बीच, पारस्परिक सहानुभूतियां और सहयोगिता। फिर से पनपाऊंगी, गांव समाज केलोगों के वीरान हृदय में आनन्द मुखर स्वर फिर से भरना होगा। अपरिचय अजनबीपन, उदासीनता, अकेलापन, आत्मकेन्द्रिता, विच्छिन्नता को दूर करके भूले-भटके लोगों को अपने लोगों के पास लौटाना होगा।"[२] इस प्रकार इस उपन्यास में भी रेणु मध्यवर्ग के आदर्शवादी दृष्टिकोण की ही व्याख्या करते हैं। जो नया मध्यवर्ग उभर रहा है, उसकी कर्मठता को तथा सक्रियता को रेखांकित करते हैं।

'घरौंदे' (१९४६) में रांगेय राघव ने मध्यवर्गीय छात्र जीवन के विभिन्न विचारों

---

१. फणीश्वरनाथ रेणु : मैला आंचल (१९५४), दिल्ली, पृ० ४०७।

२. वही, जुलूस (१९६५), वाराणसी, पृ० १८७।

को संगुफित किया है । छात्र वर्ग भी प्रदर्शन और कृत्रिमता का जीवन जीने का अभ्यस्त हो गया है । इस दुर्बलता की ओर संकेत करते हुए लेखक ने लिखा है, "अब कुछ दिन बाद फिर लड़कों की भीड़-भाड़ होगी और कुछ दिन बाद शोर-गुल में पूर्व और पश्चिम मिलकर नए उत्साह से मध्यवर्ग की कसौटी पर जमने की ज्यादा से ज्यादा कोशिश करेंगे । कोई सूट में होगा, कोई निकर और खुले कालर की कमीज पहनकर सूट वालों की मजाक उड़ाएगा ।"[1] लेकिन युवा मध्यवर्ग में ऐसे लोग भी हैं, जो दायित्व को पहचानते हैं । समर स्पष्ट कहता है, "हम जिस स्तर के प्राणी हैं, वह मध्यवर्ग है, जो ऊपर पैसे वालों में भी है और गरीबों को भी छूता है । मैं अपने मुल्क से पहिले अपने घर को संभालना चाहता हूं ।"[2] वीरेश्वर भी इसी प्रकार का पात्र है, जो मध्यवर्ग, विशेषत: युवा पीढ़ी को दायित्वबोध से जोड़ना चाहता है और उनमें सामाजिकता की भावना का प्रसार करके नई परिवर्तनशीलता लाने का प्रयत्न किया है । 'हुजूर' (१९५९) में एक कुत्ते के माध्यम से मध्यवर्ग की चेतना की विभिन्न पर्तों को उधेड़ने और स्पष्ट करने का रांगेय राघव ने प्रयास किया है ।

'सूरज का सातवां घोड़ा' (१९५२) में धर्मवीर भारती ने टूटते हुए मध्यवर्ग का खाका प्रस्तुत किया है, जो आस्था के लिए संघर्षरत है किन्तु खोखली नैतिकता एवं झूठी मर्यादा के चक्कर में पड़कर पराजित हो रहा है । माणिकमुल्ला, जमुना, प्रकाश और श्याम आदि के माध्यम से लेखक ने बड़ी कुशलता से आज की मध्यवर्गीय चेतना को स्पष्ट किया है । "वास्तव में आर्थिक ढांचा हमारे मन पर इतना अजब-सा प्रभाव डालता है कि मन की सारी भावनाएं उससे स्वाधीन नहीं हो पातीं और हम जैसे लोग जो न उच्च वर्ग के हो हैं, न निम्न वर्ग के, उनके यहां रूढ़ियां, परम्पराएं, मर्यादाएं ऐसी पुरानी विषाक्त हैं कि कुल मिलाकर हम सबों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि हम यंत्रमात्र रह जाते हैं । हमारे अन्दर उदार और ऊंचे

----

१. रांगेय राघव : घरौंदे (१९४६), आगरा, पृ० २ ।

२. वही, पृ० ४७ ।

सपने खत्म हो जाते हैं और एक अजब सी जड़ मूर्च्छना हम पर छा जाती है ।[1] यह मध्यवर्ग के खोखलेपन और आर्थिक विवशताओं के कारण उत्पन्न विशमता को स्पष्ट करता है ।

'सूरज का सातवां घोड़ा' में आज के मध्यवर्ग की लाचारी, कायरता, पराजयवाद एवं घुटन का चित्रण हुआ है । मध्यवर्ग की धरोहर है आर्थिक विषमता, अनमेल विवाह, और प्रेम की असफलता । आज का मध्यवर्ग जो जीवन जी रहा है, उसमें प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष । इस उपन्यास में लेखक ने दिखाया है कि नैतिक विशृंखलता मध्य वर्ग में बहुत है और इसलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता, और अन्धकार मध्यवर्ग पर आच्छादित हो गया है ।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् जो नए उपन्यासकार सामने आए हैं, उनमें सुरेश सिनहा का प्रमुख स्थान है । उन्होंने मध्यवर्ग को बड़ी गहराई से समझा है और उसकी आधुनिक चेतना के मर्म को बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया है । इस दृष्टि से स्वातन्त्र्योत्तर काल में उनका 'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) न केवल एक प्रतिनिधि रचना है, वरन् समूची हिन्दी उपन्यास परम्परा में आलोचकों ने उसे एक महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया ।[2] 'सुबह अन्धेरे पथ पर' आधुनिक चेतना सम्पन्न मध्यवर्ग के वर्णन और बिगड़ने का महाकाव्य है । इसमें मध्यवर्ग की वह पीढ़ी है जो द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में ध्वन्सोन्मुख होनी शुरू हो गयी थी और स्वतन्त्र्योत्तरकालीन भारत की वह पीढ़ी है, जो भ्रष्टाचार, घुटन, छिछली राजनीति एवं सामाजिक अव्यवस्था में मोह भंग की कटुता लेकर टूट गयी है, फिर भी अपना पथ निश्चित करना चाहती है ।

सुप्रसिद्ध आलोचक डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने ठीक ही लिखा है, 'सुबह अन्धेरे पथ पर' समकालीन मध्यवर्गीय जीवन के संकट-बोध एवं जटिल मन:स्थितियों का

---

१. धर्मवीर भारती : सूरज का सातवां घोड़ा (१९५२), इलाहाबाद, पृ० ५९ ।

२. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी उपन्यास :उपलब्धियां (१९७०), दिल्ली, पृ० १४६ ।

कुशल अंकन है । एक सुसंस्कृत अभिरुचि के साथ उसमें मनुष्य के आत्मान्वेषण पर बल दिया गया है, जिसमें मानवीय सत्य का प्रसार, गति एवं गहराई को आबद्ध करने का सफल प्रयास लक्षित होता है ।... 'सुबह अन्धेरे पथ पर' आधुनिक जीवन की विराटता के अंकन के साथ यथार्थ परिवेश में महत्वहीन मनुष्यों को सही ढंग से पहचानने का महान् प्रयास है । 'डा० नगेन्द्र के अनुसार 'सुबह अन्धेरे पथ पर' यथार्थ अंकन करने वाली अत्यन्त मार्मिक एवं प्रभावशाली कृति है । यह मध्यवर्ग की अत्यन्त मर्मस्पर्शी गाथा है । डा० सावित्री सिनहा की दृष्टि में, सुबह अन्धेरे पथ पर' आधुनिक जीवन की विसंगतियों का सही साक्षात्कार करता है । मध्यवर्ग के यथार्थ को स्पष्ट करने वाला यह एक महत्वपूर्ण उपन्यास है । सुप्रसिद्ध उपन्यासकार इलाचन्द्र जोशी के अनुसार 'नई पीढ़ी के सेक्स-जनित, कुंठाग्रस्त एवं नैराश्यपूर्ण वातावरण में 'सुबह अन्धेरे पथ पर' एक अद्भुत आश्चर्य है । मध्यवर्ग की ज्वलन्त समस्याओं को गहराई में जाकर छूने वाला एक उल्लेखनीय उपन्यास है । इसमें गरिमामय संवेदना है ।'

एक अन्य आलोचक डा० शशिभूषण सिंहल के अनुसार, 'मध्यवर्गीय परिवार के विषण्ण जीवन का अंकन उसी परिवार के भाव-प्रवण युवक की संवेदना के माध्यम से, इस उपन्यास में बड़ा मार्मिक बन पड़ा है । इसमें हमारे मध्यमवर्गीय जीवन को एक संवेदनशील नवयुवक की चेतना के माध्यम से भली प्रकार आंका और चित्रित किया गया है । मध्यमवर्ग की मनोवेदना को उपयुक्त रीति से मुखर करने वाले हिन्दी उपन्यास अभी गिनती के हैं । इसी क्रम में परमात्मा बाबू का अविस्मरणीय चरित्र कुछ ऐसी खूबी से उभरा है कि 'गोदान के होरी से टक्कर लेता हुआ है । यह उपन्यास हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों में उल्लेखनीय माना जाएगा ।' सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा के अनुसार, 'मध्यवर्ग के यथार्थ चित्रण का यह अनूठा प्रयोग है... परमात्मा बाबू का चित्रण बड़ा ही विराट एवं हृदय-ग्राही है ।... वे मन पर छाए रहते हैं । इतना आत्मविश्वास, गहन आस्था एवं संघर्षरत रहने की भावना आज के उपन्यासों में प्राय: नहीं के बराबर मिलती है ।... इसमें एक बड़ी समस्या को सफलतापूर्वक उठाया गया है' । प्रख्यात उपन्यासकार श्री नरेश मेहता ने भी स्वीकार किया है कि 'सही लेखन की प्रमुख

पहचान है, उसका जातीय होना । जातीयता से अर्थ है कि कोई रचना किस सीमा तक अपने कुल-गोत्र का प्रतिनिधित्व करती है । इसलिए सभी युग में श्रेष्ठ लेखक जातीय हुआ करते हैं । वैसे आज के नए लेखन एवं लेखक दोनों में यहपहचान उत्तरोत्तर विरल होती जा रही है । फलत: नए लेखन एवं लेखक दोनों में ही स्तर की कमी हुई है । लेकिन जब सुरेश सिनहा के उपन्यास 'सुबह अन्धेरे पथ पर' देखने को मिला, तो लगा यह पहचान विरल भले ही हो गयी हो, अभी पूर्ण शेष नहीं हुई है । इस उपन्यास के नायक परमात्मा बाबू की जीवन्तता इतनी खरी लगती है कि कब वह उपन्यास में होते हैं, तथा कब तरकारियों का झोला थामें हांफते सड़क पर होते हैं, पता नहीं चलता । सुरेश जी का यह उपन्यास मात्र कृति न लगकर दो पीढ़ियों के जीवन का प्रतिनिधित्व कर ले जाता है एक सही कृति की और क्या व्याख्या हुआ करती है ?'

'सुबह अन्धेरे पथ पर' को विभिन्न आलोचकों एवं कथाकारों की दृष्टि से परखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्मिक संवेदना का यह एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है । परमात्मा बाबू और राजू के माध्यम से सुरेश सिनहा ने मध्यवर्ग की आर्थिक विपन्नता, प्रदर्शनमोह, विचारों में विभिन्नता, आडम्बरप्रियता, खोखली जर्जर मान्यताओं पर प्रहार किया है । इस उपन्यास का उद्देश्य मध्यवर्ग की जीवन गाथा उपस्थित कर उसकी आस्था, जिजीविषा एवं संकल्प को रेखांकित करना है । परमात्मा बाबू मध्यवर्ग की यथार्थ स्थिति के प्रतीक हैं, तो राजू लेखक के विचारों का वाहक है, वह लेखक के चिन्तनशील व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है और इस नए दृष्टिकोण को प्रतिपादित करता है, जिसके माध्यम से मध्यवर्ग की स्थिति में परिवर्तन लाया जा सकता है । इस प्रकार परमात्मा बाबू लेखक के जीवन का अनुभूति पक्ष प्रस्तुत करते हैं, तो राजू विचारपक्ष । इन दोनों के संश्लेषण से उनके व्यक्तित्व का समग्र रूप उभरता एवं निखरता है ।

एक स्थान पर परमात्मा बाबू कहते हैं, 'निम्न मध्यवर्ग का हर प्राणी सपना ही देखता है । उसके साथ इतनी गरीबी और लाचारी है कि उसकी हर इच्छा अपूर्ण रह जाती है । अपना सोचा वह कुछ नहीं कर पाता । उसके जीवन में हर तरफ से अधूरापन रहता है । बस मन के सन्तोष के लिए, अपनी पीड़ा को

फुठलाने के लिए वह सपने देखता है । उसकी भूल-भुलैया में काल्पनिक सुख पाता है । मैं ही क्या, तुम क्या दिन-रात अब सपने नहीं देखती ? यह हो जाए । वह हो जाए, फलां इच्छा पूर्ण हो जाए, पर यह सब सपना ही होता है । पूर्ण कुछ नहीं होता और सारी जिन्दगी इसी भागदौड़ में निकल जाती है ।.. अब इस जिन्दगी पर एतबार नहीं रहा...'[1] । इसी को और स्पष्ट करते हुए राजू कहता है, 'पिछले दिनों मुझे लग रहा था, मेरा घर, कस्बा और शहर सब एक जंगल है, जिसमें बिचरने और जीने वाले हम जानवर लोग, आखिर हम लोगों का अस्तित्व है ही क्या ? फिर घृणा, विद्वेष, कटुता और तनाव के कंकड़-पत्थर एक दूसरे के ऊपर फेंक जानवरों की तरह गुर्रा कर अलग हो जाते हैं -- यह क्या जिंदगी है ? हम सब अपाहिजों की भांति बढ़ते अंधेरे को देख रहे हैं और कुछ भी मनोवांछित कर सकने की क्षमता से हीन-विवश होकर विकृतियों एवं विषमताओं के सम्मुख नतशिर बने रह जाने की यथार्थता अपने आप में एक ऐसी विडम्बना थी, जो हर क्षण आघात पहुंचाने के लिए यथेष्ठ थी... ।'[2] यह मध्य वर्ग की दो दृष्टियां हैं, जिसे इस उपन्यास में लेखक ने बड़ी कुशलता से अंकित किया है । मध्यवर्ग भीतर ही भीतर टूट रहा है, लेकिन बनने की एक किरण शेष है - लगने लगा था, यह नैराश्य और घुटन जीवन पथ पर काम नहीं देगा । सचमुच एक नया ज़माना आएगा और वह हमारे ही हाथों आएगा । हमें अपनी समर्थता पहचाननी है । हमारी पीढ़ी सम्भावनाओं की पीढ़ी है ।'

'सुबह अन्धेरे पथ में' में इस प्रकार सुरेश सिनहा ने मध्य वर्ग का वह नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है, जहां जीवन की सार्थकता अभी शेष है और मात्र घुटन या आत्महत्या ही एकमात्र विकल्प नहीं है । लेखक का निष्कर्ष है - 'आदमी चाहे, तो क्या नहीं कर सकता ? वह जिन्दगी का रुख बदल सकता है ।... नैराश्य एवं अन्धेरे पथ पर भटकाव से किसी की बहबूदी नहीं होगी । परिवर्तन आदमी करेगा, सरकार नहीं । सरकारें आती हैं, जाती हैं । अधिकार का लोभ

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ४५-४६ ।
२. वही, पृष्ठ ४११ ।

और मद भरा अहंकार आदमी में कलुष भरता रहता है पर आदमी की शक्ति, उसकी सक्षमता, निष्ठा और आस्था कभी नहीं मरती। आदमियत है कि आदमी अपनी असमर्थता में सक्षमता उत्पन्न करे...[1] मध्यवर्ग जो कुछ भोग रहा है, सह रहा है, उसी का यथार्थ अंकन कर सुरेश सिनहा ने नई पीढ़ी का एक नए एवं स्वस्थ दृष्टिकोण को समाज पर आरोपित करने के बजाय उन्होंने मूल्यों को मानवीय धरातल पर समझने एवं परखने का प्रयत्न किया है।

'पत्थरों का शहर' (१६७१) में भी दिल्ली के परिवेश में मध्यवर्ग को समझने एवं उसके आधुनिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसमें पुराने मध्यवर्गीय समाज का अन्त और नए का जन्म बड़ी सूक्ष्मता से रूपायित हुआ है। नवल बाबू एक स्थान पर सोचते हैं - पता नहीं क्यों उन्होंने यह स्वीकार किया था, बल्कि परिस्थितियों से बहुत हद तक समझौता कर लिया था कि अब जमाना बहुत बदल गया है। उनका जमाना नहीं है, जो बड़े होने का मतलब सबको अनुशासन में बांधे रहना होता था।'[2] ठाकुर साहब भी जानते थे कि 'आज के नकलची जमाने में आदमी भीड़ में खो न जाए, इसके लिए जरूरी है कि उसमें टेक्ट हो और कान्ट्रैक्ट भी कि कौशल और सम्पर्क, नहीं तो इसी धकापेल में कौन किसको पूछता है। सब एक दूसरे को धकिया कर जहां आगे बढ़ने के फिराक में जुटे हुए हैं, वहां हर तेज आदमी के लिए यह लाजिमी हो जाता है कि मौके-बेमौके पैंतरा बदल-बदल कर चलने की अदा सीख ले, वरना यह दुनिया उसके टुकड़े-टुकड़े कर देती है।'[3] नवल बाबू को इस नएपन पर खीझ होती है, 'कमबख्त इस जमाने की शक्ल ही ऐसी हो गयी है कि जिसे देखो नया बनने को पागल है। जो नए का अर्थ भी नहीं समझ रहा है, वह भी नया बनने की अकुलाहट में मरा जा रहा है, बेढंगी चाल चल रहा है और जो नतीजे सामने आ रहे हैं, इतने बुरे इतने कि... हरे राम! हरे राम!! इन कमबख्तों को कोई क्या कहे?.....

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१६६७), इलाहाबाद, पृ० ४१५।
२. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१६७१), इलाहाबाद, पृ० १६६।
३. वही, पृ० १७०।

बिरादरी मोड़ दो । समाज को ठोकर मार दो... धर्म खत्म कर दो क्योंकि ईश्वर मर गया है... पुरानी रस्मों और रिवाजों को आग लगा दो... अब लौभी मला ।[१] वह मध्यवर्ग की दो दृष्टिकोणों में अन्तर को सहज ही स्पष्ट करता है । नई पीढ़ी जड़-मान्यताओं तथा खोखली सामाजिक मर्यादाओं को स्वीकारना नहीं चाहती । आधुनिक मध्यवर्गीय नारी के विवाह, सम्बन्ध-विच्छेद, स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं जीवन-यापन की समस्या को भी लेखक ने बड़ी कुशलता से उठाया है । मध्यवर्ग की बेकारी, झूठ-फरेब और प्रदर्शन-मोह को लेखक ने नए मूल्यों के सन्दर्भ में उठाया है ।

इस प्रकार पूरे विश्लेषण से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राय: सभी उपन्यासकारों ने व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में मध्यवर्ग का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । उन्होंने अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार मध्यवर्ग की समस्याओं का विश्लेषण किया है और निष्कर्ष निकाले हैं । इन सभी ने मध्यवर्ग की चेतना और उसके समाज पर व्यापक प्रभाव को विभिन्न रूपों में चित्रित करने का प्रयत्न किया है । इस चित्रण में एक विशेष बात यह दृष्टव्य है कि सभी ने जो नवोदित मध्यवर्ग दिखाया है, वह समाज के प्रति विद्रोह ही में संलग्न दिखाई पड़ता है । सभी उपन्यासों में नया मध्यवर्ग आडम्बरों, रूढ़ियों एवं सामाजिक परम्पराओं को अस्वीकारता एवं नई सामाजिक व्यवस्था केनिर्माण में प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है । इसके उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और आगे भी यथास्थान किया जाएगा ।

● वैयक्तिक दृष्टिकोण और व्यक्ति की सत्ता

प्रेमचन्द ने समाज की सत्ता स्वीकार की थी और व्यक्तिगत दृष्टिकोण के स्थान पर सामाजिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी थी । यशपाल, अमृतलाल नागर, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, फणीश्वरनाथ रेणु, रांगेय राघव तथा सुरेशसिनहा आदि प्रेमचन्द के समान दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले उपन्यासकार हैं, जिन्होंने मानव-

---

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृ० ३२२ ।

मूल्यों की प्रतिष्ठा और एक नए प्रकार के मानवतावाद को जन्म दिया, जिससे मनुष्य की गरिमा फिर से स्थापित हो सके । लेकिन अज्ञेय, जैनेन्द्र कुमार, भगवतीचरण वर्मा, देवराज, मोहन राकेश, उषा प्रियंवदा आदि उपन्यासकारों ने व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को ही प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है । इनका विचार है कि व्यक्ति की सत्ता ही सर्वप्रमुख है । समाज यदि व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक नहीं तो उसके प्रति विद्रोह करना आवश्यक है । वैयक्तिक अनुभूति और चेतना ने समाज की सत्ता को पूर्णतया क्षीण कर दिया और व्यक्ति इन उपन्यासों में अधिक आत्मकेन्द्रित तथा अन्तर्मुखी बन गया है ।

इन उपन्यासों में परम्परागत प्रत्येक मान्यता के प्रति विद्रोह तथा समाज की व्यवस्था को चुनौती देते हुए व्यक्तिगत दृष्टिकोण की स्थापना का प्रयत्न लक्षित होता है । बौद्धिक विकास तथा पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के साथ अपना सामंजस्य न स्थापित करपाने की विवशता के कारण इन उपन्यासों में व्यक्ति असफल, कुंठित, और विद्रोही बनता गया है । लेकिन इस विद्रोह का कोई रचनात्मक रूप प्रस्तुत करने में ये उपन्यासकार असफल रहे हैं । अधिकांश का विद्रोह सेक्स एवं प्रेम तक ही सीमित है और फलत: सारा विद्रोह विध्वंसात्मक बनकर रह गया है । लड़की और सेक्स स्वतन्त्रता की मांग के अलावा जैसे इन उपन्यासों में कुछ है ही नहीं । घोर आत्मपरकता में डूबे हुए इन व्यक्तियों का व्यक्तिगत दृष्टिकोण स्वयं उनके ही व्यक्तित्व के विकास में कहां तक सहायक हो सकता है, इसे स्पष्ट करने में ये उपन्यासकार असफल रहे हैं । व्यक्ति की सत्ता की पृष्ठभूमि में वर्तमान के प्रति क्षोभ, अनास्था, नपुंसक व्यक्तित्व तथा निष्क्रियता ही इन उपन्यासकारों की प्रमुख देन है ।

'शेखर : एक जीवनी' का नायक शिक्षित मध्यवर्ग का प्रतीक है । वह मध्यवर्गीय वातावरण के प्रति अपना सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता, इसलिए घुटन और कुंठा अनुभव करता है । यही कारण है कि वह व्यक्तिपरक दृष्टिकोण अपना लेता है और आत्मकेन्द्रित हो जाता है । वह मध्यवर्ग की परम्पराओं से मुक्ति पाने के लिए छटपटाता रहता है, इसलिए विद्रोही हो जाता है । उसकी घोर वैयक्तिकता के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को किंचित समस्याएं अनायास आ

गई हैं, जिन्हें कुछ आलोचकों ने सामाजिकता का प्रमाण माना है, लेकिन यह धारणा मूलत: गलत है। शेखर वस्तुत: अपनी वैयक्तिकता का रक्षा के लिए ही सब कुछ करता है और जीवन में आत्मपरक दृष्टिकोण लेकर ही आगे बढ़ता है।

शेखर सर्वप्रथम शिक्षा का ही विरोध करता है क्योंकि वह उससे असन्तुष्ट है। 'शिक्षा देना संसार अपना सबसे बड़ा कर्तव्य समझता है, लेकिन शिक्षा अपने मन की नहीं। क्योंकि संसार का आदर्श व्यक्ति व्यक्ति नहीं, एक टाइप है और संसार चाहता है कि सर्वप्रथम अवसर पर ही प्रत्येक व्यक्ति को ठोंक-पीट कर, उसका व्यक्तित्व कुचलकर, उसे इस टाइप में सम्मिलित कर लिया जाए उसे मूल रचना न रहने देकर एक प्रतिलिपि-मात्र बना दिया जाए।'[1] इसी प्रकार शादी के सन्दर्भ में भी वह आत्मपरक दृष्टिकोण अपनाता है और विद्रोह करना चाहता है। शशि विवाहित होते हुए भी शेखर के लिए सर्वस्व निछावर करने में गौरव समझती है। वह कहती है, 'आज के जीवन में पुरुष की ओर से देय कुछ भी नहीं है : सख्य तो दूर, करुणा भी देय नहीं रही और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गई है, निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहें, जैसे चाहें, जहां चाहें अपनी तृप्ति की आग में होम कर दें। यह आदर्श नहीं आदर्शों की समाधि है, देह नहीं सदियों की सूखी त्वचा में निर्जीव हड्डियों का ढांचा है।'[2] और शेखर कहता है - 'कुछ करूंगा जिसे क्रान्ति कहते हैं। सब चीज़ उलट-पलट कर रख दूंगा। कुछ टूट-फूट जायेगी तो कहूंगा कि पुरानी सड़ी हुई थी।'[3] शेखर का यही विद्रोही भाव उपन्यास का मूल स्वर है, जहां वह सभी मान्यताओं को चुनौती देता है और सभी कुछ तोड़-फोड़ डालना चाहता है।

शेखर धर्म का तिरस्कार करता है। माता पिता के साथ मन्दिर जाकर भी वह

---

१. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (प्रथम भाग, १९४०), इलाहाबाद, पृ० १२६।
२. वही (दूसरा भाग - १९४४), पृ० १६८।
३. वही, पृ० ११५।

अन्दर नहीं जाता और कहता है - 'मैं ईश्वर को नहीं मानता । मैं प्रार्थना भी नहीं मानता । भवानी है । ईश्वर झूठा है, ईश्वर नहीं है ।'[१] यह उसका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ही है । वह केवल व्यक्ति की सत्ता ही मानता है, समाज की नहीं । वह स्पष्ट कहता है -'धिक्कार समाज की उन न्यूनताओं को, जो यौवन की शक्ति के खण्डन का अपराध करती हैं । धिक्कार समाज के उस मिथ्या को, जो जीवित सत्य से हेय भ्रष्ट करता है ।'[२] उसका यह दृष्टिकोण ही उसे विद्रोही बनाता है । उसमें अहं का इतना आधिक्य है कि वह कभी सन्तुलित व्यवहार नहीं कर पाता । अहं समाज के लिए सार्थक नहीं हो सकता । 'यह अहं चाहे वह अल्प हो या अनल्प - प्रगतिशील जीवन के लिए बाधक है - यह जीवन को अपूर्ण एवं संकुचित बना देता है ।... अहं मानस जलनिधि के संतरण के लिए एक ऐसा क्षुद्र यान है, जिससे सफलता प्राप्त होने की सम्भावना नहीं होती ।'[३] यही कारण है कि शेखर समाज के लिए अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर पाता ।

'नदी के द्वीप' (१६५१) में भी व्यक्ति की यही सत्ता प्रमुख है । रेखा कहती है, 'तुम समाज की दृष्टि से देखते हो, वह दृष्टि गलत नहीं है, अप्रासंगिक भी नहीं है, निर्णायक भी वह नहीं है । व्यक्ति को दबाकर इस मामले का जो भी निर्णय होगा, गलत होगा - घृण्य होगा, असह्य होगा ।'[४] भुवन का भी यही विचार है - 'मेरे कर्म का - सामाजिक व्यवहार का नियमन समाज करे, ठीक है, मेरे अन्तरंग जीवन का नहीं, वह मेरा है ।'[५] चन्द्रमाधव भी विवाह संस्था में विश्वास नहीं करता । 'मध्यवर्गीय मानदण्डों से उसके पास सब कुछ था और कोई क्या चाह सकता है ? पर दूसरे बच्चे के बाद वह गृहस्थी से टूट गया था । कोई

----

१. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (प्रथम भाग - १६४०) इलाहाबाद, पृ० ६८ ।

२. वही, पृ० ४ ।

३. डा० वेदज्ञ आर्य : कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली (१६६८) इलाहाबाद, पृ० ४२३ ।

४. अज्ञेय : नदी के द्वीप (१६५१), बनारस, पृ० २१५ ।

५. वही, पृ० २१५ ।

झगड़ा हुआ हो, शिकायत हो, ऐसी बात नहीं थी , बस यों ही तबीयत उचट गया था और वह पत्नी तथा बच्चों को छोड़ आया था, खर्चा भेज देता था, कभी-कबाह चिट्ठी लिख देता था । बस इससे अधिक उलझन नहीं थी और न वह अब चाहता था ।[1] भुवन, रेखा, गौरा तथा चन्द्रमाधव - सभी इस प्रकार घोर आत्मलिप्त हैं । यौन तृप्ति ही उनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य है । ये किसी प्रकार के सामाजिक बन्धन नहीं चाहते । नैतिकता का कोई मानदण्ड, उनके सामने नहीं है । स्वार्थपूर्ति ही उनके लिए नैतिकता है और अहं की तुष्टि ही मानव-मूल्य उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही सब कुछ है और उसकी सफलता में जब कोई बाधा उपस्थित होती है, वे समाज की प्रत्येक सीमा को विच्छिन्न कर डालने के लिए प्रस्तुत रहते हैं ।

'पथ की खोज' (१९५१) में देवराज ने भी इसी प्रकार व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है । चन्द्रनाथ साधना के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करता है, क्योंकि 'समाज सम्बन्ध, विधि निषेध, मान - सब का एक ही लक्ष्य है व्यक्ति का उत्पीड़न... क्यों वह साधना की इस असह्य वेदना, इस दुर्दम पीड़ा को दूर न करे ? क्यों वह उस आग को बुझाने का प्रयत्न नहीं करे ?'[2] लेखक ने उसके बारे में लिखा भी है, 'चन्द्रनाथ समाज के विधि निषेधों में नहीं डरता,वह धर्म की मिथ्या धारणाओं का बन्दी भी नहीं है,'[3] पति-पत्नी के परम्परागत आदर्शों को भी चुनौती देते हुए कहा गया है, 'कोई भी पत्नी जो भारतीय स्त्री की तरह स्वतन्त्र अर्जन नहीं करती, अपने पति से प्रेम करेगी क्योंकि वह उसकी जिन्दगी की सबसे बड़ी समस्या, जीविका के प्रश्न को हल कर देता है, पति को कष्ट होने पर वह दुखी होगी, इसलिए नहीं कि उसे उसके प्रति निःस्वार्थ लगाव है, बल्कि इसलिए कि उसके कष्ट से उसकी अपनी जीवनचर्या में विघ्न पड़ने की सम्भावना है ।'[4] लेखक ने इस प्रकार स्थान-स्थान पर

---

१. अज्ञेय : नदी के द्वीप (१९५१), बनारस, पृ० ४४ ।

२. देवराज : पथ की खोज (१९५१), लखनऊ, पृ० ३७५-७६ ।

३. वही, पृ० ३७६ ।

४. वही, पृ० ३८ ।

सभी मान्य परम्पराओं का मजाक बनाया है और घोर वैयक्तिक दृष्टि से उनकी परीक्षा करने का प्रयत्न किया है । इसके माध्यम से लेखक का उद्देश्य समाज के स्थान पर व्यक्ति की महत्ता एवं उसके लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग करना है ।

● नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रश्न

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उपन्यासकारों ने नवीन मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है । यद्यपि इस तरह के प्रयत्न प्रेमचन्द या उनके परवर्ती उपन्यासकारों ने भी किया था, पर यह प्रश्न तब उतना महत्वपूर्ण नहीं समझा गया । प्रश्न उठता है कि ये नए मानव-मूल्य हैं क्या ? पिछले विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि प्रारम्भ से ही भारत में समाज की सत्ता प्रमुख रही है और उसका आधार धर्म है । यहां सांस्कृतिक परम्पराएं व्यक्तियों को अनुशासनबद्ध रखने में सहायक होती रही हैं । इस सामाजिक अनुशासन में मध्यवर्ग अपना सामंजस्य बिठा पाने में असमर्थ हो रहा था, क्योंकि न तो उसमें धर्म के प्रति कोई विश्वास रह गया था और न अपने प्रति कोई आस्था । परम्पराएं या तो उसे अनुपयोगी लगने लगी थीं या रूढ़ एवं आडम्बरपूर्ण । पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की चकाचौंध में उसे अपनी सभ्यता एवं संस्कृति काफी पिछड़ी हुई प्रतीत होने लगी थी । यही कारण था कि मध्य वर्ग समाज के वातावरण से काफी असंतुष्ट हो गया था और वह अपने अनुकूल वातावरण बनाना चाहता था ।

नवीन मूल्यों की स्थापना का प्रश्न इसी असन्तोष की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ है । ये नवीन मूल्य विशेषत: प्रेम, विवाह तथा सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता से सम्बद्ध थे । नया उपन्यासकार प्रेम सम्बन्धी पूर्ण स्वतंत्रता चाहता था औरउसमें समाज का किंचित हस्तक्षेप उसे असह्य था । अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' दोनों में ही इसी प्रेम की स्वतन्त्रता का चित्रण किया है । शेखर शशि से प्रेम करता है, जो उसकी बहन लगती है और दूसरे पुरुष से विवाहित है । 'नदी के द्वीप' में चन्द्रमाधव भी विवाहित होते हुए भी रेखा तथा गौरा से सम्बन्ध स्थापित करता है - मानसिक सन्तुष्टि के लिए क्योंकि अपनी पत्नी से उसे केवल शारीरिक सन्तुष्टि मिल पाती है । इसी प्रकार

इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' तथा 'निर्वासित' में भी नई नारी का चित्रण किया है, जो भारतीय परम्परा और संस्कृत से अलग हटकर है। 'वह माता, वधू, कन्या कुछ भी न रहकर सहसा रणचण्डी भैरवी का खप्पर और त्रिशूल हाथ में लिए खड़ी हो गई।'[1] 'प्रेत और छाया' में मंजरी अविवाहित हो कर भी पारसनाथ के साथ रहती है और शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती है। जिस रात उसे पुत्र उत्पन्न होता है, पारसनाथ नन्दिनी के साथ प्रेम अभिनय कर रहा होता है।

देवराज ने 'पथ की खोज' में समाज-स्वीकृत मान्यताओं के विरोध में प्रेम की महत्ता प्रतिपादित की है। चन्द्रनाथ साधना से कहता है, 'मैं तुम्हारे व्यक्तित्व को समाज की रूढ़ियों द्वारा बद्ध और विवश नहीं होने दूंगा। इस व्यक्तित्व का मुझे मोह है, उसकी इतनी बड़ी क्षति मुझे सह्य नहीं। उसके लिए जरूरत हो तो हमें समाज का रोष सहने के लिए तैयार रहना चाहिए।'[2] मोहन राकेश ने 'अन्धेरे बन्द कमरे' (१९६१) तथा 'न आने वाला कल' (१९६८) में इन्हीं स्थितियों की कल्पना की है और प्रेम, विवाह तथा सेक्स सम्बन्धी नवीन मूल्यों की स्थापना का प्रश्न उठाया है। 'अन्धेरे बन्द कमरे' हरबंस तथा नीलिमा विवाह संस्था को नस्वाधार पर, वैयक्तिक अनुभूतियों के आधार पर स्थापित करना चाहते हैं और न आनेवाला कल में नायक अपनी पत्नी के साथ सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाता क्योंकि 'लगता था कि वह मुझे देख नहीं रही, मन ही मन उस दूसरे के साथ मेरी तुलना कर रही है जिसके साथ विवाहित जीवन के सात साल उसने पहले बिताए थे।' बानी चाहती है कि किसी भी आदमी का उस पर इतना अधिकार न हो, जिसके बिना वह जी न सके।

निर्मल वर्मा के 'वे दिन' (१९६४) में सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता की मांग की गई है। रायना अपने पति से सम्बन्ध विच्छेद कर चुकी है और किसी के साथ शारीरिक

---

१. इलाचन्द्र जोशी : निर्वासित (१९४६), इलाहाबाद, पृ० २।

२. देवराज : पथ की खोज (१९५१), लखनऊ, पृ० ३८०-३८१।

सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। यह वह 'वक्त काटने के लिए' करती है, भावुकता या समर्पण के लिए[1] नहीं। यशपाल ने 'क्यों फसे' ? (१६६८) में भी काम तृप्ति के लिए छूट मांगी है। वे विवाह तथा प्रेम को भौतिक मानते हैं किन्तु उसका सामाजिक रूप उन्हें स्वीकार नहीं।

इस प्रकार इन नवीन मूल्यों की स्थापना का प्रश्न नए तथा पुराने - दोनों ही उपन्यासकारों ने उठाया है, पर यह चुनौती मिथ्या भ्रम पर जितना आधारित है, उतना यथार्थ से नहीं। नए मूल्य मानवीयता से ही जुड़े होने पर स्थायी हो सकते हैं और उन्हीं से मानव-कल्याण हो सकता है।

● आस्थाहीन बौद्धिकता

इसी सन्दर्भ में आस्थाहीन बौद्धिकता की चर्चा की जा सकती है। हमारी संस्कृति का मूलाधार आस्था, जिजीविषा एवं संकल्प है। द्वितीय महायुद्ध ने यूरोप में जिस प्रकार संहार किया और विनाशलीला उत्पन्न हुई, उसमें अनास्था एवं पलायनवाद दो प्रमुख तत्व उभरकर बुद्धिजीवियों के सामने आए। हमारे नए उपन्यासकारों ने जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, उसका पूरी तरह अनुकरण किया और अनास्था का जन्म हमारे साहित्य में भी हुआ। इसके कारण स्पष्ट थे, एक तो ये उपन्यासकार वातावरण, परिस्थितियों एवं समाज से असंतुष्ट थे, जिससे बिना श्रम के ही उन्हें मान्यता प्राप्त हो जाए और वे इतिहास पुरुष बन जाएं। इसके लिए आस्थाहीन बौद्धिकता से अधिक सुगम उपाय उनके पास नहीं था।

इलाचन्द्र जोशी ने जिस प्रकार मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों का सहारा लेकर पात्रों की मन:स्थिति की व्याख्या की है, वह और कुछ नहीं आस्थाहीन बौद्धिकता ही है। समाज में केवल धूर्त, लम्पट और अत्याचारी पात्रों को चुनने का और क्या अर्थ हो सकता है। इसी प्रकार अज्ञेय, देवराज, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव,

---

१. निर्मल वर्मा : वे दिन (१६६४), दिल्ली, पृष्ठ ११२।

निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा आदि के उपन्यासों का मूल स्वर ही यह आस्थाहीन बौद्धिकता है, जिसका विवरण आगे के अध्यायों में यथास्थान दिया गया है ।

0000

५. चौथा अध्याय : नारी और सामाजिक संदर्भों के बदलते मानदंड

- नारियों की आरम्भिक स्थिति
- पर्दा प्रथा
- वेश्या समस्या
- वैधव्य
- नारी-शिक्षा
- विवाह
- अनमेल विवाह
- दहेज़ प्रथा
- बहु-पत्नी की समस्या
- आर्थिक स्वावलम्बन
- घर-बाहर की समस्या
- नवीन नारी मनोविज्ञान
- प्रेम, सेक्स स्वातन्त्र्य एवं समानता

हिन्दी उपन्यासों के प्रारम्भ से अब तक नारियों की सामाजिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए हैं। पहले नारियां गन्दे कपड़े की गठरी मात्र समझी जाती थीं, जिनका कोई अस्तित्व न था। न उनकी कोई सामाजिक स्थिति थी, न उन्हें शिक्षा का कोई अधिकार था। वह पुरुष के चरणों की दासी मात्र समझी जाती थी।[1] कहा जाता था कि नारी के चरण घर के बाहर केवल दो बार निकलते हैं - एक डोली के समय, दूसरा अर्थी के समय। उनपर परम्पराओं, संस्कृति की मर्यादाओं एवं सामाजिक मान्यताओं का इतना बोझ लाद दिया गया था कि उनका कोई अस्तित्व ही शेष न रह गया था। उनका अर्थ इतना ही शेष रह गया था कि जो बच्चे पुरुष उनको दें, उनका लालन-पालन करें और चूल्हा-चौका करें। इस स्थिति की प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी, जो धीरे-धीरे हुई। आर्य समाज, गांधी जी तथा एनी बेसेन्ट के प्रयत्न इस दिशा में विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप नारी की स्थिति में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं।

आज तो नारी विषयक सारी मान्यताएं ही परिवर्तित हो गई हैं। मूल्य मर्यादा और परम्परा की पुन: परीक्षा हुई है और हो रही है। उसे सारे अधिकार प्राप्त हैं और पुरुषों के चरणों की दासी मात्र न होकर आज उसका निजी व्यक्तित्व भी है। वह आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी है। उच्च शिक्षा के सारे अधिकार उसे प्राप्त हैं। उसे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में वह पुरुषों से पीछे नहीं है। इन सब बातों के होते हुए भी वेश्या तथा विधवा समस्या का अभी तक सामाजिक स्तर पर कोई समाधान नहीं निकल पाया है। बल्कि आधुनिकता कुछ इस कदर अभिशाप बन गई है कि सम्बन्ध-विच्छेद, समानता तथा बौद्धिक तृप्ति आदि कुछ नई समस्याएं ज्वलन्त रूप में सामने उपस्थित हो गई हैं, जिन्होंने तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद नारियों की स्थिति बड़ी विषम बना दी है। इस अध्याय में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत इन्हीं सब समस्याओं का विश्लेषण किया है।

---

१. अल्टेकर : पोज़ीशन आफ वुमन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन (१९५६), बनारस, पृ० २६।

● नारियों की आरम्भिक स्थिति

जैसा कि ऊपर कहा गया है, नारियों की आरम्भिक स्थिति अत्यन्त दयनीय एवं करुण थी । वे परम्पराओं के शिकंजे में बुरी तरह जकड़ी हुई थीं । पति सेवा एवं परिवार सेवा के अतिरिक्त कोई और मार्ग नहीं थी और न उनके व्यक्तित्व के विकसित होने का कोई अवसर ही दिया जाता था । आरम्भिक उपन्यासकार चूंकि अधिकांशत: सनातनधर्मी थे, अत: वे नारियों का पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित होना अनुचित मानते थे । नारियों की प्रगतिशीलता को वे अभिशाप समझते थे । किशोरीलाल गोस्वामी ने तो अपने एक उपन्यास में यहां तक लिख दिया ही था, "मेरी तो यह राय है कि लड़कियां कभी भी घर के बाहर अर्थात् पाठशाला में पढ़ने के लिए न भेजी जाएं और उन्हें घर पर ही हिन्दी और संस्कृत तथा गृह कार्य की विधिवत शिक्षा दी जाए । यद्यपि मेरी इस राय पर स्त्री शिक्षा के घोर पक्षपाती अवश्य रुष्ट होंगे, परन्तु जो मर्मज्ञ पाठक स्त्री शिक्षा की अयोग्यता का प्रत्यक्ष कुफल दे रहे हैं, वे मेरी राय पर कभी खड्ग न उठावेंगे । जो लोग यह देख रहे हैं कि अयोग्य स्त्री शिक्षा के ही कारण एक बंगालिन एक पंजाबी की पत्नी बनती है, एक 'राजरानी' एक शुद्ध किए हुए 'हिन्दू अंग्रेज़' की भार्या बनती है, एक गोरी नारी एक हिन्दू नरेश की पटरानी बनती है और एक ब्राह्मणी एक शूद्र की जोरू बनती है, तो यह कहना पड़ेगा कि स्त्रियों को उच्च शिक्षा किंवा अयोग्य शिक्षा कभी न देनी चाहिए और उन्हें पाठशाला या स्कूल भी न भेजना चाहिए ।"[१] गोस्वामी जी का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है और नारियों की सारी आरम्भिक स्थिति स्पष्ट कर देता है । स्पष्ट है ये उपन्यासकार नारी पर बिलकुल विश्वास न करते थे । उसे प्रेम या विवाह की जरा भी स्वतन्त्रता देने के पक्ष में नहीं थे और जाति, धर्म तथा परम्पराओं के बन्धन में जकड़े रखना चाहते थे ।

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी : माधवी माधव वा मदन मोहिनी (दूसरा भाग, १६१६), वृन्दावन, पृ० ७५-७६ ।

नारियों की आरम्भिक स्थिति इतनी जड़ हो गई थी कि समाज की गति अवरुद्ध हो गई थी। इन आरम्भिक उपन्यासों में नारी की स्थिति का जो चित्रण हुआ है, उससे स्पष्ट है कि उनकी स्थिति इतनी गिर गई थी कि उनके साथ पूर्णतया अमानवीय व्यवहार करने में भी समाज को कोई संकोच न था। 'अंगूठी का नगीना' (१६१८) में किशोरीलाल गोस्वामी ने लक्ष्मी के माध्यम से ऐसे चमत्कार उत्पन्न किए हैं कि आश्चर्य होता है। रामसरन लक्ष्मी से प्रेम करता था किन्तु लक्ष्मी का पिता स्वप्न देखता है कि पूर्वजन्म में लक्ष्मी मदन से व्याही थी, इसलिए वह उसका विवाह मदन से कर देता है, उसकी इच्छा जानने का कोई प्रयत्न नहीं होता और बाद में कोई बाधा न रहे, इसलिए मकान गिरने से रामसरन की मृत्यु हो जाती है। गोस्वामी जी ने पर्दा प्रथा एवं सती प्रथा का भी समर्थन किया और समाज में वेश्याओं की अनिवार्यता पर बल दिया है।

पर्दा प्रथा

प्रारम्भिक उपन्यासों में पर्दा प्रथा का घोर समर्थन प्राप्त होता है। उपन्यासकार समझते थे कि नारियों को जरा भी स्वतन्त्रता देने का अर्थ उन्हें चरित्रहीन ही बनाना है। गंगाप्रसाद गुप्त अपने एक उपन्यास में लिखते हैं, 'पर्दे का यथार्थ मतलब तो यही है कि जहां तक सम्भव हो न तो सूरत दिखाई जाए और न आवाज़ सुनाई जाए और इसी प्रकार यथासंभव न परपुरुष का मुख देखा जाए न शब्द सुना जाए।' अमानवीयता की कदाचित् इससे और कोई चरम सीमा नहीं हो सकती।

'आदर्श हिन्दू' (१६१५) में प्रियंवदा इसलिए सुखी है क्योंकि वह पर्दे में रहती है। पर्दा प्रथा का विरोध करने वालों से वह कहती है, 'उनका सुख उन्हें ही मुबारिक रहे, हम पर्दे में रहने वालियों को ऐसा सुख नहीं चाहिए। हम अपने घर के धन्धे में ही मग्न हैं।'[१] वह लज्जा को स्त्रियों का प्रधान आभूषण समझती है और पर्दे को उसकी रक्षा करनेवाला, इसलिए पर्दे को तोड़ना अनुचित समझती है।

---

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू (१६१५) काशी, पृ० ६-७।

किशोरीलाल गोस्वामी ने भी अपने कुछ उपन्यासों, विशेषत: 'राजकुमारी' में पर्दा प्रथा का समर्थन किया है। स्पष्ट है कि इन उपन्यासकारों में प्राचीन एवं रूढ़िवादी संस्कारों से लड़ने की क्षमता न था। वे नारियों पर किंचित मात्र भी विश्वास न करते थे और समझते थे कि पर-पुरुष के दर्शन मात्र से ही वे चरित्र-भ्रष्ट हो जाएंगी। इससे अधिक हास्यास्पद और कोई बात नहीं हो सकती। समाज में जिस तेजी से परिवर्तन हो रहे थे, ये उपन्यासकार या तो उसे समझने में असमर्थ थे या समझते हुए भी उसकी उपेक्षा करना आवश्यक समझते थे।

● वेश्या समस्या

वेश्या समस्या प्रारम्भ से ही एक ज्वलन्त समस्या रही है। स्त्रियाँ पुरुष की वासना का शिकार बनती रही हैं और यह अमानवीय व्यापार चलता गया है। प्रारम्भ में तो नारियों के आर्थिक स्वावलम्बन का कोई आधार नहीं था, इसलिए पति की मृत्यु पर यदि वे सती नहीं होती थीं, तो घर मेंउनके लिए कोई स्थान न होता था। ऐसी स्थिति में विवश होकर वेश्या-वृत्ति अपनाने के अलावा कोई चारा उनके लिए न था। कभी-कभी परिस्थितियों से विवश होकर भी उन्हें वेश्या बनना पड़ता था।

यह आश्चर्य का विषय है कि आरम्भिक उपन्यासकारों ने वेश्यावृत्ति का होना आवश्यक माना है। एक लेखक के अनुसार, 'बेशक रंडियां समाज में एक बला हैं - परन्तु इससे आप यह न समझ लीजिए कि ये समाज से निकाल देने के लायक हैं, फिजूल हैं और इन्हें बन्द कर देना चाहिए। नहीं, इनकी भी समाज के लिए दो कारणों से आवश्यकता है। एक यह कि जब गाने-बजाने और नाचने का पेशा करने वाली हमारी सोसाइटी में न रहेंगी तब कुलवधूएं इस काम को ग्रहण करेंगी। और दूसरे जैसे बड़े नगरों में सड़क के निकट जगह जगह पनाले बने हुए हैं, यदि न बनाए जाएं, तो शरीर के विकार को न रोक सकने पर लोग बाजार और गलियों को खराब कर डालें, उसी तरह वेश्याएं हमारे समाज से उठा दी जाएं तो घर की बहू बेटियां बिगड़ेंगी।'[१] स्पष्ट है कि ये उपन्यासकार वेश्या समस्या की गहराई

---

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू (१६१५), काशी, पृ० २१८-२१६।

में न जाकर ऊपरी सतह से ही देखते रहे । इसके मूल में उनका सनातनधर्मी विश्वास ही था । उन्होंने इस समस्या को मानवीय दृष्टि से न देखकर धार्मिक दृष्टि से देखा और उसका समाधान खोजने की चेष्टा नहीं की ।

'सेवा सदन' (१६१८) कदाचित् ऐसा पहला हिन्दी उपन्यास है, जिसमें प्रेमचन्द ने वेश्या समस्या पर मानवीय धरातल पर विचार किया है । अनमेल विवाह के कारण सुमन को परिस्थितियों से विवश होकर वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है । वह जिन परिस्थितियों में वेश्या बनती है वह बड़ी मार्मिक है । गजाधर की संकीर्णता के कारण सुमन का स्वाभिमानी मन नतशिर नहीं होता । वह सिर्फ स्पष्टत: इतना पूछती है, 'यों कहो कि मुझे रखना नहीं चाहते । मेरे सिर पाप क्यों लगाते हो ? क्या तुम्हीं मेरे अन्नदाता हो ? जहां मजूरी करूंगी वहीं पेट पाल लूंगी ।'[1] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि नारियों की वेश्यावृत्ति के पीछे पुरुष की संकीर्णता, उसकी अमानवीयता तथा नारी की मन:स्थिति न समझ सकने की असमर्थता ही विशेष कारण है । अपनी भूल को अन्त में गजाधर स्वीकार भी करता है । 'इसका कारण मेरा अन्याय था । यह सब मेरी निर्दयता और अमानुषीय व्यवहार का फल है । मुझ जैसा दुष्ट, दुरात्मा, दुराचारी मनुष्य उसके योग्य नहीं । मेरी स्थूल दृष्टि उसके गुणों को न देख सकी ।'[2] इस प्रकार सुमन को वेश्या बनाने के लिए उत्तरदायी समाज और पुरुष वर्ग की पाशविक प्रवृत्तियां थीं ।

यह एक विचित्र बात है कि मध्यवित्त समाज में उत्सव-विवाह पर आज भी वेश्याओं के नाच गाने का चलन है, जो आगे चलकर विवाहित जीवन पर भी प्रभाव डालता है । वेश्या के प्रति आकर्षण, उसकी मोहकता, धन, सुख, यौवन तथा गृहलक्ष्मी की अपेक्षा उसे अधिक सम्मान देने की मध्ययुगीन भावना प्राय: गृहलक्ष्मी को चरित्र-भ्रष्ट करने में समर्थ हो जाती है । आधुनिक जीवनकी विडम्बना हो ऐसी है । भोली

---

१. प्रेमचन्द : सेवासदन (१६१८), बनारस, पृ० ३५ ।

२. वही, पृ० २२८ ।

वेश्या के घर मुजरे में नगर के सम्मानित लोगों का भाग लेना, रामनवमी के दिन मन्दिर में भोली बाई का गाना तथा वकील पद्मसिंह के घर मुजरा ऐसी ही घटनाएं हैं, जिनमें सुमन भटक जाती है। उसने देखा कि लोग भोलीबाई का आदर सत्कार ही नहीं करते, बल्कि उससे बातचीत करने में अपना भाग्य समझते हैं।[1] इन्हीं परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए, वकील पद्मसिंह कहते हैं, "यह हमारी कुवासनाएं हैं, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएं हैं, जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया। यह दालमण्डी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिम्ब, हमारे ही अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हमारे समाज के दुराचार अग्नि के समान हैं और यह रमणीयां तृण के समान हैं।"[2] इस प्रकार प्रेमचन्द ने समस्या की गहराई में जाकर उसे मानवीय पहलू से देखने की सफल चेष्टा की है। उन्होंने उन कारणों की भी विशद व्याख्या की है, जो वेश्यावृत्ति के लिए उत्तरदायी हैं तथा इस ज्वलन्त समस्या का समाधान भी प्रस्तुत किया है - 'सेवासदन' की स्थापना की जाती है और उसका दायित्व सुमन को सौंपा जाता है।

'कंकाल' (१६२६) में प्रसाद ने वेश्या समस्या को पैने व्यंग्य के माध्यम से उठाया है, उसका विश्लेषण नहीं किया है। वे जारज सन्तानों तक ही सीमित रहे हैं। वेश्याओं को बनाने वाला यह पुरुष समाज ही है। तारा आक्रोश से कहती है, "कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं। सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलने वाले क्रूर हैं... स्त्रियों का धर्म है आघात सहन करने की क्षमता।"[3] विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक ने 'मां' (१६२६) में वेश्या समस्या के मूल में आर्थिक विवशता स्वीकार की है। निर्धनता के कारण ही बेगम अपनी बेटियों से वेश्यावृत्ति कराने को तैयार है -- "बंदी जान वेश्या होते हुए भी स्त्री थी। वह सतीत्वहीन होते हुए भी स्त्रीत्वहीन नहीं थी। उसकी रुचि भी वैसी ही थी, जैसी एक स्त्री की स्वाभाविक रुचि होती है। यह बात दूसरी थी कि धन के कारण उसे ऐसे पुरुष

---

१. प्रेमचन्द : सेवासदन (१६१८), बनारस, पृष्ठ २४।

२. वही, पृ० २१३।

३. जयशंकर प्रसाद : कंकाल (१६२६), इलाहाबाद, पृ० २२६।

का भी तिरस्कार करना पड़ता था जिससे प्रेमालाप करने में उसके हृदय को आनन्द प्राप्त होता था ।[१] इस समस्या का समाधान लेखक ने वेश्या-विवाह में सुझाया है । राधा-कृष्ण महाशय के सद्प्रयत्नों से एवं आर्थिक सहायता से उसकी दोनों बेटियों का विवाह हो जाता है और उनमें कुछ भी वेश्यापन शेष नहीं रह जाता ।

`तीन वर्ष` (१९४६) में भगवतीचरण वर्मा ने वेश्या समस्या को सामाजिक सन्दर्भों में न देखकर वैयक्तिक धरातल पर परखने की चेष्टा की है । प्रभा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण रखने वाली स्त्री है - जो विवाह को स्त्री और पुरुष के बीच आर्थिक सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करती है । वह प्रेम को कोई महत्व नहीं देती । रमेश प्रभा से निराश होकर सरोज के सम्पर्क में जाता है, जो सतीत्व से वंचित थी, नारीत्व से नहीं । सरोज के लिए गए धन से जब रमेश सम्पन्न हो जाता है तो प्रभा उससे विवाह करने को तैयार हो जाती है । इस पर रमेश व्यंग्य से कहता है, `तुम लेने को तैयार हो - देना तुम नहीं जानती । हमारे धन पर आश्रित होकर भी तुम हमारी गुलामी करने को नहीं तैयार हो बल्कि उलटे समानाधिकारों की दुहाई देकर और विशेषाधिकारों की आड़ लेकर तुम पुरुष को गुलाम बनाना चाहती हो । तुम पुरुष का धन लेती हो, पुरुष को अपना शरीर देने के बदले में - है न ऐसी बात और यह वेश्यावृत्ति है प्रभा जी ।[२] इस तरह वर्मा जी व्यक्तिवादी जीवन दर्शन के अनुसार इस समस्या को देखने की चेष्टा करते हैं और वेश्याओं की मानवीयता तथा त्याग को रेखांकित करने का प्रयास करते हैं ।

`पर्दे की रानी` (१९४१) में निरंजना धर्मी वेश्या की पुत्री है । वह कालेज में उच्च शिक्षा प्राप्त करती है । बैरिस्टर मनमोहन उसका संरक्षक है । उसका लड़का इन्द्रमोहन उसके पास आता जाता है । मनमोहन नहीं चाहता कि उसकी लड़कियां उसके घर जाएं । इससे निरंजना का स्वाभिमान जागता है और वह इसका प्रतिरोध करती है । अन्त में इन्द्रमोहन तथा उसकी पत्नी शीला को आत्महत्या करनी पड़ती है । इस उपन्यास में जोशी जी ने वेश्या समस्या को मनोविश्लेषणवादी आधार पर देखा है और उसे संस्कारों से जोड़ दिया है । `घरौंदे` (१९४६) में

---

१. विश्वम्भरनाथशर्मा `कौशिक`, `माँ` (१९३९), लखनऊ, पृ० ३०४ ।

२. भगवतीचरण वर्मा : `तीन वर्ष` (१९४६), इलाहाबाद, पृ० २५५ ।

रांगेय राघव ने नादानी वेश्या के माध्यम से उनका उग्र रूप तथा उनकी जागरूकता का चित्रण किया है ।

स्वातंत्र्योत्तरकालीन उपन्यासों में वेश्या समस्या का चित्रण उस रूप में नहीं किया गया है । लेखकों का ध्यान 'सभ्य वेश्यावृत्ति' या अनैतिक सम्बन्धों पर अधिक रहा है । अब वेश्या समस्या का रूप बदल गया है और एक विशेष मुहल्ले से उठकर यह सभ्य समाज के प्रत्येक कोने की समस्या बन गई है । खेद की बात यह है कि लेखकों ने इसे व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में न देखकर या तो व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से या अस्तित्ववादी चिन्तन को आधार पर देखने का प्रयत्न किया है ।

● वैधव्य समस्या

आरम्भिक काल में वैधव्य समस्या महत्वपूर्ण नहीं समझी जाती थी, क्योंकि तब सती-प्रथा प्रचलित थी । पति की मृत्यु के बाद पत्नी के सामने सिवाय सती होने के और कोई विकल्प नहीं समझा जाता था । उसे अपने सतीत्व की रक्षा के लिए पति की चिता पर ही भस्म हो जाना पड़ता था । यह उसके लिए विवशता थी । यही उसका धर्म था । जो ऐसा नहीं भी करना चाहती थी वह इतनी अशक्त या निरीह थी कि इस प्रथा का विरोध करना उनके लिए सम्भव न था । ऐसे लोगों की संख्या नगण्य थी । राजा राममोहन राय जैसे समाज सुधारकों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई और बाध्य होकर लार्ड विलियम बेन्टिक को कानूनी रूप से इस पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा । इस युग के उपन्यासकार पुरातनपंथी थे । मेहता लज्जा राम शर्मा ने 'आदर्श हिन्दू' तथा किशोरीलाल गोस्वामी ने 'राजकुमारी' में इस कानून का मज़ाक उड़ाया है । उनके पात्र पति की मृत्यु पर अपना शरीर छोड़ देती हैं और उपन्यासकार कहते हैं --"पतिव्रता की पराकाष्ठा... सरकारी कानून भी परमेश्वर के कानून को आगे कुछ नहीं ।"[1] यह उनका सनातनधर्मी दृष्टिकोण ही था ।

सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लग जाने के पश्चात् ही विधवा समस्या का जन्म हुआ ।

---

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू (१६१५), काशी, पृष्ठ १५१ ।

हिन्दू शास्त्रों में विधवा के पुनर्विवाह का विधान न था और पति की मृत्यु के बाद उसे उपेक्षित नारकीय जीवन जीना पड़ता था। किसी शुभ कार्य में उसका सामने पड़ जाना तक अभिशाप समझा जाता था। उपन्यासों में चुपचाप इस नारकीय जीवन जीने वाली विधवा नारियों को गौरवपूर्ण स्थान दिया गया और इसकी सीमा तोड़ने वाली नारियों को पथभ्रष्टा की संज्ञा दी गई। प्रारंभिक उपन्यासकारों ने समय के साथ यदि अपने दृष्टिकोण में बहुत परिवर्तन किया तो मात्र इतना ही कि उन्होंने विधवा जीवन का कठोरता से पालन करने का समर्थन किया है, उसे तोड़ने का नहीं।

मेहता लज्जाराम शर्मा अपने 'सुशीला विधवा' (१६०७) में इसी का समर्थन इस प्रकार कर चुके थे, 'पति के मरने पर सबसे बढ़कर धर्म तो यही है कि उसकी चिता में भस्म होकर पति का साथ दे, परन्तु आजकल ऐसा जमाना नहीं रहा, इसलिए जब तक जिए सदा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली, कभी पराए पुरुष का स्वप्न में भी ध्यान न करने वाली विधवा मरने पर स्वर्ग में पति को पाती है और फिर कभी दम्पत्ति का साथ नहीं छूटता है।'[1] अपने इसी दृष्टिकोण को उन्होंने अन्य एक उपन्यास में अधिक स्पष्ट किया है, 'जो हिन्दू समाज में विधवा विवाह अथवा तलाक का प्रचार करना चाहते हैं, वे दम्पत्ति के प्रेम पर जन्म-जन्मान्तर के साथ पर पवित्र सतीत्व पर और यों हिन्दू धर्म पर वज्र मारना चाहते हैं।'[2] किशोरी लाल गोस्वामी ने 'माधवी माधव वा मदन मोहिनी' में इसी प्रकार के विचार प्रगट किए थे। इन उपन्यासकारों में इस दृष्टि से से ज़रा भी प्रगतिशीलता न थी और न वे इस समस्या पर मानवीय दृष्टि से विचार ही करना चाहते थे। बहुत हुआ तो हरिऔध जी ने अपने 'अधखिला फूल' (संवत् २०११) में विधवा आश्रम की स्थापना का आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सन्तोष कर लिया और नायिका उस वैधव्य को स्वीकार कर लेती है, उसका प्रतिरोध नहीं करती। इसे प्रेमचन्द भी अधिक गहराई में न ले जा सके। 'प्रेमाश्रम' (१६२१) में गायत्री वैधव्य

----

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : सुशीला विधवा (१६०७) काशी, पृष्ठ ६५।

२. वही : आदर्श हिन्दू (१६१५), काशी, पृष्ठ ६५।

जीवन में ज्ञानशंकर से अपने को बचा नहीं पाती और कृष्ण की रासलीला के आडम्बर में उसके साथ वास्तविक रासलीला रचाने लगती है । उसे प्रेमचन्द का कोई सहानुभूति नहीं मिलती और उसे [illegible] करना पड़ता है ।

`प्रतिज्ञा` (१६२२) में विधवा समस्या पर प्रेमचन्द ने किंचित विस्तार से विवेचन किया है । विधवाहोने पर पूर्णा निराश्रिता हो जाती है और उसके सामने आर्थिक समस्या उत्पन्न होती है । बद्रीप्रसाद की सदाशयता के कारण वह उनके यहां शरण पाती है, पर कमला प्रसाद की वासना दृष्टि का शिकार बन जाती है । उसके माध्यम से प्रेमचन्द ने यह दिखाने का चेष्टा की है कि समाज की स्थिति विचित्र है । पुरुष के लिए सब कुछ माफ है, पर विधवा के लिए यह जीवन ही अभिशाप है । पूर्णा कहती है, `तुम मर्द हो, तुम्हारे लिए सब कुछ माफ है, मैं औरत हूं, मैं कहां जाऊंगी । डूब मरने के सिवा मेरे लिए कोई उपाय न रह जाएगा । मैं तो आज मर भी जाऊं तो किसी को कोई हानि न होगी वरन् पृथ्वी का बोझ ही हल्का होगा ।`[1] पुरुष समाज के सर्वेसर्वा बदरीप्रसाद विधवा विवाह का घोर विरोध करते हुए कहते हैं, `मैं समझता हूं इससे हमारा समाज नष्ट हो जाएगा, हम इससे कहीं अधोगति को पहुंच जाएंगे । हिन्दुत्व का रहा सहा चिन्ह भी मिट जाएगा ।`[2] अमृतराय विधवाओं की समस्या सुधारने की प्रतिज्ञा करता है । वह एक संस्था बनाता है और इस प्रकार प्रेमचन्द ने एक समाधान प्रस्तुत किया । `प्रतिज्ञा` के प्रथम संस्करण में पूर्णा की शादी हो जाती है, पर बाद के संस्करणों में वह क्यों विधवाश्रम में डाल दी जाती है, यह समझ में नहीं आता । जबकि प्रेमचन्द में स्वयं इतना साहस था कि उस युग में उन्होंने एक विधवा से विवाह किया था । इसका कारण शायद यह हो कि व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में विधवा विवाह की समस्या का समाधान स्वीकार कर लिए जाने के प्रति प्रेमचन्द आश्वस्त थे ।

`परख` (१६२६) में जैनेन्द्रकुमार ने कट्टो को जो बाल विधवा है, माध्यम से इस

---

१. प्रेमचन्द : प्रतिज्ञा (१६२२)बनारस, पृष्ठ ५६-६० ।

२. वही, पृष्ठ १३ ।

समस्या का दूसरा पहलू प्रस्तुत किया है । वह सामाजिक व्यवस्था का विरोध करती है और सत्यधन से प्रेम करने लगती है । सत्यधन कहता है, 'कट्टो की विधवा कहना 'विधवा' शब्द की विडम्बना है । विधवा हो तो भी क्या, उसका अदश्य विवाह होगा ।'[१] इसे आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिकधरातल पर प्रतिष्ठित करते हुए जैनेन्द्र कहते हैं कि विधवा विवाह में वैयक्तिक दृष्टिकोण को भी प्रधानता मिलनी चाहिए । 'पतिता की साधना (१६३६) में भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने नन्दा के विधवापन को आर्थिक समस्याओं से जोड़कर उस सामाजिक समस्या को उठाया है, जिसमें विधवा को आर्थिक सुरक्षा न मिलने पर विवश होकर वेश्या बनना पड़ता है ।

'संगम' (१६३४) में वृन्दावनलाल वर्मा ने विधवा विवाह पर बल देकर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है । सुखलाल अपने पुत्र रामचरण का विवाह गंगा विधवा से करते हुए चुनौती भरे स्वर में कहता है, 'मैं अब बिरादरी या किसी की रत्ती भर भी परवा नहीं करता । दुख के समय यह बिरादरी किस कोने में छिप जाती है । रुज्जन समाज बड़ा दुष्ट है । बिगड़े हुए को बिगाड़ता है, बने हुए को बनाता है । बिरादरी वाले हमें पहले से छोटे स्थान पर समझते हैं, अब निकाल देंगे और क्या कर सकते हैं तुम समझ लेना कि तुमने बिरादरी को खारिज कर दिया ।'[२] वर्मा जी के अनुसार संकल्प और प्रगतिशील दृष्टिकोण से ही इस समस्या का समाधान हो सकता है । जब तक धार्मिक रूढ़ियों और मिथ्या समाज-भय को तोड़ने का साहस न होगा, इस समस्या का कोई समाधान नहीं हो सकता ।

'मुक्तिपथ' (१६४८) में इलाचन्द्र जोशी ने इस समस्या को मनोविश्लेषणवादी धरातल पर ग्रहण किया है । सुनन्दा विधवा है और राजीव से प्रेम करती है । उसमें विवाह करने या सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने का साहस नहीं है । प्रतिमा उसे प्रोत्साहित करते हुए कहती है, 'एक बार दृढ़ निश्चय करके पूर्ण विश्वास के साथ खड़ी हो जाओ । देखोगी, तुम्हारा पथ रोकने वाला समस्त विश्व में एक

----

१. जैनेन्द्रकुमार : परख (१६२६), बम्बई, पृष्ठ ३३ ।

२. वृन्दावनलाल वर्मा : संगम (१६३४), लखनऊ, पृष्ठ ३०५ ।

भी नहीं है ।"[१] सुनन्दा अन्त में सारी सीमाओं से उठकर एक कर्मठ व्यक्तित्व प्राप्त करती है और राजाव की सहयोगिनी बनती है । वह पुरुष के ऊपर आश्रित रहना उचित नहीं समझती । "देशद्रोही" (१६४३) में राजबीबी अपने पति की मृत्यु पर बद्री बाबू से विवाह कर सुखी जीवन व्यतीत करती है और बाद में पता चलने पर कि उसके पति की मृत्यु की सूचना उसे गलत दी गई थी, उसके नए जीवन में कोई हलचल नहीं होती । बल्कि उसी पति को एक दिन निरीह एवं बीमार स्थिति में एक रात के लिए शरण देने में भी असमर्थ होती है । यशपाल का यह दृष्टिकोण वस्तुत: भौतिकवादी है । यह समाजवादी चिन्तन का ही परिणाम है । जब तक राज खन्ना की पत्नी थी, उसके प्रति समर्पित थी, पर बद्री बाबू से विवाह करने के बाद वह उनके प्रति समर्पित हो जाती है । यदि समाज परिवर्तनशील है, तो मानव-मूल्य भी जो समय के साथ परिवर्तित होते रहते हैं । आखिर विधवा को भी पति की मृत्यु के बाद नई परिस्थितियों से अपना सामंजस्य स्थापित करना ही पड़ेगा । वह जड़ नहीं हो सकती । "वह फिर नहीं आई" (१६६०) में विधवा श्यामला के प्रसंग में भी भगवतीचरण वर्मा का दृष्टिकोण आर्थिक स्वावलम्बन, प्रेम और विवाह का है ।

आज के उपन्यासों में विधवा समस्या का कोई चित्रण गम्भीर रूप में नहीं प्राप्त होता । इसका कारण कदाचित् यह है कि आज विधवा विवाह पर न कोई सामाजिक प्रतिबन्ध है और न उनके आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनने के मार्ग में कोई बाधा है । बल्कि एक प्रकार से इस समस्या का दो समाधान हैं - एक विवाह, दूसरा आर्थिक स्वावलम्बन - यह अन्तिम रूप में स्वीकार कर लिया है ।यही कारण है कि आज के उपन्यासों में कोई नयापन न होने के कारण इस समस्या पर कोई विचार प्राप्त नहीं होता ।

● नारी शिक्षा

अन्य बातों के अतिरिक्त प्रारम्भ में नारी शिक्षा का भी पर्याप्त विरोध किया

----

१. इलाचन्द्र जोशी : मुक्तिपथ (१६४८), इलाहाबाद, पृ० १७५ ।

जाता था। उपन्यासकारों का रूढ़िवादी वर्ग इसका पक्ष न लेना चाहता था और उसे नारी शिक्षा का अर्थ पथभ्रष्ट होना ही लगता था। जो उपन्यासकार थोड़ा उदार या किंचित प्रगतिशील बनना चाहते थे, उन्होंने अवश्य ही नारी शिक्षा का समर्थन किया है, पर उच्च शिक्षा का नहीं। वे चाहते थे कि वे घर पर ही प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर लें। नारियों का स्कूल-कालेज जाना वे अनुचित समझते थे। जब किशोरीलाल गोस्वामी 'माधवी माधव व मदन मोहिनी' में यह कहते हैं कि 'यदि नारियों को पुरुष के समान शिक्षा दी जाएगी तो 'स्त्री धर्म' से च्युत हो जाएंगी, फिर या तो उन्हें सन्तान ही न होगी। यदि होगी भी तो वह जिएगी कदापि नहीं' - तो इसके मूल में इन सनातनधर्मी उपन्यासकारों की वह काल्पनिक आशंका ही अधिक सक्रिय थी कि उच्च शिक्षा प्राप्त कर स्त्रियां पुरुषों के समान विशेषताएं प्राप्त कर लेंगी और समानता की मांग करेंगी। एक अन्य उपन्यासकार भी पुरुषों का 'बेटर-हाफ' कहना मात्र नापसन्द किंवा घृणित समझते हैं।[१] अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने अपने 'अधखिला फूल' (सम्वत् २०११) में नारी शिक्षा का समर्थन करते हुए कहा है, 'वह लड़का भला क्यों न होगा - मां जिसकी पढ़ी लिखी होगी।'

इन सभी उपन्यासकारों से बाबू व्रजनन्दन सहाय का दृष्टिकोण सबसे अलग है। उन्होंने न केवल नारी शिक्षा का ही स्पष्ट रूप से समर्थन किया, वरन् पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति की उपयोगी बातों का भी समर्थन किया है। अपने एक उपन्यास में उन्होंने लिखा है, 'मुकुन्द! प्रारम्भिक शिक्षा स्त्रियों को देने का प्रबन्ध करना और ऐसी अध्यापिकाओं का नियुक्त करना जो घर-घर घूम कर देश भर में स्त्रियों को धर्म की, नीति की, शिल्प की, पाकशास्त्र की, वैद्यक की, शिशु-सन्तान-पालन-पोषण की शिक्षा दिया करें।' धीरे-धीरे उपन्यासकारों का ऐसा वर्ग बन रहा था, जो नारी शिक्षा का समर्थन कर एक नया आदर्श स्थापित करना चाहता था। इन उपन्यासकारों ने समझ लिया था कि समय

---

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू (१६१५), काशी, पृष्ठ ३१।

जितनी तेजी से परिवर्तित हो रहा है, उसमें नारी की दुर्गति और अधिक नहीं हो सकती । अगत्या उन्होंने समाज के लिए प्रगतिशील मानदण्ड निर्मित करने प्रारम्भ किए ।

इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द अग्रणी रहे । उन्होंने प्रारम्भ से ही नारी शिक्षा का समर्थन किया और उनके सभी उपन्यासों के नारी पात्र अधिकांश रूप में शिक्षित हैं । हां उन्होंने 'गबन' या 'सेवासदन' में नारी की एक और शिक्षा का पक्ष लिया है । वह है गृह शिक्षा का । सुमन की 'चटोरी जीभ' या ठीक से घर न चला पाने के लिए पीछे वे इस गृह-शिक्षा की कमी ही मानते हैं । इसके बाद तो स्थिति इतनी बदलगई कि स्त्री शिक्षा कोई समस्या ही न रह गई । बाद के उपन्यासों के सभी नारी पात्र उच्च शिक्षा प्राप्त हैं और उनका अपना एक निजी व्यक्तित्व बनाने की भी उपन्यासकारों ने अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार चेष्टा की है ।

विवाह

विवाह के सम्बन्ध में अन्तर्जातीय आरम्भिक उपन्यासकारों का दृष्टिकोण आदर्शवादी था । न तो वे विवाह के पक्ष में थे, न प्रेम विवाह के । विवाहित जीवन में वे पत्नी की एकमात्र स्थिति यह समझते थे कि वह पति के चरणों की दासी बनकर रहे । मेहता जी अपने उपन्यास में प्रियंवदा को यह शिक्षा ही देते हैं, 'वह पति की दासी बन कर रहे, पति को अपना जीवन सर्वस्व समझे, पति चाहे काना, कुरूप हो, कलंकी हो, कोढ़ी हो, कुकर्मी हो, क्रोधी हो स्त्री के लिए पति के सिवाय दूसरी गति नहीं । संसार में परमेश्वर के सिवाय कोई नहीं परन्तु स्त्री का पति ही परमेश्वर है ।'[1] गोस्वामी जी ने भी इसी प्रकार विचारधारा प्रगट की है ।[2] इन आरम्भिक उपन्यासों में विवाह सम्बन्धी जो भी मत प्राप्त होते हैं, वे परम्परागत आदर्शों के अनुरूप हैं ।

----

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू (१६१५), काशी, पृष्ठ ३३ ।

२. किशोरीलाल गोस्वामी : अंगूठी का नगीना (१६१८), वृन्दावन, पृष्ठ २१६ ।

प्रेमचन्द भी विवाह को धर्म मानकर ही चले थे। 'वरदान' में विरजन प्रतापचन्द से प्रेम करती है, किन्तु कमलाचरण से विवाह हो जाने के उपरान्त दाम्पत्य जीवन की उपेक्षा नहीं करती, क्योंकि 'प्रेम और वस्तु है, सुहाग और वस्तु है, प्रेम चित की प्रवृत्ति है, और विवाह पवित्र धर्म है।'[1] 'कायाकल्प' में वागेश्वरी अहिल्या को समझाती है, 'पति ही स्त्री का सर्वस्व है, जिसने अपना सर्वस्व खो दिया उसे सुख कैसे मिलेगा।'[2] इसी उपन्यास में स्त्री को पुरुष का पूरक स्वीकार किया गया है। यशोदानन्दन के विचार से यदि स्त्री और पुरुष के विचार एक से हों तो स्त्री पुरुष के कामों में बाधक होने के बदले में सहायक हो सकती है। इसीलिए इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने यह धारणा प्रगट की है कि विवाह के पूर्व दोनों की स्वतन्त्र राय लेना आवश्यक है। उन्होंने विवाह की सफलता के लिए आत्मदान, एकनिष्ठता तथा त्याग पर बल दिया है।

'कर्मभूमि' (१६३२) में विवाह की पवित्रता पर बल देते हुए उसका धार्मिक रूप पुन: स्वीकार किया गया है। नैना कहती है जो विवाह को धर्म का बन्धन नहीं मानता, उसे केवल वासना की तृप्ति का साधन समझता है वह पशु है।[3] इसके विपरीत 'गोदान' (१६३६) तक प्रेमचन्द की धारणा पर्याप्त परिवर्तित हो चुकी थी, वे प्रगतिशील विचारों को प्रारम्भ से ही चित्रित करते रहे। 'गोदान' उनका चरमोत्कर्ष है। इसमें सरोज कहती है, 'हम पुरुषों से सलाह नहीं मांगतीं। यदि वे अपने बारे में स्वतन्त्र हैं तो स्त्रियां भी अपने बारे में स्वतन्त्र हैं। वह केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।'[4] सरोज सिर्फ यह कहती ही नहीं अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखा भी देती है। सम्पादक ओंकारनाथ भी विवाह के सम्बन्ध में स्त्री-पुरुष के समानाधिकारों के पक्षपाती हैं। मालती एक कदम आगे जाकर विवाह को 'आत्मा का कारागार' समझती है और अपनी शक्ति को गृहस्थी के झंझटों में न फंसाकर मानवता के हित में लगाना अधिक उचित समझती है।

---

१. प्रेमचन्द : वरदान (१६१८), बनारस, पृष्ठ १५० ।

२. प्रेमचन्द : कायाकल्प (१६२८), बनारस, पृष्ठ ५०६ ।

३. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१६३२), बनारस, पृष्ठ २५३ ।

४. प्रेमचन्द : गोदान (१६३६), बनारस, पृष्ठ १६७ ।

प्रेमचन्द के बाद उपन्यासों में विवाह सम्बन्धी अधिक उदार दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है । जहां पुरातन दृष्टिकोण चित्रित भी हुआ है, व्यंग्य के रूप में । उपन्यासकारों ने नारियों को विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता देने की मांग की क्योंकि वे उनके व्यक्तित्व का अधिक कुचला जाना सहन नहीं करते थे । पर इस स्वतन्त्रता की भी सीमाएं थीं । वृन्दावनलाल वर्मा ने 'अमरबेल', 'अचल मेरा कोई', 'संगम', भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'चलते-चलते', 'मनुष्य और देवता' तथा 'विश्वास का बल' आदि में जाति भेद तोड़ने, नारियों को अपनी रुचि का विवाह करने की छूट देने और प्रेम विवाह करने में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है । लेकिन बाद के उपन्यासकारों ने इससे भी आगे जाकर विवाह संस्था का या तो मज़ाक बनाया है या उसे इतना शिथिल कर दिया है कि वह स्वतन्त्र भोगाचार्य का ही दूसरा रूप बन जाता है ।

जैनेन्द्रकुमार के 'सुनीता' (१९३३) में सुनीता अपने पति के निर्देशानुसार हरिप्रसन्न की वासना को मिटाने का प्रयत्न करना ही आर्य नारी का धर्म समझती है । 'त्यागपत्र' (१९३६) में मृणाल विवाह की पूर्ण स्वतन्त्रता चाहती है - इस सीमा तक चाहे जीवन नष्ट हो जाय । जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों में मूल स्वर ही यह है कि नारी पुरुष के अत्याचार को सह नहीं सकती । यदि पुरुष पत्नी के साथ नहीं रहना चाहता तो नारी को अलग रहना चाहिए । वह उसे विवश कैसे कर सकती है । मृणाल कहती है, "मैं स्त्री धर्म को पति धर्म ही मानती हूं । उसको स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती । क्या पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता, तब भी अपना भार उस पर डाले रहे ।"[1] अपने अन्य उपन्यासों में जैनेन्द्र ने विवाह को आर्थिक समस्या से जोड़ा है और स्पष्ट किया है कि विवाह सुख के लिए आर्थिक सम्पन्नता आवश्यक है । धर्मनीति को बाद में और अर्थनीति को पहले देखना 'सुखदा' (१९५२) का मूल स्वर है ।

यशपाल ने 'मनुष्य के रूप' (१९४९) में विवाह में स्त्री पुरुष की स्वतन्त्रता पर ही बल दिया है, "जो मर्द औरत एक साथ रहना चाहते हैं, उन्हें जबरदस्ती दूर

---

१. जैनेन्द्रकुमार : त्यागपत्र (१९३६), बम्बई, पृष्ठ ५१ ।

रखिएगा तो वे मिलने की चेष्टा में बदमाश बनेंगे ही । उन्हें एक साथ रहने दीजिए बदमाशी खत्म हो जाएगी ।... आखिर उसे किसी मर्द के हवाले करियेगा ही ? जिसे वह चाहती है वही क्या बुरा है ।'[१] यह यशपाल का प्रगतिशील दृष्टिकोण है । 'झूठा-सच' में भी यशपाल ने जबर्दस्ती विवाह बन्धन को लादने का परिणाम तारा, सोमराज तथा शीलो-मोहनलाल की असफलता में दिखाया है । 'बारह घंटे' (१९६१) में भी पामर लॉरेन्स से बिर्मा के सम्बन्ध में कहता है, 'विवाह और प्रेम के सम्बन्ध में हम लोग पश्चिम की तरह छिछले और अस्थिर नहीं हो सकते । झगड़ा हुआ, तलाक हो गया, नई शादी हो गई । इस हफ्ते विधुर, विधवा हुए दूसरे हफ्ते नई शादी कर ली, जैसे एक नौकरी छूटी दूसरी कर ली, गेम में पार्टनर बदल लिया ।'[२] यशपाल का दृष्टिकोण इस कथन से और भी स्पष्ट हो जाता है । वे समानाधिकारों और स्वतन्त्रता की बात करते हैं, पर पश्चिम के नकल के पक्षपाती नहीं है ।

भगवतीचरण वर्मा विवाह को आर्थिक सुविधा मानते हैं । उनका विचार है कि स्त्री इसलिए विवाह करती है क्योंकि उसे आर्थिक संरक्षण और सुखसुविधा चाहिए । 'तीन वर्ष' में रमेश प्रभा और सरोज के प्रसंग इसके प्रमाण हैं । 'भूले बिसरे चित्र' में नवल अपनी आर्थिक विवशता के कारण ही वह उषा से विवाह नहीं करता । विद्या भी विवाह के रूप में 'गुलामी के वातावरण' को चूर-चूर करके अपना मार्ग स्वयं निकालने का संकल्प लेती है । यह नारी की नई चेतना है, जो आज के उपन्यासों में देखी जा सकती है ।

'शेखर : एक जीवनी' में भाई-बहन के रूप में शेखर और शशि प्रेम करते हैं, विवाह भी करना चाहते हैं, पर उनमें इतना नैतिक साहस नहीं है कि वे इस बन्धन को तोड़ सकें । इसका परिणाम शशि के विवाहित जीवन की असफलता में होता है । सुरेश सिनहा के 'सुबह अंधेरे पथ पर' (१९६७) में भी राजू अपने मौसेरी बहन मीरा के साथ

----

१. यशपाल : मनुष्य के रूप (१९४९), लखनऊ, पृष्ठ ७४-७५ ।

२. यशपाल : बारह घंटे (१९६२), लखनऊ, पृष्ठ १०५ ।

विवाह करना चाहता है, पर वहाँ समाज के बन्धन उसके रास्ते में रोड़े बन जाते हैं। देवराज के 'पथ की खोज', धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' में भी सड़ी-गली विवाह परम्पराओं की तीव्र आलोचना की गई है। डा० शुक्ला चन्द्र से कहते हैं, 'सचमुच जाति, विवाह तथा परम्पराएं सभी बहुत बुरी हैं। बुरी तरह सड़ गई हैं। मेरा तो इस अनुभव के बाद सारा आदर्श ही बदल गया।'[1] अन्त में जाति प्रथा के घोर समर्थक डा० शुक्ला अन्तर्जातीय विवाह स्वीकार करते हैं। राजेन्द्र यादव के 'अनदेखे अनजाने पुल' (१९६३) में सौन्दर्य विवाह का मानदंड बनकर आज के समाज में आता है और शिक्षा-संस्कार सब पीछे रह जाते हैं। 'राग दरबारी' (१९६८) में बेला का विवाह सामाजिक रूढ़ियों के कारण नहीं होता।

इस प्रकार आज के उपन्यासों में विवाह के पीछे सौन्दर्य, अर्थ या अन्य सामाजिक रूढ़ियां अब भी सक्रिय हैं। उनके चित्रण में वैयक्तिक दृष्टिकोण अधिक प्रमुख हो गया है। विवाह यदि असफल हो गया है, तो उसे घसीटने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। विवाह में धर्म, जाति तथा सम्प्रदाय के बन्धन पर्याप्त अंशों में शिथिल हो गए हैं। नारियों का अपना निजी चुनाव, दोनों की सहमति, समझदारी और विश्वास अब विवाह के अधिक महत्वपूर्ण आधार बन गए हैं।

● अनमेल विवाह तथा दहेज प्रथा

नारियों का अनमेल विवाह हमारे भारतीय समाज में बहुत बड़ा अभिशाप है। इसके मूल में प्रमुख कारण दहेज प्रथा ही है। विवाह में ऊंचे दहेज न दे सकने के कारण ही अनमेल विवाह करने की विवशता होती है। दूसरा कारण जो विशेषत: आरम्भिक उपन्यासों में देखने में मिलता है, वह लड़के लड़कियों को विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता का न देना है। स्वच्छन्द प्रेम को प्रारम्भ में सामाजिक स्वीकृति न मिल सकी थी। इसलिए किशोरीलाल गोस्वामी के अधिकांश उपन्यासों में स्वच्छंद

----

१. धर्मवीर भारती : गुनाहों का देवता (१९४९), इलाहाबाद, पृ० २७४।

प्रेम का चित्रण होते हुए भी अनमेल विवाह होता है और दोनों घुटते रहते हैं। 'सौन्दर्योपासक' (१६१२) में ब्रजनन्दन सहाय ने मालती के रूप में ऐसी अनमेल विवाह का चित्रण किया है, जो अन्त में घुटते-घुटते तपेदिक से मर जाता है।

'निर्मला' (१६२२) इस दृष्टि से कदाचित् सबसे मार्मिक उपन्यास है, जिसमें दहेज न दे सकने के कारण निर्मला का विवाह कई बच्चों के पिता तोताराम से हो जाता है। 'अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुराकर निकलती थी, अब उनकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नहीं सम्मान की वस्तु समझती थी। उनसे भागती फिरती, उनको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी।'[1] इसका दुष्परिणाम यह होता है कि तोताराम की सारी गृहस्थी उजड़ जाती है और स्वयं निर्मला भी अन्त में मर जाती है।

'त्यागपत्र' (१६३७) में जैनेन्द्रकुमार ने अनमेल विवाह के दुष्परिणाम मृणाल के माध्यम से चित्रित किया है। उसका विवाह भी बिना सोचे समझे बिना मृणाल की सहमति के कर दिया जाता है और अन्त में उसे विभिन्न पीड़ा भरी परिस्थितियों से गुजर कर मरना पड़ता है। 'सेवा सदन' (१६१७) में सुमन का अनमेल विवाह दहेज प्रथा के कारण ही होता है। दरोगा कृष्णचन्द्र घूसखोर न थे, इसलिए दहेज में मुंहमांगी रकम दे सकने लायक धन उनके पास एकत्रित न हो सका। इस दहेज प्रथा के कारण ही सुमन वेश्या बनने पर बाध्य होती है।

'थके पांव' (१६६३) में भगवतीचरण वर्मा ने दहेज समस्या की ओर संकेत करते हुए कहा है कि दहेज प्रथा इतनी विषम हो गई है कि अब कोई लड़के की योग्यता भी नहीं देखता - बस दहेज की मांग कर बैठता है। बांकेलाल का पुत्र गोपीनाथ तीन साल लगातार फेल होने के बाद चुंगी का चालीस रुपए का इन्स्पेक्टर बन सका था। उसका दहेज पांच हजार बांकेलाल ने मांगा था। देहराज के 'बाहर

----

१. प्रेमचन्द : निर्मला (१६२२), बनारस, पृष्ठ ३७।

भीतर` (१६५४) में सुमित्रा का जीवन इसलिए सुखी नहीं रह पाता कि दहेज प्रथा के कारण उसका विवाह किशन से हो जाता है, जो किसी भी दृष्टि से उसके अनुकूल नहीं था। वह राजन से कहती है, `शादी मैंने नहीं की देवर, हमारे देश में लड़कियों की शादियां कर दी जाती हैं। मेरे पिता रईस न थे। फिर दूसरा कौन मुझसे शादी करता ?`[1]

`सुबह अन्धेरे पथ पर` (१६६७) कदाचित् इधर के उपन्यासों में एकमात्र ऐसा उपन्यास है, जिसमें दहेजप्रथा की भयानकता पर विचार किया गया है। कीर्ति का शीघ्र उपयुक्त वर से विवाह इसलिए नहीं हो पाता क्योंकि परमात्मा बाबू के पास दहेज़ के लिए पैसे न थे। रामरतन जी जिस सफाई से दहेज की मांग करते हैं, उस पर उबलते हुए राजू कहता है,`हिन्दू समाज में नारी की स्थिति भी एक खिलौना है। वह एक बड़े तमाशे का अंग है। वर्तमान व्यवस्था में शादी-व्याह एक ढकोसला नहीं तो और क्या है ? प्रगतिशीलता की धुन में हम सभी कहते हैं, नारी मां है, श्रद्धा की पात्रा है। उसमें अपरिमित शक्ति है, वह जीवन निर्माण करने वाली है, जीवनदायिनी है और जाने क्या ?... जब विवाह की स्थिति आती है, गृहस्थी के वास्तविक संचालन करने की बात आती है, तो होता क्या है ? नारी का सौदा, उसके शरीर के अंगों की जांच, उसके बाह्यरूप की परख और उसके टीम-टाम की तौल। उस समय तथाकथित सारी प्रगतिशीलता पीछे रह जाती है, सामने आता है, मनुष्य का पशुत्व, समाज की अन्धी-कोढ़ी परम्पराएं और रूढ़ मान्यताएं।`[2] लेखक के एक अन्य उपन्यास `एक और अजनबी` (१६६३) में भी मीनल की दुर्गति अनमेल विवाह और दहेज़ प्रथा के दुष्परिणामों के कारण होती है।

इस समस्या की ओर खेद है कि स्वतंत्र्योत्तरकालीन उपन्यासकारों ने विशेष ध्यान नही दिया है, जबकि अब भी यह एक विकराल समस्या के रूप में बनी हुई है। `सुबह

---

१. देवराज : बाहर-भीतर (१६५४), दिल्ली, पृष्ठ ४४।

२. सुरेश सिनहा : `सुबह अंधेरे पथ पर` (१६६७) इलाहाबाद, पृष्ठ १६६।

अन्धेरे पथ पर', 'एक और अजनबी' तथा 'बाहर भीतर' अपवाद स्वरूप है । यद्यपि दहेज़ पर संसद ने कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया है, पर यह आज जिस परिवर्तित रूप में स्वीकार किया जाता है, इसका मार्मिक विवरण 'सुबह अन्धेरे पथ पर' में प्रस्तुत किया है । इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि अनमेल विवाह और दहेज़ प्रथा आज भी हमारे समाज में प्रचलित हैं । सभ्यता के चरम विकास के उस युग में इससे बढ़कर अमानवीयता और क्या हो सकती है ? आज जो परिवर्तन समाज में हो रहे हैं, उसमें आज का उपन्यासकार आधुनिकता के चक्कर में पड़कर इन विषमताओं की ओर से आंखें बन्द किए हुए है, यह दुखपूर्ण है ।

● बहु-पत्नी की समस्या

आरम्भिक उपन्यासकारों में केवल किशोरीलाल गोस्वामी ही ऐसे उपन्यासकार हैं, जिन्होंने बहु-पत्नी की समस्या का जोरदार समर्थन किया है । उनके एक उपन्यास में सज्जनसिंह की पत्नी सुशीला यह जानकर कि उसका पति सुन्दरी से प्रेम करता है, दूसरा विवाह कर लेने की सहर्ष अनुमति देते हुए कहती है, 'धर्म शास्त्र में स्त्री के लिए केवल एक ही विवाह के लिए व्यवस्था है, पर पुरुष असंख्य विवाह कर सकते हैं । अतएव जब मैंने यह बात जानी कि तुम दोनों निष्कलंक हो तब मुझे क्या उज्र हो सकता ही था कि मैं तुम्हारे सुख में व्यर्थ कांटे बोती । सुनो, तो प्यारे । क्या बहिन बहिन, सहेली सहेली एक साथ नहीं रहीऔर क्या, आज तक दो सौतिनें आपस में मिलजुल कर नहीं रही हैं ।'[१] वास्तव में उस समय समाज की स्थिति विचित्र थी । सामंती व्यवस्था में एक से अधिक पत्नी रखना अपनी ऊंची स्थिति का परिचय देना था । बहु पत्नी परम्परा पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं था । स्वयं समाज इसे प्रशंसा की दृष्टि से देखता था और ऐसी व्यक्तियों का समाज में आदर-सम्मान होता था ।

'कायाकल्प' (१६२८) में राजा विशालसिंह तीन पत्नियों के पति के रूप में इस

----

१. किशोरीलाल गोस्वामी : पुनर्जन्म वा सौतिया डाह (वृन्दावन),पृ० ३१ ।

समस्या को प्रस्तुत करते हैं । भोग, विलास और ऐश्वर्य के मोहवश मनोरमा अपने आदर्श प्रेमी चक्रधर को छोड़कर बूढ़े राजा साहब का विवाह प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है । इसके पीछे प्रेमचन्द यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि सामाजिक व्यवस्था में जब तक वर्ग विभाजन बना रहेगा और एक वर्ग अधिक सम्पन्न बना रहेगा, सुख-लालसा के नाम पर स्त्रियां ऐसी ही बिकती रहेंगी । इसके विपरीत वृन्दावनलाल वर्मा के 'कुंडलीचक्र' (१६३२) में पूना इस अमानवीयता के विरुद्ध विद्रोह करती है और किसी भी मूल्य पर एक पत्नी के होते हुए दूसरी पत्नी बनना स्वीकार नहीं करती । वह अपने जीजा भुजबल के कुचक्रों का साहस से सामना करती है और अपने प्रेमी अजित से भी सहायता लेती है । वह आत्महत्या के लिए प्रस्तुत हो जाती है, पर भुजबल से विवाह के लिए नहीं । अन्तत: उसका विवाह पूना से हो जाता है । विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'भिखारिणी' (१६३४) में यशोदा भी इस अमानवीयता का विरोध करती है । यशोदा के पिता नन्दराम उसे दूसरी पत्नी बनने के लिए समझाते हुए कहते हैं, 'तो क्या हुआ, एक आदमी के क्या दो विवाह नहीं होते ।'[१] यशोदा इसे स्पष्टत: अस्वीकार कर देती है ।

मनोरमा शिक्षित दीवान की पुत्री होते हुए भी इस कुप्रथा का विरोध नहीं करती, जबकि पूना और यशोदा निम्नवर्गीय होते हुए भी विद्रोह का स्वर ऊंचा करती हैं । यह समाज में नारी जागरण का ही प्रतीक है, जो साहसपूर्वक समाज की पिछली पीढ़ी की मान्यताओं को ठुकरा देती हैं । आज बहु विवाह कानूनी रूप से अवैध घोषित कर दिया गया है । साथ ही आर्थिक विषमताएं ऐसा करने भी नहीं दे सकतीं । अत: समाज से यह कुप्रथा दूर हो चली है - कम से कम उस समाज से, जो आज के उपन्यासों में चित्रित होता है ।

● आर्थिक स्वावलम्बन

१६१४ के आसपास नारियों की स्थिति इतनी शोचनीय थी कि उनके आर्थिक

----

१. विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' : भिखारिणी (१६३४), लखनऊ, पृष्ठ २२५ ।

स्वावलम्बन की बात सोची भी नहीं जा सकती थी । उस समय समाज का आधार पूर्णतया परम्परागत था और रूढ़ियों तथा आडम्बरों से ग्रस्त था । नारियों में न तो शिक्षा का प्रसार था और न इस दृष्टि से कोई विशेष उत्साह ही था । अत: स्वतन्त्र जीवन-यापन करना या शिक्षा प्राप्त कर आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनने की बात ही न थी । लेकिन `प्रतिज्ञा` की पूर्णा, `सेवासदन` की सुमन, `त्यागपत्र` की मृणाल, तथा `कुण्डली चक्र` की पूना के चरित्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यासकारों ने इस तथ्य को समझ लिया था कि नारियों को पुरुष की पाशविकता एवं वासना की दुर्गति से बचाने का एकमात्र विकल्प उनका आर्थिक स्वावलम्बन ही हो सकता है ।

यद्यपि प्रेमचन्दकालीन उपन्यासकारों ने स्वयं इस दृष्टि से कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया, फिर भी उन्होंने इसकी महत्ता को रेखांकित अवश्य किया है । उन्होंने नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की ओर ध्यान देना अवश्य प्रारम्भ कर दिया था । `देशद्रोही` (१९४३) में खन्ना पुरुष के अत्याचार से त्रस्त चन्दा से कहती है, `जब तक उसे जीवन के साधन जुटाने का स्वतन्त्र अवसर और अधिकार नहीं, उसका प्रेम और आचार सब पुरुष का खिलौना है । तुमने अपने आप बलिदान का सब सहा, अब उसके प्रति विद्रोह भी करो तो क्या कर सकती हो, जब तक जीवन के संघर्ष में अपने पैरों पर खड़े होने का साधन तुम्हारे पास न हो ।`[१] यह ऐसा युग था, जहां नारियां काफी आगे आ चुकी थीं और शिक्षा के अवसर मिलने तथा अनेक सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप उनकी एक सामाजिक स्थिति बनने लगी थी । अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों एवं रूढ़ियों-आडम्बरों के प्रति उनमें विद्रोह का भाव जन्म लेने लगा था ।

`झूठा-सच` में इसी भाव को कनक इस प्रकार स्पष्ट करती है कि `मैं जहां भी काम करूंगी जाना ही होगा । आखिर जो लोग अपने पांव पर खड़ी होती हैं, आती

----

१. यशपाल : देशद्रोही (१९४३), लखनऊ, पृष्ठ २९३ ।

जाती ही हैं। मर्द कैसे काम करते हैं और औरतें कैसे करती हैं।'[1] वह बिना पिता की आज्ञा लिए नौकरी करने लगती है और पुरुषों का अत्याचार सहने के बजाय आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करती है। वह नारी का प्रतीक बनकर सामने आती है, जो स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता है। भगवतीचरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र' (१६५६) में विद्या भी इसी प्रकार की नई नारी है, जो पति के अत्याचारों को सहने के बजाय उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है और नौकरी करके आत्मनिर्भर बनती है। वह कहती है, 'मैं इस घृणा और गुलामी के वातावरण को चूर-चूर करके अपना मार्ग स्वयं निकाल सकूंगी।'[1] वह एक प्रकार से नारी की नवीन चेतना को स्पष्टतया अभिव्यक्त करती है, जिसमें साहस भी है, आत्मविश्वास भी है। यह नारी अपनी समर्थता को पहचानती भी है और भविष्य के प्रति आश्वस्त भी है।

'थके पांव' (१६६३) में भी माया के माध्यम से इन्हीं विचारों को रेखांकित किया गया है। माया किसी भी मूल्य पर अपने व्यक्तित्व को खण्डित नहीं करना चाहती और परम्परा के नाम पर बिकना नहीं चाहती है। उसे समझाते हुए सुशीला कहती है, हां माया बीबी तुम पढ़ रही हो, इस साल बी० ए० पास हो जाओगी, इसके बाद में तुमसे कहती हूं, समर्थ बनकर कोई काम करना। यह किसी दूसरे पर निर्भर रहना ही सबसे बड़ी गुलामी है। अपमान, लांछना - सब कुछ इस गुलामी में बरदाश्त करना पड़ता है। दुनिया में जो कुछ है वह पैसा है।'[2] इसी प्रकार, 'पथ की खोज' (१६५१) में चन्द्रनाथ की दूसरी पत्नी आशा स्वावलम्बी बनने की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहती है, 'मैं हमेशा से यह मानती रही हूं कि रुपए के मामले में स्त्रियों को स्वावलम्बी होना चाहिए। मैं गम्भीरता से सोच रही हूं कि कहीं नौकरी करनी शुरू कर दूं।'[3] इस उपन्यास में साधना भी इसी विचारधारा की है। वह पति की 'कृतज्ञता' स्वीकार करने के बजाय ट्यूशन

----

१. भगवतीचरण वर्मा : भूले बिसरे चित्र (१६५६), दिल्ली, पृष्ठ ७०३।

२. भगवतीचरण वर्मा : थके पांव (१६६३), देहरादून, पृष्ठ ८६।

३. देवराज : पथ की खोज (१६५१), लखनऊ, पृष्ठ २३६।

करके अपना खर्च चलाती है । चन्द्रनाथ के विरोध करने पर वह कहती है, 'आखिर आप चाहते क्या हैं, यही न कि स्त्रियां हमेशा पुरुषों पर निर्भर रहें, कभी स्वावलम्बी न हों ? तो अब नहीं चलेगा भइया ।'[1] इस प्रकार साधना और आशा दोनों ही सामाजिक परिवर्तनों की ओर संकेत करते हुए आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनती हैं ।

'एक और अजनबी' (१९६३) में मीनल भी आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनने की चेष्टा में सतत प्रयत्नशील रहती है, पर वह समाज के अत्याचारों को सहने के लिए प्रस्तुत नहीं होती । 'पत्थरों का शहर' (१९७१) में तृप्ता भी अपने पति के अत्याचारों से तंग आकर इसी प्रकार सोचती है, 'लेकिन जब स्त्री इस स्थिति से तंग आ जाए, तो मुक्ति के लिए विद्रोह तो कर सकती है न... गन्दे नाले में बहते चले जाने से तो बेहतर है कि आदमी किनारे हट जाए और अपने दायरे में ही जीवित रहे... ।'[2] तृप्ता अपने पति से सम्बन्ध विच्छेद कर अपने पैरों पर खड़ी होती है और अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाने का प्रयत्न करती है । 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' में सुषमा न केवल आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर ही होती है वरन् अपने परिवार का उत्तरदायित्व निभाने में भी सफल होती है । सुषमा की मां अपनी बहन से कहती है, 'इतना पढ़ लिख गई । अच्छी नौकरी है और अब तो क्या कहते हैं होस्टल में वार्डेन भी बनने वाली है ।'[3] यह नारियां केवल शौक के लिए नहीं आत्मनिर्भर बनतीं, वरन् अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए उन्हें विवश होकर आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनना नहीं पड़ता है ।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि 'देशद्रोही' (१९४३) से 'पत्थरों का शहर' (१९७१) तक नवीन चेतना सम्पन्न नारियों का जो नया वर्ग हिन्दी उपन्यासों में आया है उसका व्यक्तित्व प्रेमचन्दकालीन उपन्यासों से भिन्न है । यह नारियां

---

१. देवराज : पथ की खोज (१९५१), लखनऊ, पृष्ठ ३२९ ।

२. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृष्ठ २६७ ।

३. उषा प्रियंवदा : पचपन खम्भे लाल दीवारें, पृष्ठ १० ।

पुरुष एवं समाज के अत्याचार को सहन नहीं करतीं, वरन् विद्रोह करती हैं और किसी के चरण की दासी न बनकर आत्मनिर्भर होकर स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने की चेष्टा करती हैं। इनमें साहस, आत्मविश्वास, तटस्थता एवं दूरदर्शिता है। वह न्याक्रान्त नहीं होतीं, वरन् उस आततायी समाज को चुनौती दे सकने में पूर्णतया समर्थ हैं। वे यह आत्मनिर्भरता एक तरफ विसंगतियों का सामना करने के लिए चाहती हैं, दूसरी तरफ अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए।

● नवीन नारी मनोविज्ञान

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय समाज में जो परिवर्तन हुए, उसमें नारियों का नवीन मनोविज्ञान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। नारियां अभी तक जहां थीं, वहां नहीं रहना चाहती थीं। वे समाज में अधिक सक्रिय भूमिका का निर्वाह करना चाहती थीं। पुरुषों से किसी भी दृष्टि से पीछे रहना उन्हें सह्य नहीं था। राजनीतिक आन्दोलनों में वे पुरुषों के साथ थीं। परिवार में भी अब उनकी दृष्टि भोग्या नारी की नहीं रह गई थी। अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के प्रति वे सचेत हो गई थीं। वे पुरुषों का स्वार्थी अनुशासन, सड़ी गली परम्पराओं का अंकुश तथा किसी भी प्रकार का अत्याचार सहन करने को तैयार नहीं थी। एक नए प्रकार का विद्रोह उनमें जन्म ले चुका था और वे सदियों से जकड़ी हुई दासता के बन्धनों को तोड़-फोड़ कर मुक्त होना चाहती थीं। मुक्ति की इसी छटपटाहट ने उनके नए मनोविज्ञान को विकसित किया।

बहुत पहले गांधीजी ने इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किए थे। नारियों की उच्च सामाजिक स्थिति पर जितना गांधी जी ने बल दिया उतना किसी अन्य भारतीय नेता ने नहीं। अहिंसा पर बल देते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा कि भविष्य नारियों के हाथ में है।[१] उन्होंने परम्परागत नैतिकता का तिरस्कार कर नैतिकता

----

१. "If call woman the weaker sex is libel, it is man's injustice to woman. If by strength is meant brute strength then indeed is women less brute than man. If by strength is meant moral power then woman is immeasurably man's superior. If nonvoilence is the law of our being, the future is with woman". - Young India, 10-4-1930 .

की नई व्याख्या की और कहा कि नैतिकता अन्तर्मन से प्रवाहित होती है। पुरुष को और इस बात का अधिकार नहीं है कि वह बाहर से नारियों के ऊपर कोई नैतिकता आरोपित करे।[1] गांधीजी ने पहले ही जो पीठिका तैयार की थी, आधुनिक नारी ने उसका पूर्ण उपयोग अपने अनुकूल किया और एक ऐसी व्यक्तित्व का निर्माण किया, जिसमें एक ओर निजता एवं अस्तित्वबोध का समावेश था, जो आगे चलकर सभी परम्पराओं के विरोध में स्वतन्त्र यौनाचार, उच्छृंखलता एवं पाश्चात्य भावना को लेकर खड़ा हुआ। दूसरी ओर दायित्वबोध की भावना का समावेश हुआ और प्रगतिशील चेतना लेकर सामाजिक और राजनीतिक नेतृत्व के साथ जुड़ गया।

इस नवीन नारी मनोविज्ञान का चित्रण दोनों रूपों में हिन्दी उपन्यासों में प्राप्त होता है। जैनेन्द्रकुमार के सभी उपन्यासों की नायिकाएं इसी भावना से आक्रान्त हैं। 'उनके सभी नायिकाओं का संघर्ष स्पष्ट हो जाता है। वे सभी मन ही मन विवाहित जीवन के प्रति अव्यक्त रूप से असंतुष्ट रहती हैं और एक ऐसी व्यवस्था चाहती हैं, जिसमें नारी-पुरुष साथ तो रहें, पर पति-पत्नी की भांति नहीं, मित्र की भांति, सहयोगी की भांति। जैनेन्द्र जी का यह दर्शन 'परख' में कट्टो और बिहारी के सम्बन्ध से प्रारम्भ हुआ था और वह अबाध गति से परिवर्तित रूपों में उनके सभी उपन्यासों में होता हुआ 'जयवर्धन' में अपनी चरम परिणति प्राप्त करता है। यह वर्तमान विवाह व्यवस्था के प्रति उनका विद्रोह ही कहा जाएगा।'[2] वास्तव में यह पुरुष की सत्ता को चुनौती है कि उसे नारी को मात्र भोग्या ही समझने का कोई अधिकार नहीं है। इसे इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' में मंजरी के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया है, जहां वह पारसनाथ के अमानवीय कृत्यों पर प्रहार करते हुए कहती है, 'तुम उसी सनातन पुरुष समाज के नवीन प्रतिनिधि हो, जिसने युगों से नारी को छल से

---

१. "Why should men arrogate themselves the right to regulate female purity ? It can not be super-imposed from without. It is a matter of evolution from within and therefore of individualself effort."
- Young India, 25-11-1926.

२. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ ३६६।

ठग कर नारी को, बल से दबा कर, विनय से बहकाकर और करुणा से जलाकर उसे हाड़-मांस की बनी निर्जीव पुतली का रूप देने में कोई बात उठा नहीं रखी है। विश्वव्यापी क्रान्ति के युग में आततायी और कामाचारी पुरुष जाति की सत्ता अब निश्चित रूप से मूलत: ढहने को है और युगों से दलित नारी जाति आज तक अपनी छायात्मकता का भीतर भी शक्ति का जो महाबीज सुरक्षित रखे हुए थी, उसके विस्फोट को दबाने की समर्थता अब ब्रह्मा में भी नहीं रह गई है।[1] यह नारी का उग्ररूप है, आधुनिक चेतना सम्पन्न, जो इस युग में उभर रहा था।

यशपाल ने इस नारी मनोविज्ञान को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कसौटी पर परखा है। उनकी नारियां पूर्ण स्वतन्त्रता चाहती हैं और किसी भी परम्परा को स्वीकारने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। 'दादा कामरेड' (१९४१) में शैलबाला कहती है, 'पति परमेश्वर जरूर है, परन्तु और भी बीसियों परमेश्वर हैं। प्रत्येक को अपने-अपने स्थान पर रहने देना ही ठीक है।'[2] यह वास्तव में पुरुष की पाशविक प्रवृत्तियों एवं स्त्रियों को केवल अपने चरणों की दासी समझने की आदिम भावना की तीखी प्रतिक्रिया है। 'झूठा-सच' में भी कनक तथा पुरी, तारा तथा सोमराज एवं शीलो तथा मोहन लाल के विवाहित जीवन में जब कोई सार नहीं रह जाता, तो तारा, कनक तथा शीलो घुटती नहीं या परम्परा एवं संस्कृति के नाम पर अपने को शहीद नहीं कर देतीं। वे जड़ हो गए विवाहित सम्बन्धों के प्रति विद्रोह करती हैं और अपना नया मार्ग खोजती हैं। 'थके-पांव' (१९६१) में माया ऐसी ही विद्रोहिणी के नारी के रूप में सामने आती है। एक स्थान पर वह कहती है, 'अम्मा मुझे विवाह नहीं करना है। देख तो रही हूं तुम्हारी हालत, मौजी की हालत, बूआ की हालत। विवाह के अर्थ हैं - नारी को नरक में ढकेल देना और उस नरक में पड़ने की अपेक्षा ज्यादा पसन्द करती हूं।... आपने मुझे पढ़ा लिखा कर मनुष्य बनाया है तो मेरे साथ आप मनुष्यता का व्यवहार कीजिए। मैं जानवर नहीं हूं कि जिसके साथ चाहा उसके साथ मुझे बांध

----

१. इलाचन्द्र जोशी : प्रेत और छाया (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ २१।
२. यशपाल : दादा कामरेड (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ १७।

दिया, मैं सम्पत्ति नहीं हूं कि जिसे चाहा उसे दे दिया । मुझमें भी भावना है, मुझमें भी व्यक्तित्व है, मैं अपना हित-अहित समझ सकती हूं ।'[1] यह नारी की नवीन चेतना है, जो उसे किसी भी अत्याचार को सहन न करने की प्रेरणा देती है ।

'नदी के द्वीप' (१६५१) में रेखा इसी प्रकार की युवती है, जो किसी भी बन्धन की परवाह नहीं करती और अपनी चेतना को ही सर्वोत्तम मान अपना व्यक्तित्व उसी के अनुरूप विकसित करती है । वह भुवन से कहती है, 'तुम समाज की दृष्टि से देखते हो, वह दृष्टि गलत नहीं है, अप्रासंगिक भी नहीं है, निर्णायक भी वह नहीं है । व्यक्ति को दबाकर इस मामले का जो भी निर्णय होगा गलत होगा - घृण्य होगा, असह्य होगा ।'[2] इसी प्रकार 'पथ की खोज' (१६५१) में साधना भी पुरुष को जैसे चुनौती देते हुए कहती है, 'क्या नारी को यह अधिकार नहीं कि वह भी दुनिया में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा करे और अपने मनोनुकूल आदर्शों के लिए जीवित रहे ? क्या नारी मात्र साधन है, पति की वासना पूर्ति का साधन, घर में उसके आराम का और बाहर ऐश्वर्य प्रदर्शन का साधन... बच्चा पैदा करने का साधन... ।'[3] साधना अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाती है और रूढ़िबद्ध परम्पराओं से समझौता नहीं करती, 'बाहर-भीतर' (१६५४) में सुमित्रा कहती है, 'मैं विद्रोह की सम्भावना से नहीं घबराती और पाप-पुण्य की प्रचलित धारणाओं की भी कायल नहीं हूं । दूसरे जन्म में विश्वास न रखते हुए भी मैं मानती हूं कि यह जीवन बरबाद करने या होने के लिए नहीं है ।'[4] वह भी जड़ मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने की चेष्टा करती है । यह वस्तुत: नारी के नए मनोविज्ञान की और ही संकेत करता है ।

'एक और अजनबी' (१६६३) में नारी के इसी नवीन चेतना के निर्मित होने, उसकी

----

१. भगवतीचरण वर्मा : थके पांव (१६६३), देहरादून, पृ० १०८ ।
२. अज्ञेय : नदी के द्वीप (१६५१), बनारस, पृष्ठ २१५ ।
३. देवराज : पथ की खोज (१६५१) लखनऊ, पृष्ठ २२४ ।
४. देवराज : बाहर-भीतर (१६५४), दिल्ली, पृष्ठ १०६ ।

विवशता और प्रतिक्रियास्वरूप अपना व्यक्तित्व बनाने की भावना पर पूर्णत: आधारित है। इसमें मीनल के माध्यम से जो विद्रोह दिखाया गया है, या जिस नवीन नारी मनोविज्ञान का चित्रण किया गया है, वह किसी भी रूप में पाश्चात्य भावना से प्रभावित नहीं है। उसमें यौनाचार की स्वतन्त्रता का नहीं, भारतीयता का आधुनिक परिवेश सजग दृष्टि से चित्रित हुआ है। मानल एक स्थान पर कहता है, "मैं तो बस सोचती हूं, क्या समाज व्यक्ति से इतना बड़ा है कि व्यक्ति उसके सामने माथा टेक दे ? व्यक्ति के सामने समाज का कौन सा स्वतन्त्र अस्तित्व हो सकता है, जबकि उसे व्यक्तियों ने ही मिलकर बनाया है। व्यक्ति न रहेंगे तो यह समाज कहां होगा ?... नए ज़माने ने नारी को सब कुछ दिया है, पर उतनी दृढ़ता अभी नहीं दे सका है, जितनी देनी चाहिए थी। आप जानते हैं इसके लिए स्वयं नारियां ही उत्तरदायी हैं और वह यह कि वे पुरुषों पर आवश्यकता से अधिक विश्वास करती हैं। यही नारी की सबसे बड़ी दुर्बलता है। पुरुष का यही सबसे बड़ा सौभाग्य है।"[१] इस प्रकार सुरेश सिनहा उन परिस्थितियों को बड़ी कुशलता से रूपायित करते हैं जिसमें नवीन नारी मनोविज्ञान विकसित हुआ है। एक अन्य स्थान पर इसी विद्रोह को स्पष्ट करते हुए मीनल कहती है, "नारी तो इससे पहले अच्छी थी, जबकि वह माता-पिता के घर बड़ी होती थी। ब्याही जाकर पति के घर आती थी और एक नई गृहस्थी का संचालन करती थी। वहां सिर्फ पति का अनुशासन होता था। पर आज क्या है ? इस समाज ने नारी को खूब धोखा दिया है। अब उस पर सारे समाज के पुरुषों का अनुशासन है। पहले वह पति के लिए सजती थी अब वह सारे समाज के लिए सजती है।... आप मुझे गलत न समझिएगा डाक्टर साहब, मैं कोई विद्रोह नहीं चाहती। विद्रोह में कल्याण नहीं। विद्रोह से किसी का उद्देश्य भी पूरा न हो सकेगा। यह आर्य नारी का धर्म भी नहीं है। मैं तो परिवर्तन चाहती हूं। इस सारी व्यवस्था में परिवर्तन होना चाहिए। इन छल भरी मृगतृष्णाओं का अस्तित्व मिटाना होगा।"[२] इस उपन्यास में उस

----

१. सुरेश सिनहा : एक और अजनबी (१९६३), इलाहाबाद, पृष्ठ ५७।

२. वही, पृ० ७८-७९।

विद्रोह को प्रश्रय नहीं दिया गया है, जो आज हर चीज़ का विरोध करने के नाम पर फैशन सा बन गया है। नारी का नया मनोविज्ञान भारतीयता की सीमा में आधुनिक परिवेश को लिए हुए ही विकसित होना चाहिए और उसी में भारतीय नारी की वास्तविक गरिमा-मर्यादा है, यह सुरेश सिनहा ने इस उपन्यास में स्पष्ट किया है। उनकी यह दृष्टि सर्वथा मौलिक है।

'पत्थरों का शहर' (१९७१) में तृष्णा का चरित्र भी उन्होंने इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। पहले वह अविवेकपूर्ण ढंग से आधुनिकता की रौ में बहकर अपने चिन्तन का विकास करती है और पति के साथ सम्बन्ध तोड़कर चली जाती है। आर्थिक स्वावलम्बन और निजी व्यक्तित्व को ही वह वास्तविक विद्रोह मानती है। किन्तु शीघ्र ही उसे यथार्थता का बोध होता है, तो वह वास्तविक चेतना को गृहण करने में एक क्षण की देरी नहीं करती है, 'आज संसार का विधान विचित्र है। अकेले स्त्री का चरित्र सड़क पर पड़े हुए खाली स्लेट की तरह है, जिस पर अति आते-जाते अनजान अपरिचित कोई रेखा खींच सकता है और स्त्री को उस लांछन को सारी जिन्दगी ढोना पड़ता है। आखिर स्त्री कितना बरदाश्त करे... समाज में उसकी हैसियत क्या है... वह तो सजी-धजी गुड़िया है... खिलौना है... जो किसी की छत्रछाया में रहे तो ठीक है, नहीं तो हर कोई उससे खेल सकने का अपना अधिकार समझता है और स्त्री अपनी निजता की रक्षा की जितनी कोशिश करती है, लांछनों के अम्बार उतना ही उसका गला घोंटते चलते हैं... और देखो हम परम्परा और रूढ़ियों को तोड़ने का दम भरते हैं... यह सब आधुनिकता के जागने हैं जिन्होंने हमारा बेड़ा गर्क कर रखा है... जबकि हकीकत यह है कि आज भी बिना पुरुष के छत्रछाया के नारी का जीवन बहती धारकी भांति है जो कहीं गरिमा मर्यादा के साथ स्थिर नहीं हो पाता... यह एक कटु सत्य है और शायद तुम उसे निहायत पुरातनपंथी दृष्टिकोण कहोगे... पर विवेक बाबू। यही सच है... आधुनिकता के नाम पर अपना सब कुछ गंवाकर ही मैंने यह समझा है... हम परिवार और पति के प्रति पूर्ण निष्ठावान होकर भी अपनी निजता और स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा कर सकते हैं -- मैंने फिर भी खड़े होने की कोशिश की और लगा जिन्दगी इतनी बुरी नहीं है, जितना लोग सोचते हैं... मुझे देखो... एक उन्माद है अब भी

कि जिन्दगी को सन्तुलित बना लूंगी । यहां एक चीज़ मृत्यु से दूर रखता है, अन्धेरे को चीरती है...[1] ।

इसी उपन्यास में अन्यत्र इति अपने बाबू जी से कहती है, आपका निर्णय स्वीकार कर अपने स्वत्व को समाप्त करने से तो बेहतर है कि अपने को पूरा तरह से खत्म कर दिया जाए । हम आगत की सम्भावनाओं के लिए कितने आकुल मन से प्रतीक्षित होते हैं । कभी-कभी अपने प्रस्तुत मन को कितना तोड़ना-फोड़ना पड़ता है और अपना कितना कुछ खोकर कुछ पाने की चेष्टा में संलग्न होना पड़ता है । आप इस बोध से कट चुके हैं, लेकिन सच्चाई यही है । हम जलमग्न नदी की भांति अपने जीवन पथ पर अपने ही विवेक और संकल्प के साथ आगे बढ़ते हैं, तो दायित्व का बोध हम पर ही होता है । हम बहुत कुछ खण्डित करते जाते हैं, तो बहुत कुछ बनाते भी जाते हैं । वहां हमारे चारों तरफ घिरे संकट से मुक्ति पाने का विकल्प है । यह संकट आज का है - हमारा अपना निजी दस्तावेज है । इससे आपका कोई सम्बन्ध नहीं, इसलिए आपको यह अमहत्वपूर्ण लगता है । लेकिन इस संकट का सम्बन्ध हमारी अनुभूतियों से है, जिसमें हम झुलस रहे हैं...[2] इस उपन्यास में दायित्वबोध से सम्बन्धित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, जिस की चर्चा प्रारम्भ में ही की गई है ।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि आज के उपन्यासों में जो नवीन नारी मनोविज्ञान चित्रित हुआ है, वह विविध स्तरों पर देखा जा सकता है । यशपाल इसे भौतिकवादी दृष्टि से देखते हैं । भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ रेणु तथा सुरेश सिनहा भारतीयता में आधुनिकता का समावेश कर उसे नवीन मानव मूल्यों से सम्बद्ध करते हैं । इनकी दृष्टि सर्वथा नई और मौलिक है, जो नवीन जीवन तत्वों का अन्वेषण करती है और वास्तविकता से साक्षात्कार कर सकने की क्षमता से पूरित है । इसके विपरीत मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी आदि की

----

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३१६-३१७-३१८

२. वही, पृ० २१४ ।

दृष्टि से हर चीज़ का विरोध करने तक सीमित है । उसका सम्बन्ध आचरण तथा यौनाचार की स्वतन्त्रता से ही अधिक है । आज के भारतीय समाज की यथार्थता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । उनका नवीन नारी मनोविज्ञान पश्चिम से उधार लिया हुआ है और भारतीय नारियों पर जबर्दस्ती आरोपित कर दिया गया है । उसके मूल में उनकी अपनी दृष्टि नहीं, सार्त्र, कामू, काफ्का की दृष्टि ही अधिक सक्रिय है । उसका आज की मानवीय चेतना से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

● घर-बाहर की समस्या

नारियों के घर बाहर की समस्या भी वस्तुत: उनकी आधुनिक चेतना से सम्बद्ध है । समाज में गत तीन-चार दशाब्दियों से भी अधिक समय में जो अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, उसने नारियों की स्थिति पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है । स्त्रियां घर की चार-दीवारी में कैद रहने के बजाय सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने में संलग्न हुई हैं । घर-बाहर की इस समस्या के अच्छे परिणाम भी हुए हैं, बुरे भी ।

आरम्भिक उपन्यासों ने इस समस्या को नहीं उठाया है क्योंकि तत्कालीन लेखक नारियों का घर के बाहर निकलना उचित नहीं समझते थे । जो लेखक पर्दा प्रथा के समर्थक और नारी-शिक्षा के विरोधी थे उनसे इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी । वे जरा भी नारी स्वतन्त्रता के समर्थक न थे । उनके दिमाग में आदर्श हिन्दू नारी का चित्र रहता था, धार्मिक रूढ़ियों, परम्पराओं एवं आडम्बरों से भरा हुआ । शर्मा जी ने अपने एक उपन्यास में लिखा है, "आजकल की नवीन शिक्षा पाकर जिस तरह पद की बराबरी करने पर स्त्रियां उतारू हो जाती हैं, आजकल के नवीन समाज में जैसी अंग्रेजी तालीम पाकर युवतियां पुरुषों का बेटर हाफ उत्तमार्ध समझी जाने में अपना गौरव समझ बैठी हैं, और आजकल जैसे स्त्रियों का दर्जा पुरुषों से भी ऊंचा समझा जाता है, इस बात की गंध नहीं दुर्गन्ध प्रियंवदा के दिमाग में न घुसने पाई ।"[१] इस काल के दूसरे

---

१. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू (१९१५), पृष्ठ ३१ ।

उपन्यासकारों का भी यही मत है । वे समझते थे कि नारियों का स्वतन्त्र जीवन एवं निजी व्यक्तित्व हिन्दू समाज के लिए संघातकारी है । इससे हिन्दू धर्म नष्ट हो जाएगा ।

अन्य सामाजिक समस्याओं की भांति प्रेमचन्द नारी के घर-बाहर की समस्या में भी अग्रणी रहे । 'गबन' में समय पड़ने पर जालपा घर के बाहर आती है और न केवल अपने पति में नया आत्मविश्वास उत्पन्न करती है, वरन् कलकत्ते में राजनीतिक आन्दोलन में भी अपना योगदान देती है । 'कर्मभूमि' में सुखदा, नैना, मुन्नी तथा सकीना राजनीतिक आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर अपने दायित्व का निर्वाह करती हैं । 'गोदान' में मालती तथा सरोज भी इसी प्रकार घर के बाहर आती है । प्रेमचन्द ने घर-बाहर की समस्या सामाजिक सन्दर्भों में ही चित्रित की है । उन्होंने नारी की स्वतन्त्रता की जबर्दस्त वकालत की है, किन्तु यौनाचार के लिए नहीं या अहंकारी व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए नहीं । उन्होंने नारियों की स्वतन्त्रता की मांग इसलिए की है ताकि देश के राजनीतिक-सामाजिक जीवन में वे सर्जनात्मक भूमिका निभा सकें । उन्होंने नारियों पर लादी गई चारित्रिक ग्रंथि, कुंठा या निराशा का विरोध किया है । वे चाहते थे कि नारियां घर से बाहर आएं, अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाएं और समाज तथा राष्ट्र के लिए अपनी उपयोगिता सिद्ध करें ।

इसके विपरीत जैनेन्द्र कुमार या आज के दूसरे अन्य उपन्यासकारों ने घर-बाहर की समस्या को दायित्वहीनता से सम्बद्ध कर दिया है । इन्हें नारियों में सदैव कुंठा ही लक्षित होती है और वे वासना की सजीव मूर्तियां ही प्रतीत होती हैं, जिसके लिए उन्हें स्वतन्त्रता चाहिए । वे उन्हें पुरुष के हाथों खिलौना मात्र समझते हैं । सुनीता में श्रीकान्त की मान्यता है कि, 'स्त्री को अपने घर में ही बहुत कुछ है, बाहर दुनियां में वह क्या पाने जाए ।'[१] लेकिन अपनी इस मान्यता को वह सुनीता पर आरोपित नहीं करता । वह स्वतन्त्र निर्णय ले सके, इसलिए वह कुछ दिनों के लिए दिल्ली चला जाता है । सुनीता बाहर हरिप्रसन्न

----

१. जैनेन्द्र कुमार : सुनीता (१६३४), बम्बई, पृष्ठ २६ ।

के लिए आती है, उसके वासना को तुष्टि करके फिर घर वापस आ जाती है और क्योंकि, 'मेरे लिए तो सारा राष्ट्र, सारा समाज, सारा देश जिस व्यक्ति में समा जाना चाहिए, वह तो मुझे मेरे प्राप्त मेरे स्वामी हैं। उसके चरण जहां जहां धूल पर पड़ते हैं, उस धूल के कणों में मैं अपने को खो दूंगा। तब मेरे पास स्वत्व कब शेष रहेगा, जो तुम्हारे राष्ट्र को दूं?'[1] स्पष्ट है कि जिस प्रकार वह हरिप्रसन्न के समक्ष आत्मसमर्पण करती है उस सन्दर्भ में राष्ट्र समाज और धर्म की बातें खोखली और कृत्रिम जान पड़ती हैं, जो सुनीता की वैयक्तिक कुंठा एवं अपूर्णता की भावनाओं को छिपाने के लिए उप ऊपर से जबर्दस्ती लाद दी गई है।

'सुखदा' (१९५२) में लाल कहता है, 'घर गिरस्ती में यहां का व्यक्ति अब तक जुता है और भारतीय नैतिकता उस परिधि में घेरकर उसे मन्द और निस्पंद किए जा रही है। अब पारिवारिक नहीं सामाजिक संस्कृति चाहिए, हम छोटे छोटे स्वार्थों के भंवरों में चकराते रहते हैं, बढ़ नहीं पाते।'[2] सुखदा इससे प्रभावित होती है और घर की सीमाओं को तोड़कर बाहर आती है। पर प्रश्न फिर वहीं रह जाता है कि आखिर क्यों? वे किसी महती उद्देश्य के लिए बाहर नहीं आतीं सुनीता की भांति अपनी वैयक्तिक कुंठा को शान्त करने के लिए ही पारिवारिक जीवन की शृंखलाओं के विच्छिन्न कर स्वतन्त्र अस्तित्व बनाना चाहती है।

'दादा कामरेड' (१९४१) में यशपाल ने शैला के माध्यम से लगभग यही समस्या प्रस्तुत की है, 'शैला कहती है कि यदि स्त्रियां इस विश्वास के योग्य नहीं कि घर के बाहर निकल सकें तो घर में ही उनका क्या विश्वास है?'[3]

फणीश्वरनाथ रेणु के 'दीर्घतपा' (१९६३) में क्रांतिकारी बांकेबिहारी कहता है, 'उसकी क्रांतिकारी पार्टी को महिला कार्यकर्ता की सख्त जरूरत है... बेला जैसी लड़की घर में कैद रहेगी तो 'भारत माता की बेड़ी कैसे टूटेगी।'[4] मोहन राकेश के

---

१. जैनेन्द्र कुमार : सुनीता (१९३४), बम्बई, पृष्ठ १४९।

२. वही : सुखदा (१९५२), दिल्ली, पृष्ठ १११।

३. यशपाल : दादा कामरेड (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ १२६।

४. फणीश्वरनाथ रेणु : दीर्घतपा (१९६३), पटना, पृष्ठ ४४।

'अन्धेरे बन्द कमरे' (१६६१) में नीलिमा सांस्कृतिक क्रान्ति का बहाना कर बाहर आती है और घर वापस जाती है। निर्मल वर्मा के 'वे दिन' (१६६४) में रायना पति से सम्बन्ध विच्छेद करने के बाद बाहर जगह-जगह 'आत्मिक शान्ति' प्राप्त करने के लिए घूमती है और सभी से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रस्तुत रहती है।

इन सभी उपन्यासों में घर-बाहर की जो समस्या प्रस्तुत की गई है, उसका सम्बन्ध दायित्वबोध से नहीं, यौनाचार की स्वतन्त्रता तथा मुक्त जीवन की कामना से है। घर परिवार, दायित्व तथा निष्ठा अब पिछड़ापन प्रतीत होने लगा है, और उच्छृंखलता, बेशर्मी, घुटन तथा अनाचार आधुनिकता का प्रतीक समझा जाने लगा है। आश्चर्य है कि हमारे अधिकांश नए उपन्यासकार इसे ही अन्तिम सत्य मानकर बड़े उत्साह के साथ नारी के विद्रोह के नाम पर ऐसी स्थितियों का चित्रण कर रहे हैं, जबकि महानगरों के जीवन में भी यह तथाकथित विद्रोह अभी अपवाद स्वरूप है। यह विद्रोह या घर-बाहर की समस्या वस्तुत: देहवाद की समस्या है, जो न जीवन का कोई सत्य अनुभव है और न समग्र सत्य का। अनुकरण करने की प्रवृत्ति में तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर 'आधुनिकता' का सही अर्थ भी नहीं समझते। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि ये उपन्यासकार जीवन के यथार्थ से साक्षात्कार करने के बजाय कतराना और पलायन करना ही आवश्यक समझते हैं। यदि वे ऐसा न समझते तो नारियों की घर-बाहर की समस्या राष्ट्र-समाज के प्रति दायित्व निर्वाह से सम्बद्ध होकर सर्जनात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित होती, न कि कुंठा, अवसाद तथा यौनाचार से सम्बद्ध होकर विध्वंसात्मक धरातल पर चित्रित होती।

● प्रेम-सेक्स स्वातन्त्र्य एवं समानता

आधुनिक काल में नारी की सामाजिक प्रगति के साथ प्रेम, सेक्स-स्वातंत्र्य एवं स्वतन्त्रता की बात उपन्यासों में बहुत उठाई जाती है। इधर स्वातंत्र्योत्तर काल में जो उपन्यास नये लेखकों के सामने आ रहे हैं, उसमें लगता है कि इन बातों के अतिरिक्त समाज की कोई अन्य समस्या नहीं है। नारी को प्रत्येक प्रकार की

स्वतन्त्रता उसके व्यक्तित्व के निर्माण के लिए नहीं केवल यौनाचार की स्वतंत्रता से जुड़ा हुआ होकर हमारे सामने आता है - यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है। उसकी पृष्ठभूमि में किसी उत्तरदायी सर्जनात्मक लेखक का नहीं, कुंठित निराशा एवं अनास्थावादी लेखक का दृष्टिकोण ही फलकता है। ये लेखक मध्यवर्ग से आए हैं, जो अपनी अनेक सीमाओं के कारण ध्वंसोन्मुखता के कगार पर पहुंचगया है जहां उनकी अधिकांश इच्छाएं अतृप्त रह जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप जो प्रतिक्रियाएं, कुंठाएं, वर्जनाएं उत्पन्न होती हैं, उन्हीं का चित्रण अपने उपन्यासों में कर सन्तुष्ट होना चाहते हैं। सेक्स-स्वातंत्र्य की मांग इसी से सम्बद्ध है। उसका कोई व्यापक सन्दर्भ नहीं है, जिसे दायित्व-बोध से जोड़ा जा सके।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'चलते-चलते' (१९५८) में राजेन्द्र के माध्यम से प्रेम का जो स्वरूप चित्रित किया गया है वह यही है। वह अपनी छोटी भाभी से प्रेम करता है। छोटी भाभी इसमें कोई दोष नहीं समझती। 'सुनीता' (१९३४) में[1] में हरिप्रसन्न भी सुनीता से इसी प्रकार प्रेम करता है। 'प्रेत और छाया' (१९४६), में मंजरी तथा नन्दिनी का प्रेम इसी सेक्स-स्वातंत्र्य की भावना की ओर संकेत करता है। 'झूठा-सच' में यशपाल के अनुसार, 'मुहब्बत का धर्म अपनी जगह है, घर-बार का धर्म और व्यक्ति अपनी जगह। मुहब्बत की रीति ही ऐसी चली आई है। बड़ों ने भी वही किया है। कृष्ण महाराज का गोपियों से, राधा जी से प्रेम था, तो क्या उसके लिए रुक्मिणी को छोड़ दिया था। कुब्जा के साथ रहे थे तो भी अपना घर-बार नहीं छोड़ा था।'[2] शीलो विवाहित होते हुए भी प्रेम और सैक्स की स्वतन्त्रता चाहती है। वह अपने पति मोहनलाल को छोड़ देती है और पर-प्रेमी रतन को नहीं। 'बारह घंटे' (१९६३) में बिनी प्रेम की स्वतंत्रता इसलिए चाहती है ताकि अपने अन्तरतम की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यशपाल मानव-जीवन में व्याप्त प्रेम की प्राकृतिक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में देखने का आग्रह करते हैं। इसमें नैतिकता-अनैतिकता का सवाल नहीं उठता, क्योंकि 'नैतिकता,

---

१. जैनेन्द्र कुमार : सुनीता (१९३४), बम्बई, पृष्ठ २३२।

२. यशपाल : झूठा-सच (वतन और देश), लखनऊ, पृष्ठ १९९।

डर या लिहाज को नहीं कहना चाहिए। हमारी ओर-और अनौचित्य धारणाएं ही नैतिक होती हैं। अपने दुःख की अनुभूति से दूसरे के दुःख के लिए विह्वलता अनुभव करना अनैतिकता है? परस्पर सहारा बनना ही प्रेम होता है, उसे स्वार्थ या धोखा नहीं कहा जा सकता।'[1] स्पष्ट है कि यह तर्क केवल सेक्स-स्वतन्त्रता की मांग को उचित सिद्ध करने के लिए ही प्रस्तुत किया गया है। विनी का चरित्र प्रमाण है।

भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' में प्रभा तथा 'भूले-बिसरे चित्र' में संतो का चरित्र इसी आधार पर प्रस्तुत किया गया है। उनके 'रेखा' (१९६७) में रेखा का चरित्र तो पूर्णतया स्वच्छन्द रोमान्स पर ही आधारित है। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' में शशि, 'नदी के द्वीप' में रेखा, देवराज के 'पथ की खोज' (१९५१) में साधना' अजय की डायरी' (१९६७) में दीपिका इसी स्वतन्त्र प्रेम की बात करती हैं। दीपिका कहती है, 'सोचती हूं, क्या कभी हम लोग इस योग्य होंगे कि अमरीकी युवक-युवतियों को जैसी स्वतन्त्रता का भोग कर सकें।'[2] नरेश मेहता ने अपने 'डूबते मस्तूल' (१९५४) में रंजना के रूप में ऐसी ही नारी का चित्र उपस्थित किया है।[3] मोहन राकेश के 'न आने वाला कल' (१९६८) में बानी नुक्ला[4] के साथ किसी भी स्थिति तक जाने को तैयार हो जाती है। निर्मल वर्मा के 'वे दिन' (१९६४) में रायना कथानायक[5] के साथ अपने पति से सम्बन्ध विच्छेद करने के बाद शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने में कोई अनुचित बात नहीं समझती। उषा प्रियंवदा के 'रुकोगी नहीं... राधिका' (१९६८)[6] में राधिका प्रेम अक्षय से करती है, शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित करती है। पर विवाह का निर्णय व मनीश के साथ लेती है।

---

१. यशपाल : बारह घंटे (१९६३), लखनऊ, पृष्ठ १०३।
२. देवराज : अजय की डायरी (१९६०), दिल्ली, पृष्ठ ३०६।
३. नरेश मेहता : डूबते मस्तूल (१९५४) दिल्ली, पृष्ठ ११।
४. मोहन राकेश : न आने वाला कल (१९६८), दिल्ली, पृष्ठ १०२।
५. निर्मल वर्मा : वे दिन (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ १६३।
६. उषा प्रियंवदा : रुकोगी नहीं.. राधिका (१९६८), दिल्ली, पृष्ठ २१२।

इन उद्धरणों से यह तथ्य प्रमाणित होता है कि हमारे आज के उपन्यासकारों में नारी की स्वतन्त्रता का अर्थ कितना सीमित हो गया है । वे समझते हैं समानता या बाहर आने के नाम पर नारी केवल भोग्या नारी ही रह जाती है, जो काम-कुंठा की शिकार होती है । इससे अधिक भ्रान्तिमूलक धारणा और क्या हो सकती है । प्रेम की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, यह निर्विवाद है । नारियों को पुरुषों के समान समझा जाना चाहिए, यह भी विवाद रहित है । पर इसका अभिप्राय उनके लिए यौनाचार की स्वतन्त्रता है, यह गलत है । परम्परा तथा संस्कृति को हम आधुनिकता के नाम पर चाहे जितना तिरस्कृत कर दें, उसके मूल की उपेक्षा करना विवेकहीनता का परिचय देना होगा । यदि नारियों के जीवन से निष्ठा, गरिमा, मर्यादा का भाव समाप्त हो जायेगा और यौनाचार की स्वतन्त्रता तर्कसंगत मान ली जाएगी तो हर परिवार में वेश्यावृत्ति के अलावा और क्या होगा ? हमारे नए उपन्यासकार जिस प्रकार नारी स्वतन्त्रता की मांग कर रहे हैं, वह केवल उनके उपन्यासों तक ही सीमित है, यथार्थ जीवन तक नहीं । यथार्थ जीवन में आज नारी स्वतन्त्रता एवं समानता का सही उपयोग कर राजनीतिक सामाजिक जीवन में अपना महत्वपूर्ण योगदान देना चाहती है । काम, कुंठा का शिकार बनना उसे सह्य नहीं ।

0000

६. पांचवां अध्याय : परिवार के विविध रूप

- संयुक्त परिवार
- वर्ण-व्यवस्था
- नवीन मान्यताओं का प्रभाव
- पारिवारिक विघटन
- अकेलेपन की समस्या
- मृत्यु, संत्रास और निर्जीविता का भयावह प्रश्न

परिवार मनुष्य जीवन की एक सुखमय कल्पना है। परिवार में ही मनुष्य सुख भी पाता है और अपने व्यक्तित्व का निर्माण भी। हमारे भारतीय समाज में परिवार की महत्ता प्रारम्भ से रही है। परिवार बनाने और उसे सुखी सम्पन्न रखने में ही धर्म की पूर्णता और कर्तव्य की इतिश्री समझी जाती थी। परिवार के बिना मनुष्य अपूर्ण एवं पशुओं के समान जीवन व्यतीत करता है। न तो उसे अपने व्यक्तित्व का बोध हो पाता है, न दायित्व का निर्वाह ही वह उचित ढंग से कर पाता है। चूंकि वह कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं हो पाता है, इसलि वह पूर्णतया स्वच्छन्द जीवन जीता है और अपने लिए भी तथा राष्ट्र और समाज के लिए भी अनेक समस्याएं उत्पन्न करता है। परिवार का उत्तरदायित्व व्यक्ति को गहराई में जाकर जीवन सत्य का अन्वेषण करने तथा उनका साक्षात्कार करने की प्रेरणा देता है।

भारतीय समाज में परिवार के विविध रूप प्रचलित रहे हैं, जिनमें समय के साथ परिवर्तन होता रहा है। पहले का परम्परागत समाज संयुक्त परिवार प्रथा पर बल देता था, पर जैसे जैसे मनुष्य पर आर्थिक दबाव बढ़ता गया और निजी व्यक्तित्व के साथ वैयक्तिक दृष्टिकोण विकसित होता गया, परिवारों का विघटन प्रारम्भ हुआ। आधुनिक काल में तो परिवार का अर्थ केवल पति-पत्नी तक ही सीमित हो गया है। बहुत हुआ तो वृद्ध एवं अवकाश प्राप्त माता-पिता साथ हो गये। इस प्रकार जब से हिन्दी उपन्यासों का जन्म हुआ है, परिवार की कल्पना में अनेक परिवर्तन हुए हैं। उसके विविध रूप विकसित हुए हैं। इस अध्याय में उन्हीं प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है।

● संयुक्त परिवार

प्रारम्भिक काल से ही हिन्दू समाज का मूलाधार संयुक्त परिवार प्रथा रही है। संयुक्त परिवार से ही विभिन्न उपजातियों का निर्माण होता है। इस व्यापक संयुक्त परिवार की सीमा के बाहर हिन्दू किसी वर्ग, किसी समाज या समुदाय को

स्वीकार नहीं करता ।[१] संयुक्त परिवारों की कोई वैधानिक स्थिति न होने पर भी उन्हें धार्मिक मान्यता प्राप्त थी । यह वह समय था जब हिन्दू समाज के लिए धार्मिक आचार संहितायें कानून से अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती थीं । इन आचार संहिताआओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण था कि परिवार का मुखिया परिवार के सभी सदस्यों का पालन पोषण करता था और परिवार के प्रत्येक सदस्य का मुख्य कर्तव्य था कि वह परिवार में एकता और संगठन बनाए रखने में सहायक हो ।

आरम्भिक उपन्यासों में जिस प्रकार उपन्यासकारों ने सनातन धर्म के प्रभाव के अन्तर्गत अन्य प्राचीन परम्पराओं का समर्थन किया है, उसी प्रकार संयुक्त परिवार प्रथा का भी समर्थन किया है । जैसा कि ऊपर कहा गया है, संयुक्त परिवारों में केवल एक व्यक्ति का ही अनुशासन चलता था । चाहे वह ठीक निर्णय ले या गलत, उसका पालन प्रत्येक व्यक्तिको करना पड़ता था । इस समय हिन्दू जाति का सम्पर्क एक सशक्त एवं आधुनिक चेतना सम्पन्न विदेशी जाति से हुआ था और पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभावान्तर्गत परिवार का नया सदस्य विवाह, प्रेम या दूसरे प्रकार की स्वतन्त्रता चाहने लगा था, जिससे संयुक्त परिवारों की सफलता संदिग्ध होने लगी थी । लेकिन इस युग के उपन्यासकारों ने किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता न बनाए रखने का जोरदार समर्थन किया है । किशोरीलाल गोस्वामी के 'गुप्त-गोदना', ब्रजनन्दन सहाय के 'आरण्यबाला' आदि में ऐसे ही विचार प्राप्त होते हैं । लेकिन इन उपन्यासकारों ने इसको व्यापक सन्दर्भों में न देखकर अत्यन्त सीमित एवं संकीर्ण दृष्टिकोण से देखा है । जैसे परिवार के मुखिया द्वारा विवाह की

---

१. के० एम० पन्निकर : सोसायटी : एट क्रास रोड (१९५५), पृष्ठ १८ --

"The widest expression of this family is the 'sub-caste' which often consists only of a few joint family which intermarry and interdime among themselves. Beyond this extended joint family the hindu, in practise recognises no society or community."

स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिए जाने का परिणाम अनमेल विवाह था । परिवार में विधवा का तिरस्कार होने का परिणाम वेश्यावृत्ति या अन्य कुप्रवृत्तियां थीं । प्रेम पर कठोर प्रतिबन्ध का परिणाम पारिवारिक कलह या चारित्रिक विघटन था । इन उपन्यासकारों ने परिवर्तन की प्रवृत्तियों को पहचाने बिना संयुक्त परिवार प्रथा का जो घोर समर्थन किया, उसमें व्यावहारिकता या यथार्थता नहीं है ।

प्रेमचन्द ने परिवर्तन के इन सूत्रों को पहचानने का सही ढंग से प्रयत्न किया था । वे समझ गए थे कि समाज में आर्थिक दबावों एवं आधुनिक सभ्यता के प्रभाव के कारण जिस तेजी से परिवर्तन हुए हैं, उनमें संयुक्त परिवारों का धर्मसम्मत, परम्परागत रूप सुरक्षित नहीं रह सकता । व्यक्ति धीरे धीरे प्रमुख होता जा रहा है और धार्मिक संस्कार, रीति-रिवाज़ एवं संस्कृति का परम्परागत रूप परिवर्तित हो रहा था । ऐसी स्थिति में पुराने बन्धन शिथिल पड़ने लगे थे । फिर आर्थिक दबाव इतने बढ़ गए थे कि एक व्यक्ति के लिए सारे परिवार का पालन-पोषण करना और उसे संयुक्त बनाए रखना कठिन हो गया था । इससे एक व्यक्ति का अनुशासन समाप्त होता जा रहा था और उसका प्राचीन रूप सुरक्षित रख सकना कठिन हो गया था ।

लेकिन एक बात अब भी शेष थी - वह कर्तव्य एवं दायित्व बोध का । यदि परिवार दूर-दूर भी हो गए थे, तो भी स्नेहशीलता एवं भावनात्मकता से वह संयुक्त बना रह पाता था । उसमें इतनी दरारें न पड़ी थी, जितनी आज लक्षित होती हैं । दूसरे शब्दों में प्रेमचन्द या उनके बाद के जिन उपन्यासकारों ने इस समस्या पर प्रकाश डाला है, उन्होंने संयुक्त परिवार में भावनात्मक एवं मानवीय सम्बन्धों पर ही अधिक बल दिया है । उनका दृष्टिकोण जबर्दस्ती संयुक्त परिवार बनाए रखने में नहीं, परिवार के लोगों में स्नेहशीलता के बन्धनों को सुरक्षित रखने के प्रति था । वे चाहते थे कि भले ही परिवार बंट जाए, पर वक्त जरूरत पर एक दूसरे को सहयोग-सहानुभूति देने एवं अपने दायित्व का निर्वाह करने में कोई कसर शेष न रहे ।

'सेवासदन' में दरोगा कृष्णचन्द के जेल चले जाने के पश्चात् उमानाथ अपनी बहन गंगाजली को घर ले आते हैं तथा सुमन एवं शान्ता का विवाह भी करते हैं। यह सब उनकी पत्नी जान्हवी को अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार प्रेमचन्द ने दोनों ही दृष्टिकोण को दायित्व-बोध एवं परिवर्तन के सूत्रों को बड़ी ही कुशलता से स्पष्ट कर दिया है। 'प्रेमाश्रम' (१९२२) में प्रभाशंकर भी संयुक्त परिवार को बनाए रखने का बराबर प्रयत्न करते हैं। बड़े भाई जयशंकर भी इसमें सहयोग देते हैं। दोनों भाइयों में इतना प्रेम था कि नगर में राम-लखन की जोड़ी कहलाते थे। 'स्त्रियों में तू तू मैं-मैं होती थी किन्तु भाइयों पर इसका असर न पड़ता था।'[२] लेकिन जयशंकर की मृत्यु के बाद यह परिवार भतीजे ज्ञानशंकर की स्वार्थपरता के कारण टूट जाता है। वह सोचता है कि चाचा के बड़े परिवार का भरण-पोषण वह क्यों करे। यही नहीं वह उनकी सम्पत्ति भी हड़प लेने का षड्यन्त्र रचता है। दूसरी तरफ प्रभाशंकर असहायावस्था में भी प्रेमशंकर को जेल से छुड़ाने के लिए अपनी सम्पत्ति गिरवी रखकर ऋण लेने को प्रस्तुत होते हैं। अगत्या ज्ञानशंकर की कुटिलता के कारण परिवार टूट ही जाता है।

'रंगभूमि' (१९२४) में ताहिर अली के माध्यम से भी उन्होंने संयुक्त परिवार और उसके विघटन ही की प्रक्रिया का कारुणिक शब्दचित्र खींचा है। मर्यादा के निर्वाह के लिए वह अपनी दो विमाताओं एवं बच्चों का पालन-पोषण करता है। जिस मर्यादा की रक्षा के लिए वह पत्नी के गहने बेचता है, उसे उसकी विमाता ही खरीदती है। अन्त में उसे गबन करना पड़ता है और जेल होती है। जिस भाई की शिक्षा के लिए उसने यह किया, वही कहता है कि परिवार को कलंकित कर दिया। माहिर अली दरोगा बनने के बाद अलग हो जाता है। जेल से छूटने के बाद ताहिर अली कहता है, 'मेरी आमदनी बाल-बच्चों की परवरिश के लिए काफी थी। मैंने जान दी खानदान के लिए। अब्बा ने मेरे सिर पर जो बोझ रख दिया था, वही मेरी तबाही का सबब हुआ।'[३] प्रेमचन्द यहां यह संकेत

----

१. प्रेमचन्द : सेवासदन (१९१८), पृष्ठ १५।

२. प्रेमचन्द : प्रेमाश्रम (१९२२), बनारस, पृष्ठ ३०५।

३. प्रेमचन्द : रंगभूमि (१९२४) बनारस, पृष्ठ ३०५।

करना चाहते थे कि यदि वह मर्यादा का निर्वाह न करता और संयुक्त परिवार बनाए रखने का इतना प्रयत्न न करता, तो शायद वह अधिक सुखी रहता । `गबन` (१९३०) में प्रेमचन्द ने संयुक्त परिवार में विधवा की अपने पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार न होने का प्रश्न उठाया है और हिन्दू समाज व्यवस्था की जर्जर मान्यताओं परप्रहार किया है । रतन तो यहां तक कहती है, `बहिनों किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और करना भी तो जब तक अपना घर अलग न बना लेना, चैन की नींद न सोना ।... परिवार तुम्हारे लिए फूलों की शैय्या नहीं कांटों की सेज है, तुम्हारी पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जाने वाला जन्तु है ।`[1] इस प्रकार प्रेमचन्द ने यह इंगित कर दिया था कि अब संयुक्त परिवारों का बना रहना कठिन है । क्योंकि नित्य अब नई समस्याएं उठने लगी हैं ।

जयशंकर प्रसाद के `तितली` (१९३४) में इन्द्रदेव लगभग इसी भावना को व्यक्त करते हुए कहता है, `प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्तिगत चेतना का उदय होने पर, एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है । इसलिए सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दुखदायी हो रहा है ।`[2] लेकिन तितली जिस प्रकार अपने परिवार का ही नहीं अन्य असहाय व्यक्तियों का पालन पोषण करती है, उसे देखकर इन्द्रदेव के विचार परिवर्तित हो जाते हैं । प्रसाद जी भारतीय संस्कृति की गौरवशाली मर्यादा के समर्थक थे, और वह चाहते थे कि समय के परिवर्तनों को आत्मसात करते हुए संयुक्त परिवार बने रहें ।

`गोदान` (१९३६) में होरी तथा राय साहब अमरपाल सिंह संयुक्त परिवार प्रथा की मर्यादा को बराबर बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं । होरी अपनी स्वाभाविक निष्ठा एवं आत्मिक रूप से राय साहब विवशता एवं सामाजिक मर्यादा के कारण । भगवतीप्रसाद वाजपेयी के `गोमती के तट पर` (संवत् २०१६) में राकेश और बसंत के माध्यम से संयुक्त परिवार के आदर्श और दोष अंकित किए गए हैं । पिता की

---

१. प्रेमचन्द : गबन (१९३०) बनारस, पृष्ठ २७४ ।

२. जयशंकर प्रसाद : तितली (१९३४), इलाहाबाद, पृष्ठ ११७ ।

मृत्यु के बाद बसंत की स्वार्थमय लोलुपता इतनी बढ़ जाती है कि विवश होकर राकेश को अलग हो जाना पड़ता है। जैनेन्द्र कुमार के 'सुखदा' (१९५२) में सुखदा संयुक्त परिवार को बिलकुल ही नहीं चाहती। उसका कारण आर्थिक दबाव एवं आधुनिक चेतना है। वह कहती है, 'कुछ दिन बाद ही मुझे गृहस्थी में बहुत सी बातों का अभाव दिखाई देने लगा। वेतन का कुछ भाग गांव में श्वसुर को भेजा जाता था, सो क्यों ? जेठ क्यों कुछ कमाने का काम जल्दी नहीं करते ? ननद की तबीयत क्यों इधर लगी रहती है। हम लोग इतनी तंगी में रहते हैं, फिर भी उन सबको रुपया पहुंचाया जाता है, यह बिलकुल ठीक नहीं है।'[१] यह कथन आधुनिक काल में संयुक्त परिवारों की वास्तविक स्थिति स्पष्ट करता है।

'मनुष्य के रूप' (१९४९) में यशपाल ने सम्मिलित परिवार का एक दूसरा ही रूप प्रस्तुत किया है, जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अधिक प्रभावित है। उनके अनुसार आज संयुक्त परिवार में प्रेम तथा भावना का स्वरूप अस्थिर एवं जर्जर हो गया है। विपुल धनराशि पर ही अब संयुक्त परिवार बने रह सकते हैं। जगदीश सहाय की बड़ी भाभी केवल इसलिए आवेश में आ जाती है कि सभी को यहां तक कि सोमा को एक सी साड़ियां क्यों दी गयी हैं ?[२] उन्हें जिठानी, तथा कमाऊ पत्नी का सम्मान क्यों नहीं दिया गया। उनके 'झूठा-सच' में मास्टर जी के माध्यम से भी यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।

'भूले बिसरे चित्र' (१९५९) में मुंशी शिवलाल संयुक्त परिवार प्रथा को मध्यवर्गीय जीवन का अनिवार्य अंग मानते हैं। राधेलाल का सारा परिवार ज्वालाप्रसाद के आश्रय में जीवन-यापन करना चाहता है।[३] छिनकी इसका विरोध करती है। शिवलाल की मृत्यु के बाद ही ज्वालाप्रसाद संयुक्त परिवार को बनाए रखने से अस्वीकार कर देता है। वर्मा जी ने 'थके पांव' (१९६३) में केशव के परिवार के माध्यम से यही दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। 'बूंद और समुद्र' (१९५६) में नागर जी

----

१. जैनेन्द्र कुमार : सुखदा (१९५२), दिल्ली, पृष्ठ १० ।

२. यशपाल : मनुष्य के रूप (१९४९), लखनऊ, पृष्ठ १८३ ।

३. भगवतीचरण वर्मा : भूले-बिसरे चित्र (१९५९), दिल्ली, पृष्ठ १४५ ।

ने इसी समस्या को सर्वथा नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है।[1] महिपाल कुटुम्ब को बनाए रखने में शीला से अपने स्नेह सम्बन्ध तोड़ देता है। 'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) में परमात्माबाबू संयुक्त परिवार को बनाए रखने के लिए त्याग करते हैं, पर उनके भाई उनका साथ नहीं देते, लेकिन परमात्माबाबू की आस्था नहीं टूटती और जब भाई आने वाले होते हैं तो फिर उनके स्वागत-सत्कार के लिए चिंतित हो जाते हैं।[2] इसे परिवार पसन्द नहीं करता।

'पत्थरों का शहर' (१९७१) में संयुक्त परिवार प्रथा के पुरातन रूप की निस्सारता सिद्ध करते हुए सुरेश सिनहा ने नितान्त आधुनिक सन्दर्भ में इसका स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न किया है। उनकी धारणा है कि अब एक व्यक्ति का अनुशासन परिवार में नहीं चल सकता। नवल बाबू के प्रति सारा परिवार इसीलिए विद्रोह करता है। वे सोचते हैं, 'अपना खून पसीना एक करके इस 'वतन' की उन्होंने एक-एक ईंट रखी, इतना त्याग करके इन बच्चों को किसी लायक बनाया - क्या इसी दिन के लिए... कि एक दिन अपने बूढ़े बाप को ये दूध की मक्खी की तरह फेंक देंगे और उससे उनका रिश्ता सिर्फ किसी से नाश्ता और खाना भिजवा देने तक ही सीमित रह जायेगा ? क्या सभी रिश्ते इतने जल्दी झूठे पड़ जाते हैं ?'[3] उनके अनुसार संयुक्त परिवार अब केवल स्नेह-सम्बन्धों के आधार पर ही बने रह सकते हैं, यदि एक दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप न हो।

इस प्रकार प्रारम्भ से अब तक हिन्दी उपन्यासों में संयुक्त परिवारों का जो रूप प्राप्त होता है, उसमें विविध परिवर्तन होते रहे हैं। पहले के उपन्यासकार जहां उसके धर्म-सम्मत एवं परम्परानुमोदित रूप को सुरक्षित रखने के पक्ष में थे तथा आधुनिकता के समावेश के पूर्ण विरोधी थे, वहां प्रेमचन्द एवं उनके बाद के उपन्यासकारों ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि संयुक्त परिवारों का धर्म-सम्मत एवं परम्परानुमोदित रूप अब सुरक्षित नहीं रह सकता और न अब वह नवीन सामाजिक परिवर्तनों के सन्दर्भ में स्थिर ही रह सकता है।

----

१. अमृतलाल नागर : 'बूंद और समुद्र (१९५६), इलाहाबाद, पृष्ठ ५१८।
२. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ ।
३. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३२७।

वर्ण व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था का अत्यन्त जटिल रूप हमारे यहां प्रारम्भ से ही बना रहा है। धार्मिक संकीर्णता एवं रूढ़ियों के कारण वह और भी विकृत हो गया है। इस सम्बन्ध में विचित्र बात यह है कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीय समाज में चिन्तन का पक्ष गौण था और रूढ़ियों तथा आडम्बरों का बोलबाला था। लोग धार्मिक रूढ़ियों की परीक्षा करने के बजाय उन्हें ही नियम मान लेते थे और तदनुसार आचरण करते थे। जो व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन में इन रूढ़ियों एवं आडम्बरों का पालन करता था, उसे ही सच्चा हिन्दू मानते थे, चाहे वह हिन्दू धर्म समझता हो या नहीं अथवा उसका पालन करता हो या नहीं। हिन्दू धर्म एवं हिन्दू समाज में अन्तर है, इसे समझने की चेष्टा नहीं की गई। समाज से किसी का बहिष्कार कर दिया जाना और प्रायश्चित्त कर लेने के बाद फिर उसे समाज में सम्मिलित कर लेना - यह विचित्र प्रथा कदाचित् संसार में हिन्दू समाज के अतिरिक्त किसी अन्य समाज में प्रचलित नहीं थी। प्रेमचन्द युग के कुछ उपन्यासकारों ने वर्ण-व्यवस्था धर्म की इस विचित्रता पर व्यंग्य करते हुए उसकी विकृतियों को रेखांकित करने का प्रयत्न किया है।

'प्रेमाश्रम' (१६२२) में प्रेमशंकर जब अमरीका से लौटता है, तो ज्ञानशंकर उसकी सम्पत्ति हड़पने के उद्देश्य से उसका रूढ़िवादी पाखंडियों की सहायता से सामाजिक बहिष्कार करा देता है। ऐसी स्थिति में तर्क यह दिया जाता था कि विदेश जाने एवं विदेशियों से सम्पर्क के कारण उस व्यक्ति में हिन्दू धर्म की रक्षा करने की सामर्थ्य शेष नहीं रह गई। अत: अपनी 'भूल के लिए' तथा 'असमर्थता' के निराकरण के लिए उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए। प्रेमशंकर अंत तक प्रायश्चित्त नहीं करता और उसकी रूढ़िवादी पत्नी श्रद्धा के विचारों में परिवर्तन आता है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने वर्ण व्यवस्था धर्म का विशृंखलित होना तथा उसकी निस्सारता को स्पष्ट किया है।

'तितली' (१६३४) में इन्द्रदेव के विदेश से लौटने पर यही स्थिति उत्पन्न होती है। उसका भी सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। उसकी मां श्यामदुलारी, जो

अभिजात्य कुल की विधवा है, उसके चरण स्पर्श करने पर स्नान करती है । वह उसकी विदेशी पत्नी शैला को किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं करती । धार्मिक आडम्बरों एवं सामाजिक रूढ़ियों के पीछे उसका मातृत्व स्नेह भी हल्का पड़ जाता है । पर इन्द्रदेव समझौता नहीं करता । अन्तत: श्यामदुलारी के मन में वर्ण-व्यवस्था - धर्म के प्रति मोह टूट जाता है और नए विचारों को आत्मसात करते हुए वह शैला को बहू के रूप में स्वीकार कर लेती है । इस प्रकार प्रसाद ने भी प्रेमचन्द की भांति इस व्यवस्था का खोखलापन प्रदर्शित करते हुए उस पर प्रहार किया है ।

'प्रत्यागत' (१९३४) तथा 'संगम' (१९३४) में वृन्दावनलाल वर्मा ने वर्ण-व्यवस्था धर्म के प्रति अपने विरोध को प्रगट किया है । नवलबिहारी जिस प्रकार रूढ़िवादी समाज एवं उसकी जर्जर मान्यताओं को सुरक्षित रखने का प्रयत्न 'प्रत्यागत' में करता है, तथा अन्त में जिस प्रकार उसका स्वयं ही बहिष्कार होता है, उसके पीछे मूल उद्देश्य यही है । 'संगम में ब्राह्मण जुलाल अहीरिन से उत्पन्न अपने पुत्र रामचरण को इसी वर्ण-व्यवस्था के खोखलेपन के कारण ही स्वीकार नहीं कर पाता । लेकिन अन्त में उसका हृदय परिवर्तित होता है और वह रामचरण को पुत्र स्वीकार कर लेता है । भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'मनुष्य और देवता' (१९६४) में सुधीर भी इसी वर्ण-व्यवस्था का विरोध इसलिए करता है क्योंकि वह मनुष्य के पावन मूल्यों की अवहेलना नहीं कर सकता ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आज के उपन्यासकार धार्मिक संकीर्णता, रूढ़ियों एवं आडम्बरों से युक्त वर्ण व्यवस्था का तीव्र विरोध करते हैं और उसे एक प्रगतिशील दृष्टिकोण बनाकर उसकी निस्सारता स्पष्ट करते हैं ।

● नवीन मान्यताओं का प्रभाव

अंग्रेजों के साथ सम्पर्क होने के बाद हमारे मध्ययुगीन संस्कारों में अभूतपूर्व परिवर्तन आया और भारतीय समाज पर नवीन मान्यताओं का प्रभाव स्पष्टत: लक्षित होने लगा । इसका एक कारण यह भी था कि पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति ने हमें

पूरी तरह झकझोर दिया था । हम जहां थे, वहां न रहना चाहते थे । यह एक प्रकार से सांस्कृतिक पुनर्जागरण था । समाज का परम्परागत ढांचा विच्छिन्न हो रहा था और प्रगतिशील मानदण्ड स्थापित हो रहे थे । अभी तक धर्म का जो अत्यन्त कठोर अनुशासन बना हुआ था, वह शिथिल पड़ने लगा था और एक उदारवादी दृष्टिकोण पनपने लगा था । जीवन के प्रति सोचने के ढंग में पर्याप्त अन्तर आ गया था । इन नवीन मान्यताओं का प्रभाव परिवार के विविध रूपों पर पड़ना स्वाभाविक था । संयुक्त परिवारों की स्थिति पर पीछे विचार किया जा चुका है । नवीन मान्यताओं के प्रभाव के कारण संयुक्त परिवार टूटे ही नहीं, परिवारों में प्रत्येक व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण विकसित होने लगा, जिसका पारिवारिक ढांचे पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा ।

आरम्भिक उपन्यासकारों ने पाश्चात्य प्रभावों के कारण विकसित होने वाली नवीन मान्यताओं का पूर्ण विरोध किया और उसके समाज पर पड़ने वाले 'कुप्रभावों' से अपने पाठकों को यथासम्भव सचेत करने का प्रयत्न किया है । किशोरीलाल गोस्वामी तथा मेहता लज्जाराम शर्मा आदि ने इन मान्यताओं का घोर विरोध किया है । लेकिन समाज में होने वाले परिवर्तनों के प्रति कुछ उपन्यासकार ऐसे भी थे, जो उदासीन न रह सकते थे । 'अरण्यबाला' (१९१५) में चुन्नीलाल कहता है, 'आदि से ही हम लोग असभ्य, दुर्बल जाति के हैं । और विदेशियों से हम लोगों का संसर्ग नहीं होता तो आज हम लोग जंगली ही होते ।'[१] इस कथन में चाहे जितनी अतिशयोक्ति क्यों न हो, यह स्पष्ट है कि नवीन मान्यताओं का प्रभाव समाज पर किस सीमा तक पड़ने लगा था, जिसका विरोध अपने सनातनधर्मी प्रभाव के कारण कुछ उपन्यासकार कर रहे थे । प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में इन नवीन मान्यताओं का प्रभाव देखा जा सकता है । 'सेवासदन' (१९१८) में गजाधर का परिवार इसलिए टूटता है क्योंकि सुमन परम्परागत उक्ति 'पति परमेश्वर है - चाहे कितना ही अयोग्य - लूला-लंगड़ा-अत्याचारी एवं कोढ़ी क्यों न हो' में विश्वास नहीं करती । उसका अपना नया दृष्टिकोण विकसित होता है और वह

---

१. बृजनन्दन सहाय : अरण्यबाला (१९१५), काशी, पृष्ठ ८६ ।

अपने व्यक्तित्व के साथ समझौता नहीं करती । `रंगभूमि` में राजा महेन्द्रप्रताप के परिवार की स्थिति भी यही होती है । `गबन` (१६३०) में दयानाथ के परिवार में अनेक परिवर्तन होते हैं और उस परिवार की बहू जालपा एक नई नारी के रूप में सामने आती है, जिसके कारण सारे परिवार की स्थिति बदल जाती है । `कर्मभूमि` (१६३२) में लाला समरकान्त का परिवार नवीन मान्यताओं, नए प्रभाव के कारण ही टूटता है । अमरकान्त पहले ही राष्ट्रीय विचारों से प्रभावित होता है । उसकी पत्नी सुखदा भी जनआन्दोलन में कूद पड़ती है । नवीन मान्यताओं का प्रभाव गांवों में भी बढ़ता जा रहा था, उसे `गोदान` में बड़ी कुशलता से अनेक परिवारों के माध्यम से प्रेमचन्द ने चित्रित किया है ।

`अचल मेरा कोई` (१६४७) में वर्मा जी ने सुधाकर और कुन्ती के परिवार के माध्यम से यह चित्रित किया है कि पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति ने आज के भारतीय परिवारों में कितनी उलझनें पैदा कर दी हैं । वर्मा जी नवीन सामाजिक परिवर्तनों के प्रति सचेत कलाकार थे ।[१] उन्होंने जहां नवीन मान्यताओं के उपयोगी तत्वों पर इस उपन्यास में प्रकाश डाला है, वहीं उसकी विकृतियां भी उभार कर रख दी हैं । इन्हीं विकृतियों के कारण ही सुधाकर का परिवार असफल होता है और कुन्ती को आत्महत्या करनी पड़ती है । `भूले बिसरे चित्र` (१६५६) में ज्वालाप्रसाद का परिवार भी इसीलिए डगमगा जाता है । विद्या आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनने का प्रयास करती है, तो ज्वालाप्रसाद विचलित हो जाते हैं । उन्हें समझाते हुए नवल कहता है कि `दुनिया की मान्यताएं बड़ी तेज़ी के साथ बदल रही हैं । हमारे भविष्य का रूप क्या होगा, यह नहीं कहा जा सकता`[२]। वर्मा जी के `थके पांव` (१६६३) में नवीन मान्यताओं के प्रभाव के अन्तर्गत ही किशन कहता है, `परिवार के प्रति मेरा जो कुछ भी कर्तव्य है, यह मैं कैसे भूल जाऊं । अपने को कष्ट में डालकर रहना मेरे ख्याल से सबसे बड़ी बेवकूफी है । दूसरे तुम्हें

----

१. डा० शशिभूषण सिंहल : उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा (१६६०) आगरा, पृ० ४३ ।

२. भगवतीचरण वर्मा : भूले बिसरे चित्र (१६५६), दिल्ली, पृष्ठ ७२३ ।

उस समय पूछ सकते हैं जब तुम खुद अपने को पूछो ।"[1] वह नया दृष्टिकोण ही है, जो वैयक्तिकता की रक्षा के लिए परिवार की उपेक्षा कर देता है और केवल अपने सुख को ही महत्व देता है । 'पथ की खोज' (१९५१) में इसी कारण से चन्द्रनाथ का परिवार असफल हो जाता है और सुशीला के साथ उसके सम्बन्ध मधुर नहीं रह पाते । चन्द्रनाथ को इसका खेद नहीं होता है क्योंकि 'वह आज यह सुनने को भी तैयार नहीं है कि संयम और वैराग्य, उदासीनता और तटस्थता बहुत ऊंची चीज़ें हैं । इस प्रकार की किसी भी विचारणा से वह अपने व्यवहार को, अथवा रानी (साधना) के व्यवहार को निर्धारित नहीं होने देगा । वह आज समस्त लौकिक सम्प्रदायों और पारलौकिक शक्तियों को एक साथ चुनौती दे रहा है ।"[2] उषा प्रियंवदा के 'रुकोगी नहीं... राधिका' (१९६८) में राधिका अपने पिता से कहती है, "जो आप चाहते हैं, वही हमेशा क्यों हो ? क्या मेरी इच्छा कुछ भी नहीं है ? मैं आपकी बेटी हूं, यह ठीक है, पर अब मैं बड़ी हो चुकी हूं और मैं जो चाहूंगी वही करूंगी ।"[3] उसकी अपने पिता, भाई अथवा सौतेली मां विधा किसी से भी नहीं पट पाती और सारा परिवार असफल हो जाता है । यह नवीन मान्यताओं के फलस्वरूप ही होता है, जहां परिवार में प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी दृष्टिकोण बन गया है और सभी अपने स्वार्थ एवं स्वतन्त्र अस्तित्व की ही रक्षा करना चाहते हैं, परिवार की नहीं ।

'पत्थरों का शहर' (१९७१) में नवीन मान्यताओं के प्रभाव के कारण परिवारों के बनने-बिगड़ने के क्रम का मार्मिक विश्लेषण हुआ है । नवल बाबू परिवार में प्रत्येक प्रकार की आधुनिकता चाहते हैं, किन्तु किसी को न तो अपना व्यक्तित्व बनाने का अवसर देते हैं, और न निर्णय की स्वतन्त्रता । धीरे-धीरे परिवार के सभी सदस्य इसका विरोध करते हैं और परिवार पूर्णतया असफल हो जाता है । इति जब ज़ाक के साथ विवाह की बात करती है, तो हंगामा खड़ा हो जाता है । इति अटल रहती है और कहती है, "आप लोगों ने मुझे गन्दे कपड़े की गठरी समझ

----

१. भगवतीचरण वर्मा : थके पांव (१९६३), देहरादून, पृष्ठ ९७ ।

२. देवराज : पथ की खोज (१९५१), लखनऊ, पृष्ठ ३७९ ।

३. उषा प्रियंवदा : रुकोगी नहीं, राधिका (१९६८), दिल्ली, पृष्ठ ६१ ।

रखा है क्या ? आप चाहें तो सब मिलकर मेरा गला घोंट सकते हैं, लेकिन अपनी जिन्दगी के बारे में फैसले का अधिकार मैं किसी को नहीं दे सकती... दुनिया कहां से कहां पहुंच रही है और हम अभी भी एक-दूसरे को समझने की चेष्टा न कर अपने निर्णय को उन पर लादने की चेष्टा कर रहे हैं। चाहे वे व्यावहारिक हों या न हों।[1] तृप्ता और मनोज का जीवन भी इसीलिए सुखी नहीं रह पाता। अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण कथानायक विवेक भी अपना सामंजस्य बिठा नहीं पाता और एक परिवार में रहकर भी सभी सदस्य अलग-अलग हो जाते हैं। आधुनिक चेतना सम्पन्न व्यक्तियों की यह त्रासदी है कि वे न किसी के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर पाते हैं और न अपने स्वत्व के आगे परिवार की मूल्य-मर्यादा की रक्षा ही। इस उपन्यास में जीवन की बदलती हुई मान्यताओं का यही रूप एक विशाल चित्रफलक में प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में जीवन की मान्यताएं बड़ी तेज़ी से परिवर्तित हुई हैं। इसमें समाज का रूप बहुत बदला है और इसका प्रभाव परिवार के स्वरूप पर भी पड़ा है। उपन्यासकारों ने इस सन्दर्भ में नवीन मूल्यों एवं परिवर्तित मानव सम्बन्धों की पहचान बड़ी तीक्ष्णता से की है और परिवर्तन के सूत्रों को बड़ी गहराई से स्पष्ट किया है।

● पारिवारिक विघटन

ऊपर नवीन मान्यताओं के प्रभाव के फलस्वरूप पारिवारिक स्थितियों में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण किया गया है। यह परिवर्तन कभी-कभी इस सीमा तक पहुंच जाता है कि पूरा परिवार ही टूट जाता है और प्रत्येक सदस्य अलग-अलग इकाइयों में बंट जाता है। पहले संयुक्त परिवार टूटे और पति-पत्नी के छोटे-छोटे परिवार बने। परिस्थितियां इतनी तेजी से परिवर्तित हुई कि ये परिवार भी स्थिर न रह सके और इनमें भी दरारें पड़ने लगीं। प्रश्न उठता है कि इस विघटन का क्या कारण है ? उपन्यासकारों ने इस प्रश्न का उत्तर अपने-अपने ढंग से

----

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१) इलाहाबाद, पृष्ठ २१३।

खोजने की चेष्टा की है । एक बात पर सभी सहमत हैं कि इसका मूल कारण, आर्थिक दबाव, मानव-सम्बन्धों में परिवर्तन, निजी व्यक्तित्व का विकास एवं वैयक्तिक विचारधारा है । प्राय: इस पारिवारिक विघटन का कारण पीढ़ियों के संघर्ष में भी खोजने का प्रयास किया जाता है । यह कहकर कि पुरानी पीढ़ी अपनी जर्जर मान्यताओं एवं पिछड़े दृष्टिकोण के कारण नई पीढ़ी के प्रगतिशील चिन्तन के साथ सन्तुलन बनाए रखने में असमर्थ है । पर यह मूल कारण नहीं है । हां, इसका प्रभाव अवश्य पड़ा है । यह कहा जा सकता है कि यह पारिवारिक विघटन परिवर्तित होने वाले सामाजिक परिवेश का अनिवार्य तत्व है ।

`कल्याणी` (१९३७) में जैनेन्द्र कुमार ने कल्याणी के माध्यम से इस समस्या को उठाया है कि पारिवारिक विघटन का मूल कारण संघर्ष है । वह कहती है, `दोनों में से कोई एक चुनकर मुझे दे दो पातिव्रत या डाक्टरी । मैं पतिव्रत में परायण हो जाऊं या डाक्टरी की कमाई करके दूं । दोनों साथ होना कठिन है । जो मेरे ही चुनने की बात हो तो मैं कहूंगी कि मैं डाक्टर नहीं बनना चाहती पर अगर तुमको डाक्टरी की आमदनी चाहिए और इसके बिना नहीं चल सकता तो पतिव्रत की मांग उतनी कभी नहीं जा सकेगी ।`[1] डा० असरानी का परिवार विघटित हो जाता है । केवल आर्थिक दबावों के कारण पति अपनी स्वार्थपरता वश पत्नी की कमाई भी चाहता है और पारिवारिक निष्ठा भी । वह पत्नी का स्वतन्त्र अस्तित्व सहन नहीं कर सकता । `सुखदा` (१९५२) में भी परिवार टूटने का मुख्य कारण यही है ।

`देशद्रोही` (१९४३) में राजाराम की स्वार्थपरता के कारण परिवार विघटित होता है । यह पत्नी को केवल वासना तृप्ति का साधन समझता है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व सहन नहीं कर सकता है । वह कहता है, `उसे लौटकर आना पड़ेगा । इस उच्छृंखलता का फल भोगना पड़ेगा । यह स्वतन्त्रता देने का फल है ? उनके प्रेम का यह प्रतिफल है ? विश्वासघातिनी । जब उसका चलन ऐसा है तो उन्हें ही क्यों चिन्ता है । कल तक हम सर्वस्व, प्राणाधार, हृदयेश्वर थे, अब खन्ना हैं ? कल

---

१. जैनेन्द्रकुमार : कल्याणी (१९३७) बम्बई, पृष्ठ ४६ ।

और कोई ?... जो पसन्द आ जाए ।'[१] उसकी पत्नी चन्दा का दोष मात्र इतना था कि वह घायल राजाराम को राज के यहां लेकर जाती है । यशपाल का दृष्टिकोण यह है कि पुरुषों की निरंकुशता, अविश्वास, मध्ययुगीन दृष्टिकोण एवं नारियों की निजता को सहन न करने की भावना के कारण ही परिवार विघटित हो रहा है ।

'पतन' (१६२८) में ~~भगवतीचरण वर्मा ने~~ प्रकाशचन्द्र का परिवार इसलिए टूटता है कि क्योंकि वह 'प्रेम के भावों को समझता ही नहीं था सरस्वती उसके लिए एक जड़ पदार्थ थी - अपना सुख उसके लिए सब कुछ था । अपने सुख के आगे वह संसार की परवा न करता था, और अपने सुखों पर वह सरस्वती के सुखों को न्योछावर कर सकता था, और प्राय: कर ही देता था ।'[२] भवानीशंकर परिवार के टूटने का कारण भी यही है । वर्मा जी ने भी पुरुष की स्वार्थमय प्रवृत्तियों एवं नारियों के स्वतन्त्र अस्तित्व को सहन न करने की ही आधुनिक परिवारों के विघटन का मूल कारण माना है ।

'अन्धेरे बन्द कमरे' (१६६१) में मोहन राकेश ने हरबंस नीलिमा के माध्यम से पारिवारिक विघटन का मुख्य कारण पुरुष का अहंकार एवं उसकी कुत्सित प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है । नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' (१६६२) में श्रीधर का परिवार आर्थिक दबावों और पुरुष की उदासीनता के कारण ही टूटता है ।

इस प्रकार आज के उपन्यासों में पारिवारिक विघटन का मुख्य कारण जीवन में जटिलता का समावेश है । बौद्धिक युग की चिन्तनशीलता एवं जीवन संघर्ष की प्रबलता - ये दोनों मुख्य प्रवृत्तियां समकालीन जीवन में इतनी सशक्त हैं कि उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने दायरे में सीमित कर दिया है और पारिवारिक विघटन ही एक अनिवार्य तत्व शेष रह गया है । व्यक्ति के अहंभाव की एकान्तिकता

---

१. यशपाल : देशद्रोही (१६४३) लखनऊ, पृष्ठ २२० ।

२. भगवतीचरण वर्मा : पतन (१६२८) लखनऊ, पृष्ठ ७६ ।

इसका मुख्य कारण है । इस युग में नैतिक रूढ़ियां अत्यन्त तीव्रता से विच्छिन्न हुई हैं । नैतिकता के प्राचीन आधारों के परिवर्तित होने के साथ मानव-सम्बन्धों का परिवर्तित होना अनिवार्य था और इसका परिवार की कल्पना एवं स्वरूप पर प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था । आज के संक्रमणशील समाज में व्यक्ति और समाज की चेतना अलग-अलग धरातल पर क्रियाशील है । जीवन का दबाव व्यक्ति के मन पर बहुत बढ़ गया है और वह अपने ही बनाए दायरे में शान्ति की खोज के लिए आश्रय चाहता है । स्पष्ट है कि इन परिस्थितियों में पारिवारिक विघटन अनिवार्य है, जब तक कि धारणाओं में परिवर्तन नहीं होता और मनुष्य उचित संगति में समाज के साथ अपना सन्तुलन स्थापित नहीं कर पाता ।

● अकेलेपन की समस्या

ऊपर निजी व्यक्तित्व एवं स्वतन्त्र दृष्टिकोण के कारण पारिवारिक विघटन का विश्लेषण किया गया है । इसी सन्दर्भ में अकेलेपन की समस्या भी देखी जानी चाहिए । यों तो मानव जीवन में सदैव से ही कहीं-न-कहीं अकेला रहता है। किसी-न-किसी स्तर पर वह रिक्तता एवं शून्यता का अनुभव हमेशा ही करता रहता है, पर अभी तक इसे किसी समस्या के रूप में देखा नहीं गया था । स्वातन्त्र्योत्तर काल में पहली बार इसे एक महत्वपूर्ण समस्या के रूप में नए लेखकों ने उठाया और फिर तो यह समझा जाने लगा कि आधुनिक जीवन में अकेलेपन के अलावा कोई समस्या ही नहीं है । व्यक्ति को परिवार में समाज और यहां तक कि राष्ट्र में अकेला सिद्ध करने की जी तोड़ कोशिशें की जाने लगीं । नए लेखकों द्वारा प्रस्तुत अकेलेपन की यह समस्या उनकी कोई मौलिक दृष्टि नहीं है, वरन् यह पाश्चात्य विचारों - विशेषत: अल्बेयर कामू, ज्यां-पाल सार्त्र और फ्रेंज़ काफ्का जैसे सुप्रसिद्ध उपन्यासकारों के विचारों का प्रभाव है । अकेलापन मूलत: अस्तित्ववाद की देन है ।

अस्तित्ववाद के मुख्य प्रणेता ज्यां पालसार्त्र हैं । यों किर्केगार्ड (१८१८-५५) तथा हेडेगर (१८८६-) तथा गेब्रील मार्सेल (१८८६ -) पहले ही इसे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर चुके थे । यहां पर अस्तित्ववाद की व्याख्या करना अप्रासंगिक होगा । केवल उसके एक तत्व - अकेलेपन पर ही प्रकाश डालना यहां संगत होगा ।

अस्तित्ववाद में शून्यता पर बहुत बल दिया गया है। मनुष्य जीवन में सुख और सन्तोष चाहता है, पर वर्तमान परिस्थितियां इतनी कटु और विषाक्त हैं कि वह इसमें असफल रहता है। यह असफलता ही उसके जीवन में रिक्तता एवं शून्यता उत्पन्न कर देती है और वह दूसरों से कटकर अकेला पड़ जाता है। इस अकेलेपन से उसके जीवन में विचित्र प्रकार की ग्रंथियां एवं अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं और न तो वह समाज के लिए अपनी उपयोगिता सिद्ध कर पाता है और न स्वयं अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए ही। उसके दृष्टिकोण में विचित्र-सी निराशा-अनास्था एवं घुटन का जन्म होता है।

प्रश्न यह उठता है कि अस्तित्ववाद जिस अकेलेपन की चर्चा करता है, क्या वह हमारी भारतीय परिस्थितियों में सार्थक है। यूरोप में द्वितीय महायुद्ध के बाद जो भयानक विनाश लीला उत्पन्नहुई थी, उसने वहां के बुद्धिजीवियों की चेतना को बुरी तरह झकझोर दिया था और वहां अकेलेपन की समस्या ने युद्धकी विभीषिका की प्रतिक्रिया में जन्म लिया था। पर जब हमारे नए उपन्यासकार उन्हीं स्थितियों को ज्यों का त्यों हमारे भारतीय जीवन पद्धति पर आरोपित कर देने का प्रयत्न करते हैं, तो आश्चर्य होता है। 'अन्धेरे बन्द कमरे' (१९६१) में मोहन राकेश ने हरवंस नीलिमा के जीवन में इसी अकेलेपन का चित्रण किया है। वे विवाहित जीवन में प्रेम करते हैं और पहले से भी अधिक अकेले पड़ जाते हैं। उनके जीवन में जो अन्धकार और कुंठा है, वह अकेलेपन के धरातल पर ही अभिव्यक्त होती है। जब हरबंस की प्रेरणा से नीलिमा का स्वतन्त्र अस्तित्व उभरने लगता है, तो यह अकेलापन और भी बढ़जाता है। हरवंस इस स्थिति में आकर परम्परागत मूल्यों का तथा समर्थक बन जाता है। और नीलिमा से पत्नी धर्म के परम्परागत रूप के निर्वाह की अपेक्षा करने लगता है। इसके विपरीत नीलिमा आधुनिक मूल्यों के प्रति आग्रहशील हो जाती है और दोनों के बीच दरारें पड़ जाती हैं।[१] मधुसूदन और सुषमा श्रीवास्तव के जीवन में भी यही अकेलापन है और वे छटपटाते रहते हैं। लेखक ने अकेलेपन को मानव की नियति स्वीकारने से अस्वीकार कर दिया है।

---

१. मोहन राकेश : अन्धेरे बन्द कमरे (१९६१), दिल्ली, पृष्ठ १८७।

महानगरों में फोन की सुविधा ने सतही मानव सम्बन्धों की सम्भावना को भी जैसे समाप्त कर दिया है । मनुष्य अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में इसलिए अकेले पड़ता जा रहा है ।

इस अकेलेपन को मधुसूदन निम्मा और सुषमा के माध्यम से जितना ही दूर करने का प्रयत्न करता है, उतना ही और अकेले पड़ता जाता है । लेकिन इस अकेलेपन से साक्षात्कार करने का प्रयास इस उपन्यास में कोई नहीं करता ।सभी पलायन करते हैं और उन पर लेखक ने अपने तर्क आरोपित कर दिए हैं । इसी प्रकार 'न आने वाला कल' (१९६८) में हेडमास्टर मिस्टर व्हिसलर से चपरासी फकीरे तक सभी अकेले हैं, हालांकि वे सब एक छोटी सी पहाड़ी के स्कूल में एक-सा जीवन जीते हैं ।[१] नल्ला अपने इसी अकेलेपन की समस्या के कारण अपने पत्नी के निकट नहीं आ पाता ।

'यह पथ बन्धु था' (१९६२) में नरेश मेहता ने श्रीधर के अकेलेपन को नितान्त भारतीय सन्दर्भों में चित्रित किया है । वह जब एक लम्बे समय के बाद जेल से वापस आता है, तो सब कुछ बदला हुआ सा लगता है ।[२] घर का बंटवारा हो चुका होता है, माता-पिता की मृत्यु हो चुकी होती है । पत्नी अन्तिम सांसें ले रही होती है ।इन स्थितियों में कोई भी व्यक्ति सचमुच अकेला पड़ सकता है और श्रीधर इसका अपवाद नहीं है । उसका जीवन बाहर से पूरी तरह कटा होकर भी अपने परिवेश से सम्बद्ध रहता है, इसलिए उसका अकेलापन पश्चिम की देन नहीं, भारतीय परिस्थितियों की उपज है ।

इसके विपरीत 'वे दिन' (१९६४) में निर्मल वर्मा ने रायना को कृत्रिम अकेलेपन के रूप में चित्रित किया है । वह अपने पति से अलग होकर दूर-दूर प्रदेशों का भ्रमण करती है, फिर भी अकेली रहती है । इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि आधुनिक जीवन में मानव-सम्बन्ध पूरी तरह टूट गए हैं । अकेलेपन की अनुभूति अत्यन्त घनी

----

१. मोहन राकेश : न आने वाला कल (१९६८), दिल्ली, पृष्ठ १३ ।

२. नरेश मेहता : यह पथ बन्धु था (१९६२), बम्बई, पृष्ठ ४६८ ।

एवं व्यापक है ।[1] स्वयं कथानायक, फ्रान्ज, मारिया आदि भी पूरी तरह रीतेपन का जीवन व्यतीत करते हैं, अकेले हैं । रायना घर वापस जा नहीं सकती । प्रेम करने के भी योग्य नहीं रह जाती । सभी के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करना उसके लिए विवशता है, क्योंकि वह अधिक दिनों तक अकेली नहीं रह सकती । इस प्रकार इस उपन्यास में अकेलेपन की समस्या सेक्स से प्रभावित है और असन्तोष से सन्तुष्टि के बिन्दु तक घिरी रहती है । 'रुकोगी नहीं, राधिका' (१९६८) में भी राधिका का अकेलापन परिस्थितियों की उपज नहीं, ऊपर से आरोपित है । उसमें छटपटाहट है ।[2] लेकिन इस छटपटाहट को लेखिका सही दिशा में चित्रित कर पाने में असमर्थ है । उसमें भारतीय जीवन परिवेश में परिवर्तन के सूक्ष्मतर संकेतों को ग्रहण न कर पाने की क्षमता नहीं है, इसलिए उसने आधुनिकता का अत्यन्त भ्रमित रूप आरोपित कर दिया है ।

'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) में सुरेश सिनहा ने अकेलेपन की इस समस्या को नितान्त भारतीय परिवेश में चित्रित किया है । परमात्मा बाबू पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि हैं और जर्जर मान्यताओं एवं सामाजिक परम्पराओं में विश्वास करते हैं । आर्थिक दबावों और विषमताओं ने परिवार को पूरी तरह तहस-नहस कर दिया है । राजू नई पीढ़ी का प्रतीक है और परिस्थितियों के प्रति विद्रोह करता रहता है । उसके विद्रोह और परमात्माबाबू की प्रखर सहनशीलता, पर मौन दृढ़ता में संघर्ष होता है और सब लोग एक दूसरे से कटते चले जाते हैं । परमात्मा बाबू की सहनशीलता इसलिए है क्योंकि 'बूढ़ी माँ और पिता अपने अकेले पुत्र सेभयभीत रहते हैं । उन्हें लगता है, यह अपने सनकीपन में जो कुछ कहता रहता है, कहीं सच सिद्ध हो जाए तो आखिर क्या होगा ? मान लिया कहीं सचमुच वह पागलपन में एक दिन घर छोड़कर चला जाए तो ? अपने लड़के की भावुकता और उदासी उन्हें बहुत भयावह लगती हैं और एक दिन वह कहीं कुछ खा पी ले तो... उसके आगे कुछ सोच नहीं पाते वे लोग और जी जान से उसके लिए यथासंभव

----

१. निर्मल वर्मा : वे दिन (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ ७२ ।

२. उषा प्रियंवदा : रुकोगी नहीं... राधिका (१९६८), दिल्ली, पृष्ठ २२६

सारी सुविधाएं जुटाने में संलग्न हो जाते हैं। हालांकि दोनों को अब उससे अपने अंतिम दिनों के लिए कोई आशा नहीं है। वे आशंकित हैं, फिर भी सब कुछ किए जा रहे हैं, जैसे वह एक दिन भूले-भटके वृद्धावस्था की लाठी कदाचित सिद्ध हो जाएगा और घर की विकृतियों और उनकी विवशताओं के अबूझ यथार्थ को समझेगा...[1] घर में यह अकेलापन इसलिए था क्योंकि "घर की स्थिति विचित्र हो गई थी। जब सब लोग साथ इकट्ठे होते थे, तो उसका विशिष्ट अर्थ होता था, नहीं तो लोग एक दूसरे की छाया से भी बचना चाहते थे, क्योंकि उन्हें आशंका होती थी, पता नहीं दृश्य की कठोरता कब और भी विकृत हो जाएगी तथा सत्य का पर्दाफाश हो जाएगा।"[2] इस प्रकार की परिस्थितियां आर्थिक विवशताओं की उपज होती हैं, जिनमें पुरानी और नई पीढ़ी में कोई सन्तुलन-सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता है।

इस उपन्यास में समस्या अकेलेपन से पलायन करने की नहीं, उससे साक्षात्कार कर दूसरों से जुड़ने की है। राजू निरन्तर इसी प्रक्रिया से गुजरता है क्योंकि "हर शाम एक जख्म बन सकती है, घड़ी-दो-घड़ी का साथ देकर हर व्यक्ति नए निशान देकर सारी सम्भावनाएं अपने में समेटे और हर कन्फेशन्स झुठलाकर पत्थर का बुत बन सकता है... हर सम्बन्ध विषय की गांठों में बांधकर जर्रे-जर्रे में बांटकर आदमी को मृत्यु की नियति दे सकता है, पर आदमी का काम टूटना नहीं है, क्षणों में जीकर भी पूर्णता की ओर गतिशील होना है और फिर अपनी सक्षमता के साथ एक नए जन्म का, स्वयं अपनी जिन्दगी का एक नया इतिहास प्रारम्भ कर आगत को, कर्मों और संकल्पनों की निष्ठा से प्राण देना होता है..."[3], यह एक प्रकार से संस्कृति की आधुनिक व्याख्या है, जिसे अकेलेपन के सन्दर्भ में लेखक ने बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया है। सामाजिक परिवेश में व्यक्ति मन का आकलन इस उपन्यास में अकेलेपन तथा अपने घर में ही परायेपन की अनुभूति के परिप्रेक्ष्य में किया

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ २२७।

२. वही, पृष्ठ २४१।

३. वही, पृष्ठ ४१५।

गया है । राजू अपने घर में पूरी तरह टूट चुका है । पुरानी मान्यताओं एवं परम्पराओं से सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण अकेला अनुभव करने लगता है । लेखक ने इसमें आधुनिकता की चुनौती को कामू के विद्रोहशील आधुनिकता के सामने नतशिर होने के बजाय भारतीय परिवेश में स्वीकारा है । अकेलेपन के सन्दर्भ में सुरेश सिनहा ने इस उपन्यास में वैयक्तिक तथा साधारण जीवन का चित्रण जिस संवेदनशीलता, संयम एवं आत्मीयता के साथ किया है, वह आज के उपन्यासों में दुर्लभ है । आज तो अधिकांश रूप में पश्चिम से उधार ली गई दृष्टि के माध्यम से ही अकेलेपन का चित्रण पाठकों को चौंकाने मात्र के लिए किया जाता है । येलेखक ये भूल जाते हैं कि भारतीय परिवेश में भी अकेलेपन का समस्या है, जिसे परखने के लिए अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है । खेद है कि आज के बहुत कम लेखक इस चेतना एवं दृष्टि से समर्थ हैं ।

● अजनबी सम्बन्ध

परिवार में अकेलेपन की समस्या के साथ ही घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध अजनबीपन की समस्या है । अजनबीपन की बात कामू ने सबसे पहले की थी और आज का हिन्दी लेखक कामू के स्वर में अजनबी सम्बन्धों की बात करता है । अजनबीपन भी अस्तित्ववाद की देन है, जिसका मूल स्वर अनास्था एवं विध्वंस में ध्वनित होता है । स्वातन्त्र्य की खोज में और वैयक्तिक चेतना के विकास के साथ अजनबी सम्बन्धों का सूत्रपात होता है । भारतीय लेखक इसमें इतना और जोड़ देता है कि आज के व्यक्ति की स्वातंत्र्य की खोज टूटते हुए नैतिक व रूढ़ियों के बीच नीति के मूल स्रोत की खोज है और वह एक दूसरे से इसलिए अजनबी हो जाता है क्योंकि अपने अस्तित्व की चिन्ता सभी में व्याप्त हो गई है । अजनबीपन की यह प्रवृत्ति व्यक्ति को आत्मरत एवं आत्मकेन्द्रित बना देती है और वह पर्याप्त अंशों में अहंवादी तथा अराजकतावादी बन जाता है ।

'शेखर : एक जीवनी' में एक स्थान पर लेखक कहता है, 'इसके आगे कहानी नहीं है, अनुक्रम नहीं है । जीवन ने अर्थ खो दिया है, यथार्थता, व्यवस्था, गति, सब-कुछ खो दिया है । निरा अस्तित्व - एक क्षण से दूसरे क्षण तक । एक

अणु-पुंज का बने रहना - वह भी मिट गया है । मैं एक छाया हूं, एक स्वप्न, एक निराकार, आक्रोश, एक वियोग, एक रहस्य भावना से भावना तक भटकता हुआ एक विचार - हर जगह आग देता हुआ और स्वयं ज्वाला में फुलसता हुआ, जब उठता हुआ निरन्तर उठता हुआ - न बुफता हुआ, न मरता हुआ ।'[1] शेखर की इसी भावना को आज के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित होने वाले अजनबी सम्बन्धों का प्रारम्भ माना जा सकता है । यथपि जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी ने भी अपने उपन्यासों में इस तरह की भावना चित्रित की है, पर वे सब शेखर की ही भांति प्रारम्भिक रूप हैं, उनका कोई सैद्धान्तिक धरातल नहीं है । आज के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित होने वाले अजनबी सम्बन्ध समसामयिकता से जुड़े हुए हैं ।

'अन्धेरे बन्द कमरे' (१९६१) में प्राय: सभी पात्र एक दूसरे से अजनबी हैं ।उनके दायरे इतने सीमित हैं कि वे निकट सम्बन्ध होते हुए भी एक दूसरे को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते और अनास्था तथा घुटन में दु:ख फेलते रहते हैं । उनका यह अजनबीपन या मानसिक व्यथा ओढ़ी हुई है, जीवन-प्रक्रिया की स्वाभाविक देन नहीं है । नीलिमा के सन्दर्भ में शुक्ला ठीक मूल्यांकन करती है, 'उन्हें जिन्दगी में जो कुछ मिला है, उसकी परवाह नहीं करती और जो कुछ नहीं मिला, उसी के पीछे भटकती हैं, वे जिन्दगी भर एक मृगतृष्णा के पीछे भटकती रहेंगी और इसी प्रकार छटपटाती रहेंगी ।'[2] शुक्ला जी की यह धारणा प्राय: सभी पात्रों के बारे में सच है । न तो वे अपने को पहचानते हैं, न दूसरे को और इसी प्रकार छटपटाते रहते हैं ।

'वे दिन' (१९६४) में कथानायक अन्त में सोचता है, 'पहली बार मुझे लगा जैसे इस शाम तक हम दोनों के बीच जो रिश्ता था, अब वह नहीं है । वह बदल गया था, स्वत: और अनायास... उस रात पहली बार मुझे लगा कि एक व्यक्ति दूसरे

---

१. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (द्वितीय भाग), बनारस, पृष्ठ २४८ ।

२. मोहन राकेश : अंधेरे बंद कमरे (१९६१), दिल्ली, पृष्ठ ४०२ ।

के लिए अन्धेरा है - जैसे वह मेरे लिए थी, मैं उसके लिए । तीन दिन, तीन वर्ष... समय कुछ मानी नहीं रखता ।[1] उषा प्रियंवदा के 'रुकोगी नहीं... राधिका' (१९६८) में यह अजनबीपन अदाय, मनीश तथा राधिका में बना रहता है । राधिका अपने परिवार में सामंजस्य इसीलिए नहीं बिठा पाती ।[2] इन दोनों ही उपन्यासों में अजनबीपन आरोपित किया गया है । न वह परिस्थितियों की उपज है, न उसमें कोई यथार्थता है । यही कारण है कि वह एक व्यथा बनकर नहीं उभरता । इसके विपरीत 'एक और अजनबी' (१९६३) में मीनल कहती है, 'इस दुनिया में जैसे मैं एक और अजनबी हूं, जिसे वह कभी नहीं पहचानेगी । मेरा अस्तित्व रहे चाहे मिटे । दुनिया को उसकी परवाह नहीं । दुनिया सिर्फ अपनी गति देखती है अपना अस्तित्व बनाए रखने की चेष्टा करती है । उस प्रक्रिया में कितने लोग टूटते-बिखरते हैं, इसका उसे सोच नहीं ।...[3] ऐसा लगता है जैसे मैं हार गई हूं । मुझ अजनबी का जीना अब व्यर्थ है ।' नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' (१९६२) में श्रीधर दीर्घकाल के बाद लौटने पर घर में अपने को अजनबी ही पाते हैं[4] और उनका यह अजनबीपन मीनल की ही भांति परिस्थितियों की उपज है । वह पश्चिम से उधार ली गई दृष्टि नहीं, भारतीय परिवेश से उत्पन्न यथार्थ है ।

इसी प्रकार 'सुबह अंधेरे पथ पर' (१९६७) में राजू एक स्थान पर कहता है, 'कितनी अजीब है यह जिन्दगी और कितने अजीब हैं हम लोग । वर्षों साथ रहते हैं, फिर भी एक दूसरे के लिए अजनबी बने रहते हैं । कौन कहता है अगले क्षण की यथार्थता क्या है ? यहां सत्य कुछ भी नहीं है । सब कुछ एक मरीचिका है, खोखली जिन्दगी जीने और झूठी सभ्यता पर इतराने वाले हम बौने मनु की सन्तानें ।'[5] एक अन्य

---

१. निर्मल वर्मा : वे दिन (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ १११ ।

२. उषा प्रियंवदा : रुकोगी नहीं... राधिका ? (१९६८), दिल्ली, पृ० १२८ ।

३. सुरेश सिनहा : एक और अजनबी (१९६३), इलाहाबाद, पृष्ठ ६८ ।

४. नरेश मेहता : यह पथ बंधु था (१९६२) बम्बई, पृष्ठ ४४७ ।

५. सुरेश सिनहा : सुबह अंधेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ २८२ ।

स्थान पर राजू सोचता है, 'जाने कैसे हम लोगों के मिलते ही बात बिगड़ जाती थी और अपरिचय का ठण्डापन हमें जकड़ लेता था... फिर यह होता था कि अपने-अपने कमरों में बैठे हम विगत वर्तमान,आगत का हिसाब करते और आंखों पर हाथ रखकर सो जाने का बहाना करते । उस समय हममें से शायद प्रत्येक आत्मग्लानि के अजगर से डसा होता और इस संकल्प के साथ उस अजगर के निर्मम कसाव से मुक्ति पाने का प्रयास करता कि अब बेगानेपन का गला घोंट देंगे और अपनों जैसा व्यवहार करेंगे, पर ऐसा कभी नहीं हो पाता था...'[1] । यह नितान्त भारतीय सन्दर्भों से उपजी विवशता है, जो राजू के जीवन में या परिवार में नहीं है, आज असंख्य मध्यवर्गीय परिवारों में दिन-रात घटित होता रहता है ।

इस अजनबीपन से राजू संघर्ष करने की चेष्टा करता है, हरवंस मधुसूदन (अन्धेरे बन्द कमरे), राधिका, मनीश, अक्षय (रुकोगी नहीं... राधिका), कथानायक रायना, (वे दिन) आदि की भांति पलायन नहीं करता । उसकी छटपटाहट कुंठा एवं आत्महत्या की नहीं, अजनबीपन से मुक्ति पानेकी है, 'मैं स्वयं नहीं समझ पा रहा था, वह कौन सी ऐसी चीज़ थी, जिसने हम तीनों व्यक्तियों को इतना दूर-दूर कर दिया था और हमारे घर को सराय बना दिया था जिसमें हम बेगानों की तरह जीवन जी रहे थे... आखिर वह कौन सी ऐसी दीवार खड़ी हो गई थी हम तीनों के बीच, जिसे चाहते हुए भी हम गिरा सकने में असमर्थ थे और उसकी ओट कर के एक दूसरे की छाया से भी बचते थे, जैसे वह छाया भी हम लोगों के लिए अपरिचित थी, जिसके ऊपर दूसरी छाया डालने का अधिकार किसी को नहीं था'...[2] । अजनबीपन का यही भाव अमृतलाल नागर के 'अमृत और विष' (१९६६) में अरविंद शंकर में जीवन में बड़ी सार्थकता से चित्रित हुआ है - 'तन के ठेले पर लदा हुआ यह जीवन का भारी बोझ खींचते-खींचते मेरे प्राणों का भूखा अशक्त भैंसा अब बेदम होकर जेठ की चिलचिलाती धूप में तपती हुई सड़क पर गिर पड़ा है ।'[3] - अरविंदशंकर अगर इस

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अंधेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ २६६ ।

२. वही, पृ० ३४२ ।

३. अमृतलाल नागर : अमृत और विष (१९६६), इलाहाबाद, पृष्ठ ३४६ ।

स्थिति में अपने परिवार के दूसरे लोगों से कट जाते हैं, तो अस्वाभाविक नहीं लगता।[1] इलाचन्द्र जोशी 'ऋतुचक्र' (१६६६) में आरोपित अजनबीपन पर ही प्रहार करते हुए स्पष्ट किया है कि हमारी संस्कृति की उपलब्धियां, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी - हमारे माध्यम से निरन्तर चली आती रही हैं, आज भी अक्षुण्ण हैं। उन्हें पहचानने और तदनुसार गतिशील होने में हम अपने गौरव एवं संज्ञा की रक्षा कर सकेंगे।

'पत्थरों का शहर' (१६७१) में विवेक इसी सन्दर्भ में सोचता है, 'आखिर यह कैसा पत्थरों का शहर है। न कोई अपना, न कोई पराया। अजीब मुश्किल हालत - किसी को किसी पर विश्वास नहीं। किसी को किसी का दु:ख-दर्द छूता नहीं। हर आदमी बस, दया, माया रहित प्राणी है। ग्लानि और संवेदना अब यहां समय गुजर जाने के बाद होने वाली चीज़ हो गई है और उससे किसी के कार्य-व्यापार के बीच कोई अवरोध नहीं उपस्थित होता। यहां तो बस, सबके अपने-अपने संसार और छोटे-छोटे असंख्य संसारों के बीच बसा हुआ यह बेजान पत्थरों का शहर...'[2] इस प्रकार कुछ ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने अजनबी सम्बन्धों की मार्मिक अनुभूति भारतीय संदर्भों में देने की चेष्टा की है। अमृतलाल नागर, नरेश मेहता, सुरेश सिनहा, आदि उपन्यासकारों ने स्पष्ट कर दिया है कि आर्थिक दबावों, जिन्दगी की कटु परिस्थितियों एवं परिवर्तनशील सन्दर्भों के कारण हर मनुष्य एक दूसरे से दूर जा पड़ा है लेकिन उसका अर्थ कुंठा, घुटन या अनास्था नहीं है। इस अजनबीपन से मनुष्य को संघर्ष करना होगा और दूसरों से जुड़ने का प्रयास करना होगा, तभी जीवन के सूत्र भविष्य का कोई निर्माण कर सकेंगे। अन्यथा यथार्थ तो यह है कि, 'जैसे जैसे हम आगे बढ़ते जा रहे हैं, हमारी जिन्दगियां भी हमसे दूर होती जा रही हैं। अब तो यकीन भी नहीं आता कि हमारी अपनी भी कोई जिन्दगी है। सब कुछ[3] बेमालूम अजनबी-सा लगता है,जैसे हम चलती-फिरती मशीनें बन गए हों।' अगर इस स्थिति में भी पश्चिमी विचारकों और चिन्तकों की हम नकल करते रहेंगे, तो स्वयं

---

१. इलाचन्द्र जोशी : ऋतुचक्र (१६६६), इलाहाबाद, पृ० २१२।

२. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१६७१), इलाहाबाद, पृष्ठ २८।

३. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१६६७), इलाहाबाद, पृष्ठ ३६२।

भारतीय समाज की अकुलाहट एवं परिवर्तन के सूक्ष्म सन्दर्भों को समझने की चेष्टा कौन करेगा ? अनुकरण एवं दुहराने के इस युग में कुछ उपन्यासकारों में जो मौलिक दृष्टि हमें प्राप्त होती है वह एक नई आशा का संचार तो करती ही है ।

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि अजनबी सम्बन्धों ने अनेक स्तरों पर आज के मानव, उसके जीवन एवं परिवार को प्रभावित किया है । हिन्दी उपन्यासकारों ने इसे दो रूपों में ग्रहण किया है । एक रूप तो वह है कि जिसमें उपन्यासकारों ने सार्त्र, कामू तथा काफ्का की अनुकृति का प्रयास किया है और उनकी दृष्टि पश्चिम से उधार ली गई है । दूसरा रूप वह है जिसमें इने-गिने उपन्यासकारों ने दायित्वबोध का निर्वाह करते हुए सर्वथा मौलिक दृष्टि से भारतीय परिवेश में समाज के अजनबी सम्बन्धों की व्याख्या की है । इन उपन्यासकारों ने अजनबी सम्बन्धों का मूल कारण अनास्था, घुटन, अस्तित्व संकट तथा भविष्य के प्रति आशंका मानकर आस्था, जिजीविषा, आर्थिक दबाव, अनुभूति एवं विचारों के स्तर पर विभिन्नता तथा व्यक्तित्व की टकराहट स्वीकार की है । पहला रूप मोहन राकेश, निर्मल वर्मा तथा उषा प्रियंवदा आदि ने प्रस्तुत किया है । दूसरा रूप अमृतलाल नागर, नरेश मेहता तथा सुरेश सिनहा आदि ने प्रस्तुत किया है ।

● मृत्यु, संत्रास एवं निर्जीविता का भयावह प्रश्न

मृत्यु, संत्रास और निर्जीविता भी अस्तित्ववाद की ही देन है । यूरोपीय महायुद्ध के बाद वहां व्यक्ति की सुरक्षा का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है । युद्ध की मंडराती छाया ने व्यक्ति के मन में संत्रास और असुरक्षा का प्रश्न उपस्थित कर दिया । व्यक्ति मृत्यु से भयभीत रहने लगा । नीत्शे (१८४४-१६००) ने बहुत पहले घोषणा कर दी थी कि ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है । अत: मृत्यु क्यों होती है ? उसका अर्थ क्या है ? इसकी पुन: व्याख्या अस्तित्ववादी चिन्तकों को प्रतीत हुई । मृत्यु, संत्रास और निर्जीविता का यह भयावह प्रश्न सार्त्र, कामू एवं काफ्का के उपन्यासों में बार-बार उठाया गया है, जिसका सम्बन्ध अस्तित्वबोध से है । 'सार्त्र के अनुसार मृत्यु आकस्मिक होती है, इसलिए वह निन्दनीय है । वह जीवन को उसके अर्थ की अभिव्यक्ति देने में असमर्थ रहती है, वह उस अर्थ को सन्देह एवं रहस्य की स्थिति में छोड़ सकती है ।

अत: मृत्यु किसी व्यक्ति की विचित्र सम्भावना नहीं हो सकती । जीवन स्वयं अपने अर्थ का निर्णय करता है, क्योंकि वह सदैव रहस्य में रहता है । मृत्यु जीवन की ही भांति शुद्ध सत्य है ।... मृत्यु हमारे बीच से किसी को उठाकर एक स्थान रिक्त कर सकती है, किन्तु उसके प्रति हमारी चेतनागत निष्ठा को नहीं मिटा सकती । मृत्यु जीवन की कोई आकस्मिक घटना नहीं, वरन् प्रारम्भ से ही बना एक संभावना है ।'[1] मृत्यु की इसी सम्भावना से ही संत्रास एवं निर्जीविता का जन्म होता है, जो व्यक्ति के जीवन और परिवार पर प्रभाव डालती है । व्यक्ति अपने ही परिवार, अपने ही लोगों के बीच डरा हुआ संत्रस्त एवं असुरक्षा की भावना से आशंकित जीवन व्यतीत करता रहता है । उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है और वह निर्जीव हो जाता है ।

'अपने अपने अजनबी' (१९६१) मृत्यु के प्रति दो विरोधी भावों की टकराहट है, जिन के मूल में पूर्व और पश्चिम की जीवन-दृष्टियां हैं । लेखक ने इसे स्वीकार भी किया है, 'शेखर के सामने प्रश्न यह था कि मेरी मृत्यु की सिद्धि क्या है, यानी मैं मर जाता हूं तो कुल मिलाकर मेरे जीवन का क्या अर्थ होता है ? पर यहां यह हुआ कि जीवन मात्र के नक्शे में मृत्यु मात्र का स्थान है और यहां मैंने दो दृष्टियों को सामने लाने की कोशिश की है । एक को मोटे तौर पर पूर्व का कह सकते हैं और दूसरे को पश्चिम की ।'[2] उपन्यास में यह पूर्व की दृष्टि सेल्मा के माध्यम से और पश्चिम की दृष्टि योके के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है । 'मृत्यु का अहसास दोनों को ही, लेकिन सेल्मा... मरती हुई भी जिए जा रही है और मैं (योके) हूं कि जीती हुई भी मर रही हूं और मरना चाह रही हूं ।'[3] योके मृत्यु की इस संत्रस्त स्थिति से बचना चाहती है । भय एवं सिहरन उसे लगभग निर्जीव बना देती है । वह 'मृत्यु गन्ध' को अनुभव करती है और उससे बचने का प्रयत्न करती है, पर असफल रहती है - एकाएक

---

१. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ ४८ ।
२. अज्ञेय : अपने-अपने अजनबी - लेखक की दृष्टि में : ज्ञानोदय, जुलाई (१९६३),पृ०२०
३. अज्ञेय - अपने-अपने अजनबी (१९६१), बनारस, पृष्ठ ३६ ।

योके को लगा कि वह गन्ध और कहीं से नहीं आ रही है, उसी में उसी की देह से आ रही है ।[1] सेल्मा की मृत्यु कैंसर से होती है और योके भी वरण की स्वतन्त्रता नहीं मृत्यु का ही वरण करती है । इस प्रकार इस उपन्यास में अनुभव की मूल पृष्ठभूमि मृत्यु की है । अज्ञेय ने मृत्यु को जीवन की रेखाओं में सोचा है, जीवन को मृत्यु की सीमा रेखा में नहीं ।

'वे दिन' में मृत्यु और संत्रास का वातावरण पूरे उपन्यास पर छाया रहता है । निर्मल वर्मा का मत है कि क्या मानव की नियति मरण में है ।[2] यह युद्ध की मंडराती हुई छाया का परिणाम है । यही कारण है कि इस उपन्यास में किसी को किसी की आवश्यकता नहीं है । उनका विचार है कि न तो किसी चीज़ को पूरी तरह खोया जा सकता है, न पाया ही जा सकता है । 'न आनेवाला कल' (१९६८) में मोहन राकेश के पात्र भी मृत्यु की भयावह विडम्बना से त्रस्त हैं । नरुला एक स्थान पर कहता है, 'उसी तरह बैठे हुए और अपनी सांस के आने जाने को महसूस करते हुए एक क्षण आया जब मैं किसी चीज़ से डर कर सहसा उठ खड़ा हुआ । वह डर किस चीज़ का था ? उस खामोशी का ? अपने अकेलेपन का ? अपनी सास में रुकाव आ जाने के खतरे का ?'[3]

शोभा भी हर क्षण मृत्यु से डरती रहती है । नरुला को जमी हुई बर्फ पर निशानों को देखकर सन्त्रास एवं निर्जीविता का अनुभव होता है । लेकिन प्रश्न उठता है कि मृत्यु और सन्त्रास की यह भावना स्वाभाविक है, जो निर्मल वर्मा या मोहन राकेश ने अपने उपन्यासों में उठाई है ? इसका उत्तर नकारात्मक है । उन्होंने उपन्यास पर ऐसी स्थितियां आरोपित कर दी हैं, जिन्होंने शब्दों के माध्यम से उपन्यास के पात्रों में अवश्य ही मृत्यु के प्रति संत्रास भाव उत्पन्न कर दिया है, पाठकों के मन पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती । यह अस्वस्थ जीवन-दृष्टि का परिणाम है ।

'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) में 'मृत्यु और संत्रास की इस भावना को भारतीय संदर्भों

---

१. अज्ञेय : अपने अपने अजनबी (१९६१), बनारस, पृष्ठ १०० ।

२. निर्मल वर्मा : वे दिन (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ ८८ ।

३. मोहन राकेश : न आने वाला कल (१९६८), दिल्ली, पृष्ठ १२७ ।

में देखने और समझने की चेष्टा की गई है । 'मैं मृत्यु से डरता नहीं था... मृत्यु मेरे लिए निंदनीय थी क्योंकि वह जीवन को उसके अर्थ की अभिव्यक्ति देने में असमर्थ रहती है और उस अर्थ को सन्देह एवं रहस्य की स्थिति में छोड़ देती है ।'[1] राजू का यह कथन मृत्यु, संत्रास एवं निर्जीविता से पलायन नहीं, वरन् साक्षात्कार को स्पष्ट करता है । सुरेश सिनहा ने 'पत्थरों का शहर' (१९७१) में भी मृत्यु, संत्रास की इसी सारहीनता को विवेक के माध्यम से स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है । एक स्थान पर विवेक सोचता है, 'उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व जो मृत्यु हुई है, उसका अर्थक्या है ? उससे उसकी कितनी हानि हुई है... उसके मन में आया कि वह मृत्यु को सम्बोधित करके कहे, तुम्हारा अहंकार मिथ्या है... डेथ, डोण्ट बी प्राउण्ड... ।'[2] यह मृत्यु-संत्रास की आरोपित भावना का एक प्रकार से पर्दाफाश करता है ।

हिन्दी उपन्यासों की एक नियति यह भी रही है कि पश्चिमी दृष्टि को अविवेकपूर्ण ढंग से अपनी कृतियों में उतारने को आधुनिकता समझा जाता है, भले ही भारतीय संस्कृति, परम्परा एवं विचारधारा से उसका कोई सम्बन्ध हो या न हो । मृत्यु-संत्रास एवं निर्जीविता की भावना का चित्रण भी अधिकांश उपन्यासकारों ने इसी सन्दर्भ में किया है । इस दृष्टि से अज्ञेय और सुरेश सिनहा अपवाद हैं, जिन्होंने भारतीय परिवेश की उपेक्षा नहीं की है । 'अपने अपने अजनबी'[3] में अन्त में योके को इस संत्रास भावना की निस्सारता का पता चल जाता है । वास्तव में इन दोनों ही लेखकों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार इस भावना का चित्रण किया है और उससे पलायन करने के बजाय उसके विरुद्ध संघर्ष करने की बात उठाई है । क्योंकि उसी में जीवन की सार्थकता है ।

0000

----

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ में (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ २६६ ।

२. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृष्ठ २६३ ।

३. अज्ञेय : अपने अपने अजनबी (१९६३), बनारस, पृष्ठ १५६ ।

७. छठा अध्याय : आर्थिक विसंगतियां और मानव सम्बन्धों के नए धरातल

- कृषि और कृषक जीवन
- उद्योग धन्धे और श्रमिक
- ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति
- गांधीजी की आर्थिक दृष्टि
- बेकारी की समस्या
- समाजवादी समाज की परिकल्पना
- वर्ग-संघर्ष और नवीन आर्थिक विचारधारा
- पंचवर्षीय योजनाएं और पिसता हुआ मध्यवर्ग

भारत प्रारम्भ से ही कृषि प्रधान देश रहा है। यहां की धन-सम्पदा को देखकर ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी यहां आए और चरम सीमा तक जितनी लूटपाट कर सकते थे करते रहे। फलत: वह देश जो कभी धन-धान्य से पूर्ण था, आर्थिक बोझ से दब गया और पराधीन देश के नागरिक आर्थिक विसंगतियों में जीवन जीने लगे। इसका पहले अध्याय में विस्तार से अध्ययन किया गया है। यहां उसे दुहराना पिष्टपेषण मात्र होगा।

यहां उद्देश्य यह है कि इन आर्थिक विसंगतियों ने मानव सम्बन्धों पर क्या प्रभाव डाला है, इसलिए उसका सन्तुलित या असन्तुलित होना मनुष्य जीवन को प्रभावित करता ही है। प्रारम्भ से ही हमारे उपन्यासकार अन्य सामाजिक समस्याओं के साथ आर्थिक समस्याओं पर विशेष बल देते रहे हैं और विभिन्न स्तरों पर उसका चित्रण करते रहे हैं। यह चित्रण प्रत्येक उपन्यासकार के अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार हुआ है, पर एक चीज़ सबमें समान है और वह यह कि सभी ने उत्पादन के समान वितरण और आर्थिक समता पर बल देते हुए शोषण का विरोध किया है।

● कृषि और कृषक जीवन

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि भारत की आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार कृषि है। यद्यपि अकाल, सूखा या अति-वर्षा भारतीय मौसम की प्रमुख विशेषताएं हैं, फिर भी राष्ट्रीय आय का प्रमुख भाग कृषि से ही आता है। लेकिन दुर्भाग्य से यहां के कृषकों की अवस्था ब्रिटिश काल से ही अत्यन्त दयनीय रही है। परिश्रम किसान करता था, आय जमींदार को होती थी। जमींदारों का शोषण इस हालत तक बढ़ गया था कि किसानों का साधारण जीवन व्यतीत करना भी दुर्लभ हो गया। ब्रिटिश सरकार द्वारा जमींदारी व्यवस्था निर्मित करने के फलस्वरूप कृषि के विकास की सम्भावना समाप्त हो गई। जमींदारों का उद्देश्य लगान वसूल करना था। कृषि के विकास या कृषकों पर होने वाले अत्याचार से उनका कोई सम्बन्ध न था। दासता के कारण कृषकों को सरकारी कर्मचारियों का भी पेट भरना पड़ता था। इसके अतिरिक्त महाजनों का वर्ग था, जो कृषकों का

शोषण अत्यन्त अमानवीय ढंग से करता था । इससे आर्थिक स्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती गई । कदाचित् इसी को लक्ष्य करके भारतेन्दु ने लिखा था --

'अंग्रेज़ राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ।'

प्रेमचन्द ने इस महाजनी सभ्यता का चित्रण अपने उपन्यासों में बड़े मार्मिक ढंग से किया है । कर्मचारियों, कारिन्दों तथा महाजनों को संतुष्ट न करने तथा लगान न चुका पाने के कारण किसानों को बराबर बेदखली का डर बना रहता था और विवश होकर उन्हें महाजन की शरण में जाना पड़ता था । एक बार कृषक जब महाजन की शरण में जाता था तो उसका ऋण ही जीवन पर्यन्त चुकाता रह जाता था । उसकी मुक्ति नहीं हो पाती थी, इस प्रकार किसानों का जीवन इतना दयनीय हो गया था कि कृषि के विकास या आर्थिक विकास की आशा ही व्यर्थ थी । सियाराम शरण गुप्त, प्रसाद और प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में कृषकों के इसी नारकीय जीवन को अभिव्यक्त किया है ।

तत्कालीन युक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) में तो खेती की स्थिति सबसे शोचनीय थी । भारतीय दारिद्र्य के सम्बन्ध में प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने अपने विचार प्रकट किए हैं - 'हिन्दुस्तानियों की औसत आमदनी इतनी होती थी कि तीन तीन आदमियों की आमदनी से दो का ही पेट भर सकता है । उनको तीन बार खाना खाने की आवश्यकता होती है । तीन बार न खाकर दोही बार खाएं तो इतना हो सकता है कि इन तीनों आदमियों का पेट भर जाए । लेकिन, इसके लिए शर्त यह है कि वे कपड़े न पहनें और न घर में ही रहें बल्कि साल भर बाहर ही दिन काटें । तभी अपनी आमदनी से वे भरपेट खाना खासकते हैं लेकिन यह खाना भी ऐसा होना चाहिए कि सबसे मोटा-झोटा और शारीरिक शक्ति के लिए बिलकुल मामूली हो ।'[१] एक अन्य विचारक के अनुसार, 'युक्त प्रान्त में किसानों की अधिकांशत: ताल्लुकेदार व जमींदारों के अधिनस्थ किसानों की आर्थिक दशा बहुत खराब हो रही थी । उनकी विपत्ति बढ़

---

१. शाह और खंबाटा : भारत की सम्पत्ति और उसकी करोपयोगी क्षमता(१६२४), दिल्ली, पृष्ठ १५३ ।

रही थी । लगान वसूली के तरीकों में नरमी का नाम निशान भी न था ।... बेदखलियों तथा दबाव की ज्यादती से यह विपत्ति और भी गम्भीर हो गई थी । अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में तो किसानों पर आतंक का राज्य छा गया और उसके साथ क्रूरता पर क्रूरता होने लगी ।[1] प्रेमचन्द का जागरूक मन किसानों की आर्थिक विपन्नता को कैसे सहन कर सकता था । उन्होंने १६३२ में लिखा था[2] कि निर्धन किसान एक बार कर्ज लेकर उऋण नहीं हो सकता था । सूद भी नहीं अदा कर पाता, मूल का तो कहना क्या और यही कर्ज विरासत में वह अपने पुत्रों पर छोड़ जाता है । कितने जमींदार और साहूकार किसानों या किसान मजूरों को सौ पचास रुपए उधार देकर उनसे यावज्जीवन मजूरी कराते रहते हैं । केवल उन्हें जिंदा रहने के लिए कुछ अनाज रोज दे दिया करते थे । वेतन सूद में कटता था ।

'तितली' (१६३४) में प्रसाद ने भी इसी प्रकार के विचार प्रगट किए हैं, 'मैं तो समझता हूं कि गांवों का सुधार होना चाहिए । कुछ पढ़े-लिखे सम्पन्न और स्वस्थ लोगों को नागरिकता के प्रलोभनों को छोड़कर देश में गांवों में बिखर जाना चाहिए । उनके सरल जीवन में जो नागरिकों के संसर्ग से विषाक्त हो रहा है, विश्वास, प्रकाश और आनन्द का प्रचार करना चाहिए । उनके छोटे-छोटे उत्सवों में वास्तविकता, उनकी खेती में सम्पन्नता और चरित्र में सुरुचि उत्पन्न करके उनके दारिद्र्य और अभाव को दूर करने की चेष्टा होनी चाहिए । इसके लिए सम्पत्तिशास्त्रियों को स्वार्थ त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है ।'[3] लेकिन प्रसाद की यह सुधार भावना बौद्धिक स्तर पर ही स्पष्ट हुई है, वे आर्थिक विषमताओं के तह में नहीं जाते कि उन्होंने किसनों को किस सीमा तक गिरा दिया है और उसका मानव सम्बन्धों पर क्या प्रभाव पड़ा है ।

जमींदारों का शोषण किसी सीमा तक पहुंच गया था, इसका संकेत प्रसाद ने 'तितली'

---

१. डा० पट्टाभि सीतारमैया : कांग्रेस का इतिहास (१६४७), इलाहाबाद, पृष्ठ ४०४

२. प्रेमचन्द : विविध प्रसंग (१६६६), इलाहाबाद, पृष्ठ४८३ ।

३. जयशंकर प्रसाद : तितली (१६३४) इलाहाबाद, पृष्ठ २०६ ।

में मलिया के प्रसंग में दिया है - 'पर हम लोग जमींदार से टक्कर ले सकें, इतना तो बल नहीं । मलिया अब मेरे यहां रहेगी, तो तहसीलदार मेरे साथ कोई न कोई फफटखड़ा करेगा ।'[1] परिणामस्वरूप निराश्रित मलिया को कोई आश्रय देने को तैयार नहीं होता । उनकी मानवीयता जमींदार के डर से दबी रह जाती है । 'गोदान' (१९३६) में प्रेमचन्द ने भी होरी के माध्यम से इसी स्थिति को स्पष्ट किया है, 'पर अब मालूम हुआ कि हमारी गरदन दूसरों के पैरों के नीचे दबी है, अकड़कर निर्वाह नहीं हो सकता ।'[2] उनकी स्थिति उनकी विवशताओं के कारण इतनी दयनीय हो गई थी कि 'न जाने भगवान कहां सोए हैं कि इतना अन्याय देखते हैं और नहीं बोलते हैं । साल में छ: महीने बेचारे एक जून खाकर दिन काटते हैं, चिथड़े पहनते हैं, लेकिन सरकार को देखो तो उन्हीं की गरदन पर सवार । हाकिमों को तो अपने लिए बंगला चाहिए, मोटर चाहिए, हम नियामत खाने को चाहिए, सैर तमाशा चाहिए पर गरीबों का इतना सुख भी नहीं देखा जाता। जिसे देखो, गरीबों ही का रक्त चूसने को तैयार है । हम जमा करने को नहीं, न हमें भोग-विलास की इच्छा है, लेकिन पेट की रोटी और तन ढाकने को कपड़ा तो चाहिए । साल भर खाने पहनने को छोड़ दो, गृहस्ती का जो कुछ खर्च पड़े वह दे दो बाकी जितना बचे उठा ले जाओ । मुदा गरीबों की कौन सुनता है ।'[3] किसानों की यह आम हालत थी, जिसमें वे पिस रहे थे और अत्याचार सह रहे थे ।

इन आर्थिक विपन्नताओं को सहने के अलावा किसान के सामने कोई चारा भी नहीं था । 'वह चाहता था, शीत को भूल जाएं और सो रहें, लेकिन तार तार कम्बल और फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली पुआल । इतने शत्रुओं के सम्मुख आने को नींद का साहस न था ।... बेवाय फटे पैरों को पेट में डालकर और अपने हाथों को जांघ के बीच दबाकर और कम्बल में मुंह छिपाकर अपनी ही गर्म सांसों से अपने को

---

१. जयशंकर प्रसाद : तितली (१९३४), इलाहाबाद, पृष्ठ १३६ ।

२. प्रेमचन्द : गोदान (१९३६), बनारस, पृष्ठ ३४० ।

३. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१९३२), बनारस, पृष्ठ १४२ ।

गर्म करने की चेष्टा कर रहा था ।... जीवन में तो ऐसा कोई दिन ही नहीं आया कि लगान और महाजन को देकर कभी कुछ बचा हो ।'[१] इसके परिणाम-स्वरूप वह बराबर कर्ज के बोझ से दबता चला जाता है, जिससे उसको कभी मुक्ति नहीं हो पाती - 'वृन्दावन के चले जाने के बाद जमुना देखती है कि सारा घर कर्ज की बोझ से दबा है । कुछ प्रकृतिस्थ होते हुए ही उसे मालूम हुआ कि जितना उसके घर में है, सब उसीका नहीं । उसके ऊपर ऋण का एक बहुत बड़ा बोझ है । इस घर में इस ऋण का आगमन पहले पहल नवागत शिशु की तरह विशेष आनन्दोत्सव के साथ हुआ था । बच्चे निर्दिष्ट सीमा तक बढ़ सकल कर रुक जाते हैं, परन्तु ऋण की किसी सीमा का बन्धन नहीं । वह बढ़ता जाता है, बढ़ता ही जाता है, यहां तक कि घर का छप्पर और दीवारें भी उसका बढ़ना नहीं रोक सकतीं ।'[२] और 'प्राय: सभी किसानों का यही हाल था, अधिकांश की दशा तो इससे भी बदतर थी । शोभा और हीरा को उससे अलग हुए अभी कुल तीन साल हुए थे, मगर दोनों पर चार-चार सौ का बोझ लद गया । झींगुर दो हल की खेती करता है । उस पर एक हजार से कुछ बेसी ही देना है । जियावन महतो के घर भिखारी भीख भी नहीं पाता, लेकिन कर्ज का कोई ठिकाना नहीं । यहां कौन बचा है ।'[३] इस दयनीय स्थिति का प्रभाव यह पड़ता है कि कोई भी किसान सहज जीवन नहीं व्यतीत कर पाता । छोटे-छोटे स्वार्थ उभर आते हैं और सभी अपने ही प्रति चिन्तित रहते हैं । इसका मानवीय सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ता है । उनके बीच सहानुभूति, सहयोग, प्रेम और सद्भाव स्वत: समाप्त हो जाता है और वे सामाजिक विकास में अपना कोई योगदान नहीं दे पाते ।

भारत विभाजन के बाद जब स्वतन्त्रता मिली तो भी इस स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ । भारतीय किसान प्रेमचन्द के समय में जहां था, वहीं वह स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी रहा, 'सोने के अनाज से भरे हुए, धरती के गुप्त भण्डार का उद्घाटन

----

१. प्रेमचन्द : गोदान (१६३६), बनारस, पृष्ठ ११८ ।

२. सियारामशरण गुप्त : नारी (१६३७), झांसी, पृष्ठ १५ ।

३. प्रेमचन्द : गोदान (१६३६), पृष्ठ ३६ ।

करने वालों पर धरती माता का कोप होना स्वाभाविक है । यही कारण है कि आज जमीन के मालिकों ने, जमीन के व्यवस्थापकों ने और धरती के न्याय ने धरती पर इनका अधिकार नहीं जमने दिया है । जिस जमीन पर उनके झोंपड़े हैं, वह भी उनकी नहीं । हल में जुता हुआ बैल दिन भर खेत चास करता है, इसलिए बैलों को भी धरती का हकदार कबूल किया जाए ? यह कैसी बात है ।'[1] अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध जो विद्रोह प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में चित्रित किया था, वह आज नए ढंग से विकसित हो रहा है -- 'जमीन का मालिक वही है जो इस पर हल चलाता है । जमीन किसकी ? जोतने वालों की, जो जोतेगा, वह बोयेगा, वह काटेगा । कमाने वाला खायेगा, इसके चलते कुछ हो ।'[2] किसानों में नई चेतना अब जाग चुकी है और वे अन्याय,दमन एवं शोषण के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी आर्थिक विषमता को दूर करने में संलग्न हो गए हैं ।

इस प्रगतिशील सामाजिक आधार का सपना प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' (१९२२) में देखा था । मायाशंकर अपनी जमीन किसानों को सौंपते हुए कहता है, 'भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा से इसका उपयोग करता है । राजा देश की रक्षा करता है इसलिए किसानों से उसे कर लेने का अधिकार है, चाहे प्रत्यक्ष रूप में ले या कोई इससे कम आपत्तिजनक व्यवस्था करे । अगर किसी वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद अधिकार के नाम पर किसानों को अपना योग्य पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान व्यवस्था पर कलंक चिन्ह समझना चाहिए ।'[3] यही प्राकृतिक नियम है । किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों की कमाई को अपनी जीवन वृत्ति का आधार बनाए ।... भूमि उसकी है जो जोते ।'[4] यदि ऐसा नहीं होगा, तो गांव में किसान निरन्तर पिसते ही चले जाएंगे । आज भी यथार्थ यह है, 'क्या करूं भाई !

----

१. फणीश्वरनाथ रेणु : मैला आंचल (१९५४), दिल्ली, पृष्ठ १३१ ।

२. वही, पृष्ठ १२९ ।

३. प्रेमचन्द : प्रेमाश्रम (१९२२), बनारस, पृष्ठ ३४८ ।

४. वही, पृष्ठ १४२ ।

बामन हूं । हलवाही - चरवाही कर नहीं सकता हूं । मिहनत मजदूरी कोई करारगा नहीं । ऊपर फापर के कुछ काम कर देता हूं । इसी से दो प्राणी का गुजर चलता है । इस महंगाई में तो वह भी गया । कितने लोग हैं, जिन्हें बाजार से सौदा-सुल्फ मंगाना रहता है अब ? कहां होता है उत्सव-त्यौहार । बस किसी तरह जिन्दगानी कट जाए यही बहुत है ।'[1] आश्चर्य है कि यह अन्याय-शोषण अभी भी गांवों में चल रहा है । पहले जमींदार होते थे, अब मुखिया के रूप में नए शोषक सामने आए हैं - 'गांव में सभी फैसले मुखिया की मर्जी से होते हैं, पंच द्वारा नहीं । यह अन्याय का नया रूप है तथा इस 'अत्याचार और अन्याय का विरोध होना चाहिए । मगर विरोध कौन कर सकता है ? वे जो इससे सीधे टकराते हैं ।... हम सबके साथ मिल जुल कर ही रह सकते हैं । तभी हम अपना काम ठीक ढंग से कर पाएंगे ।'[2] वास्तव में यही एक सही दृष्टिकोण है, जिससे कृषकों की स्थिति में परिवर्तन आ सकता है और वे अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकते हैं ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि की हालत अपने देश में पहले से परिवर्तित हुई है, पर किसानों की हालत में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है । आर्थिक विषमता के कारण उनके बीच मानवीय सम्बन्ध अभी ठीक ढंग से विकसित नहीं हो पाए हैं । क्षुद्र स्वार्थ, संकीर्णता एवं अपने ही हित में सोचने की पद्धति आर्थिक विसंगतियों की देन है ।

● उद्योग धन्धे और श्रमिक

ब्रिटिश शासनकाल में भारत के औद्योगिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती थी, क्योंकि यह एक पराधीन देश था । पहले अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यदि उस काल में भारत का थोड़ा बहुत औद्योगिक विकास हुआ भी, तो वह भारत के हितों को ध्यान में रखकर नहीं किया गया था, वरना उसके पीछे ब्रिटिश साम्राज्य-वादियों की अपनी स्वार्थपूर्ण दृष्टि थी । द्वितीय महायुद्ध के समय फ्रांस के पतन,

----

१. शिवप्रसादसिंह : अलग अलग वैतरणी (१९६८), इलाहाबाद, पृष्ठ ३४२ ।

२. वही, पृष्ठ ४१३ ।

ब्रिटेन की मिलों एवं उद्योगों के नष्ट होने एवं जापान का भारतीय सीमा पर आक्रमण होने के कारण यह आवश्यक हो गया कि मित्र राष्ट्रों की सहायतार्थ कुछ उद्योग धन्धे भारत में स्थापित किए जाएं, जिनमें आवश्यक सामग्री का उत्पादन हो सके। भारतीय पूंजीपतियों के लिए यह स्वर्णिम अवसर था और उन्होंने दो हजार प्रतिशत तक लाभ उठाया। लेकिन उन्हें जितना लाभ हुआ, उस अनुपात में न तो श्रमिकों का वेतन बढ़ा और न उनके जीवन स्तर में सुधार का कोई प्रयत्न ही किया गया। उल्टे आर्थिक रूप से और भी विपन्न हो गए, क्योंकि आवश्यक वस्तुओं के मूल्य आकाश को छूने लगे थे। दैनिक वस्तुएं जब साधारण जनता को ही नहीं उपलब्ध होती थीं तो श्रमिकों की तो बात ही और थी, जिनका वेतन बहुत कम था। जब युद्ध समाप्त हुआ तो उत्पादन गिरना स्वाभाविक ही था, क्योंकि युद्ध सामग्री की अब उतनी आवश्यकता न रह गई थी। परिणामस्वरूप ४१ प्रतिशत श्रमिक बेकार हो गए तथा उनका जीवन और भी दयनीय हो गया।

इस युग में जो औद्योगिक विकास हुआ, उसमें पूंजीपतियों ने इतना लाभ कमाया कि सारी राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक शक्ति उनके हाथ में सीमित हो गई और सामान्य जीवन महंगा ही नहीं, घोर विपदाओं का शिकार बन गया। मुद्रा-स्फीति होने के कारण रुपए का मूल्य कम हो गया, जिससे श्रमिक और भी कठिन स्थिति में आ गए। पूंजी के विकास और औद्योगिक सभ्यता के कारण श्रमिकों की संख्या में यथेष्ट वृद्धि हो गई थी। उनमें से अधिकांश स्वार्थपूर्ण औद्योगिक नीति के कारण बेकार ही रहते थे। जो काम करते थे, उन्हें दिन भर कठोर परिश्रम करने के बाद भी इतना पारिश्रमिक न मिलता था कि वे अपना तथा परिवार का दोनों वक्त पेट भर सकें। एक तरफ मशीनी सभ्यता बढ़ती जा रही थी, दूसरी तरफ श्रमिकों का शोषण उसी अनुपात में बढ़ता जा रहा था। इस बीच रूसी क्रान्ति हुई, जिस का प्रभाव प्रेमचन्द पर बहुत पड़ा और उन्होंने अपने उपन्यासों में इस विकट समस्या को अत्यन्त सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया। उनका विचार था - "जो दलित हैं, पीड़ित हैं, वंचित हैं, चाहे वह व्यक्ति हों या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्यायवृत्ति तथा सौन्दर्यवृत्ति को जागृत

करके अपना यत्न सफल समझता है ।'[1] यह एक जागरूक कलाकार की पीड़ा थी, जिसे उसने अपने साहित्य का उद्देश्य बताया है ।

स्पष्ट है कि श्रमिकों का जीवन अत्यन्त नारकीय हो गया था । उसकी सामान्य सुख सुविधा की तरफ भी किसी का ध्यान न था । मिल मालिक शोषण करने के अतिरिक्त तो जैसे कुछ जानते ही न थे । सरकार टैक्स लगाती थी, तो वह श्रमिकों के वेतन से कटता था । मिल में घाटा होता था, तो श्रमिकों का वेतन भी घटा दिया जाता था । उनका हर स्थिति में शोषण होता था । इस पर आक्रोश प्रगट करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा, 'मिस्टर खन्ना की कथा सुनकर उन्होंने कठोर मुद्रा से उनकी ओर देखकर कहा - क्या यह जरूरी है कि ड्यूटी लग जाने से मजूरों का वेतन घटा दिया जाए । कपड़े जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोछेंगे । खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खाएगा। मैंने उनके जीवन में भाग लिया है । आप उनकी रोटियां छीनकर हिस्सेदारों का पेट भरना चाहते हैं ।'[2] मि० मेहता का यह कथन उस युग के श्रमिकों की वास्तविक स्थिति स्पष्ट कर देता है ।

इस नारकीय जीवन के प्रति दायित्वबोध से जुड़े हुए लोग उदासीन कैसे रह सकते थे । वे इस दशा में सुधार लाने का प्रयत्न कर रहे थे, पर कोई सफलता न प्राप्त होती थी । निराश होकर 'अमर के अन्त:करण में क्रान्ति का तूफान उठ रहा था । उसका बस चलता, तो आज धनवानों का अन्त कर देता, जो संसार को नरक बनाए हुए हैं । वह बोझ उठाकर दिखाना चाहता था, मैं मजूरी करके निबाह करना, इससे कहीं अच्छा समझता हूं कि हराम की कमाई खाऊं ।'[3] इस आर्थिक शोषण का विरोध करते हुए प्रेमचन्द ने अन्यत्र लिखा है, 'अब वह जमाना नहीं रहा, जब मजूर अपनी दशा को अपने भाग्य के अधीन समझ कर सन्तुष्ट हो जाते थे । मजूर अब अपनी दशा और भाग्य को सुधारना चाहता है और उसका प्रयत्न करता है । मजूरों ने अन्य देशों में

----

१. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य (१६४४), बनारस, पृष्ठ ६ ।

२. प्रेमचन्द : गोदान (१६३६), बनारस, पृष्ठ २८६ ।

३. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१६३२), बनारस, पृष्ठ १२६ ।

कैसे अधिकार प्राप्त कर लिए हैं, इससे वे बेखबर नहीं हैं।' मजदूरों पर कितना अत्याचार होता था, इसका मार्मिक चित्रण 'गबन' (१६३०) में उन्होंने लिख इस प्रकार किया है, 'मजूरों के साथ जितनी निर्दयता इसके मिल में होती है और कहीं नहीं होती। आदमियों को हंटरों से पिटवाता है। हंटरों से। चरबी मिला कर घी बेचकर इसने लाखों कमा लिए। कोई नौकर एक मिनट की भी देर करे तो तुरत तलब काट लेता है।'[१] यह इतनी दयनीय एवं शोचनीय स्थिति ही थी कि श्रमिकों का जीवन पशुओं से भी गया बीता हो गया था।

'रंगभूमि' (१६२४) में भी प्रेमचन्द ने औद्योगिक सभ्यता से उत्पन्न विकृतियों का निराकरण करने का सुझाव दिया है। 'इस उपन्यास में प्रेमचन्द का जीवनदर्शन अधिक स्पष्ट एवं प्रौढ़ रूप से स्पष्ट हुआ है। इसमें उन्होंने औद्योगिक व्यवस्था एवं कृषि व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर यह निष्कर्ष निकाला है कि औद्योगिक व्यवस्था में अनेक विकृतियां हैं। इससे अनेक हानियां होती हैं। पूंजी एकत्रित होकर कुछ सीमित लोगों के हाथों में चली जाती है और उस पर से सामूहिक नियन्त्रण समाप्त हो जाता है। दूसरे इससे नैतिक उच्छृंखलता का प्रसार होता है और जीवन का स्वरूप घृणित हो जाता है। उसमें आवंछनीय तत्वों का समावेश अधिक हो जाता है।'[२] इस प्रकार प्रेमचन्द श्रमिकों के जीवन में पर्याप्त सुधार की मांग समता और प्रगतिशीलता के आधार पर करते हैं, ताकि मानव सम्बन्ध विच्छिन्न न होने पाएं और मानव-मूल्य सुरक्षित रहें।

'बूंद और समुद्र' (१६४६) अमृतलाल नागर भी समझते हैं कि 'जितने मज़लूम हैं, जितने सर्वहारा हैं, वह सब चोट खाए नाग की तरह फन उठा रहे हैं।'[३] यह सब उस पूंजीवादी व्यवस्था की देन है, 'जो औद्योगिक क्रांति से उपजी है - 'मिल की गड़गड़ाहट से बाहर वालों को गति का एहसास है, वह समझते हैं कि नया उत्पादन हो रहा है, परन्तु अन्दर बहुत कम करके एनर्जी पैदा की जा रही है। केवल सेठ जी की साख

---

१. प्रेमचन्द : गबन (१६३०), बनारस, पृष्ठ १७१।

२. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१६६४), इलाहाबाद, पृष्ठ १४८।

३. अमृतलाल नागर : बूंद और समुद्र (१६५६), इलाहाबाद, पृष्ठ १४८।

कायम रखने के लिए। मगर ढोल में पोल लेकर पूंजीवादी विकास का लक्ष्यहीन क्रम अधिक से अधिक भी चलेगा तो आखिर कब तक ? अब उसमें दम ही कितना रहा है।[1] इसलिए औद्योगिक क्रांति के इस युग में ऐसे भविष्य का निर्माण श्रमिकों के लिए आवश्यक है - 'जिसमें अमीर-गरीब न होंगे, रंग-भेद न होगा, धर्म-भेद न होगा, जातीयता और राष्ट्रीयता न होगी - एक दुनिया होगी, एक मानव समाज होगा,'[2] नवीन युग में श्रमिकों के ऊपर शोषण का दमन चक्र अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। उनमें नवीन चेतना जागृत हो चुकी है और वे अत्याचारों का सामना करने के लिए कटिबद्ध हैं।

'देशद्रोही' (१६४३) में यशपाल ने श्रमिकों को संगठित होकर इन अत्याचारों एवं शोषण का सामना करने की प्रेरणा दी है। वे साम्यवादी चिन्तन के आधार पर कहते हैं, 'मजदूरों के परिश्रम से ही यह सब मिलें बनी हैं। उन्हीं के परिश्रम से सब कमाई हो रही है तो उनके पेट भरने और तन ढांपने की आवश्यकताएं उससे पूरी क्यों न हों ? आयु भर अपनी कमाई से दूसरों के ऐश का सामान तैयार कर स्वयं कंगाली में सड़ते रहने की अपेक्षा मजदूर एक दफा संकट फेलकर भरपेट खाने का अधिकार क्यों न प्राप्त करे ?'[3] इसके लिए 'हम तो मालिक मजदूर का सम्बन्ध ही मिटा देना चाहते हैं। हम मालिक को मालिक ही नहीं रखना चाहते...।'[4] श्रमिकों के ऊपर होने वाले शोषण को समाप्त करना आवश्यक है। 'प्रत्येक मनुष्य को अपने परिश्रम के फल पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। एक मनुष्य, दूसरे मनुष्य से, एक श्रेणी दूसरी श्रेणी से, एक देश दूसरे देश से, उसके परिश्रम का फल छीन ले तो यह अनुचित है, अन्याय है, अपराध है। यह समाज में निरन्तर होने वाली भयंकर हिंसा और डकैती है। इस हिंसा और शोषण को समाप्त करना ही हमारे जीवन का उद्देश्य रहा है।'[5] और जब तक श्रमिक संगठित न होंगे, नई चेतना

----

१. अमृतलाल नागर : बूंद और समुद्र (१६५६), इलाहाबाद, पृ० १४१।

२. अमृतलाल नागर : महाकाल (१६४७), इलाहाबाद, पृष्ठ २३७।

३. यशपाल : देशद्रोही (१६४३), लखनऊ, पृष्ठ ७१-७२।

४. यशपाल : दादा ह कामरेड (१६४१), लखनऊ, पृष्ठ १४०।

५. वही, पृष्ठ १७५।

का विकास इनमें न होगा, यूनियनों की एकता पर बल नहीं होगा, श्रमिकों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होने की आशा है।

'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) में श्रमिकों की आर्थिक विपन्नता का एक दूसरा ही पक्ष प्रस्तुत किया गया है। उद्योगपति हरवंश से राजू कहता है, "दिन-रात वे अपना खून पसीना एक करते हैं। पर उसके बदले में उन्हें नियमित रूप से दो रोटियां भी तो नहीं मिलती हैं। उनकी आंखों के सामने आने वाले कल की चिन्ता मुंह बाए खड़ी रहती है। बीमार बच्चों और पत्नी की करुण छायाएं घूमती रहती हैं।... आर्थिक विषमताओं ने उनकी कमर तोड़ दी है। वे सब यंत्र-परिचालित से हो गए हैं, बल्कि कोल्हलों, वे सब स्वयं मशीन के पुर्जे बन गए हैं। उन्हें पता भी नहीं है कि उनकी अपनी भी कोई जिन्दगी है। कोई दुनिया है। लाशों की तरह वे अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, पर दिन वह दूर नहीं है, जब यही शक्तिहीन वर्ग उठेगा। यहां भी एक क्रांति होगी, जो तुम जैसे मुट्ठी भर लोगों का सफाया कर देगी।"[1] यह दृष्टिकोण प्रगतिशील है जिसके आधार पर श्रमिकों की स्थिति में परिवर्तन की बात स्पष्ट की गई है।

इस प्रकार आधुनिक उपन्यासों में आर्थिक विषमताओं के सम्मुख नतशिर श्रमिक वर्ग के नारकीय जीवन की ओर कतिपय उपन्यासकारों का ध्यान गया है, जिनकी संख्या बहुत कम है। यह दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि प्रेमचन्द के बाद अमृतलाल नागर, यशपाल और सुरेश सिनहा ही ऐसे प्रमुख उपन्यासकार हैं जिन्होंने इस भीषण सामाजिक समस्या को अपने उपन्यासों के माध्यम से प्रस्तुत किया है और उनके बदलते हुए मानव सम्बन्धों की व्याख्या की है। आज हमारे हिन्दी के अधिकांश नए उपन्यासकार जिस झूठी आधुनिकता से आक्रान्त हैं, उस स्थिति में कदाचित श्रमिकों के ऊपर होने वाले शोषण एवं अत्याचारों का चित्रण करना पिछड़ापन प्रतीत होता है।

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ १२८।

● ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति

इसी अध्याय में अनेक स्थानों पर पीछे इस बात का उल्लेख किया गया है कि ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति अपने हितों पर ही आधारित थी । वे कोई ऐसी व्यवस्था निर्मित करना न चाहते थे, जिससे भारत में सम्पन्नता आए और निम्न वर्ग या मध्यम-वर्ग की अधिसंख्य मिलों के लिए अधिकाधिक कच्चा माल चाहिए था । ब्रिटिश अधिकारी भारत से सारा कच्चा माल वहां भेजते थे । वहां जब उत्पादन अधिक होने लगा, तो उसकी खपत के लिए बाजार भी भारत का ही चुना गया । यहां स्वयं थोड़ी बहुत चीजों का जो उत्पादन होता था, उन पर इतना अधिक उत्पादन शुल्क लगाया जाता था कि न वे चीजें यहां बिक पाती थीं, न बाहर । इंग्लैण्ड से आने वाली चीज़ों पर कर कम होता था, जिससे उनका मूल्य कम होता था और वह यहां आसानी से बिक जाती थीं । इस आर्थिक नीति का परिणाम यह हुआ कि भारत की आर्थिक व्यवस्था एकदम ढह गई । सारा धन बाहर जानेलगा और यहां की राष्ट्रीय आय एकदम कम हो गई ।

आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण साधारण जीवन और भी दयनीय हो गया । जमींदारी प्रथा की स्थापना करके ब्रिटिश अधिकारियों ने अपने और साधारण जनता के बीच सुरक्षा की दीवार खड़ी कर दी । ऊपर बताया जा चुका है कि जमींदार किसानों का शोषण कर उनका जीवन दयनीय, असहाय और परावलंबी बनाते जा रहे थे । उधर श्रमिकों का शोषण मिलों और कारखानों में रहा था । उत्पादन कुछ विशेष न था और राष्ट्रीय आय का ह्रास हो रहा था । ब्रिटिश सरकार की इस आर्थिक नीति का परिणाम यह हुआ कि जीवन अत्यन्त कठिन हो गया । भविष्य के प्रति कोई आशा शेष न रही । बेकारी और निर्धनता बराबर बढ़ती चली गई ।

इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि चरित्र का ह्रास हुआ । रिश्वत का जोर हुआ और नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन आया । प्रेमचन्द ने इसी स्थिति की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है, 'जब तक छोटे आदमियों का वेतन इतना न हो जाएगा कि वह भलमन्सी के साथ निर्वाह कर सके तब तक रिश्वत न बंद होगी । यही

रोटी, दाल, घी, दूध तो वह भी खाते हैं । फिर एक को तीस रुपए दूसरे को तीन सौ रुपए क्यों देते हैं ?'[1]

आर्थिक विपन्नता इस सीमा तक बढ़ गई थी कि जीवन सामान्य स्तर पर दुर्लभ हो गया था । इसकी ओर भी प्रेमचन्द ने संकेत किया है - 'दस्तूरी को बन्द कर देना मेरे वश की बात नहीं । मैं खुद न लूं लेकिन चपरासी और मुहर्रिर का हाथ नहीं पकड़ सकता । आठ-आठ-नौ-नौ पाने वाले नौकर अगर न लें तो उनका काम नहीं चल सकता ।'[2] समाज में इसी कारण भ्रष्टाचार, बेइमानी, चोरी तथा लूट-पाट आदि अनेक बुराइयां फैल रही थीं, क्योंकि ब्रिटिश सरकार की स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीति के कारण धन का समान वितरण नहीं हो पा रहा था ।

'संन्यासी' (१६४०) में इसी विचित्र स्थिति की ओर इलाचन्द्र जोशी ने संकेत करते हुए कहा है, 'कैसे विचित्र युग में हमने जन्म लिया है भाई साहब । मैं इस बात पर जितना ही सोचता हूं उतना ही मेरा दिमाग खराब होने लगता है । दलितों की दीनता और निर्धनों की पराधीनता के विरुद्ध जैसी जबर्दस्त आवाज़ इस युग में उठाई जा रही है, वैसी शायद ही पहले किसी युग में उठाई गई हो । साथ ही धन के वैभव के प्रति मस्तक नत करने की दास वृत्ति जिस हद तक इस युग के बने नेताओं के भीतर पाई जाती है, वह भी अतुलनीय है ।'[3] इस असमानता के कारण ही सामान्य जीवन अन्तर्विरोधों से भर गया था और उसका कोई मूल्य नहीं रह गया था लोगों के अपने स्वार्थ अत्यन्त प्रबल हो गए थे और मानव सम्बन्धों का परम्परागत आधार क्षीण पड़ने लगा था ।

'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१६६७) में सुरेश सिनहा ने इसी स्थिति की विवशता को स्पष्ट करते हुए परिवर्तन की आशा का संकेत दिया है, 'आज प्रत्येक निम्नमध्यवर्गीय परिवार अभावग्रस्त है । असहनीय व्यथा व और पीड़ा भरी घुटन उसकी वास्तविक नियति है ।

----

१. प्रेमचन्द : गबन (१६३०), बनारस, पृष्ठ ३६ ।

२. वही, पृ० ५२ ।

३. इलाचन्द्र जोशी : संन्यासी (१६४०) इलाहाबाद, पृष्ठ १८० ।

धन, वैभव और सुख तो पूंजी हरने वाले बूर्जुआ लोगों के हाथों है, जिन्होंने पैसों के बल पर सारे अधिकार अपनी परिधि में समेट लिए हैं। वितरण, उत्पादन और सारी सामाजिक व्यवस्था को मनचाहे ढंग से ढाल रखा है। ये थोड़े से बूर्जुआ मनोवृत्ति वाले पूंजीपति हमारे भाग्य के विधाता बने हुए हैं।'[1] एक अन्य स्थान पर परमात्माबाबू कहते हैं, 'हमारे देश में अभी तक विदेशी सरकार थी, जो भारत का हित नहीं देखती थी, पर अब देश में अपनी सरकार होगी, जिसकी नीति निर्माण की होगी। अब देश की पूंजी बाहर नहीं जाएगी। यहीं रहेगी, जिससे देश का आर्थिक संगठन मजबूत होगा। हमारे जितने भी नेता हैं, उन्होंने देश की आजादी के लिए बड़ा संघर्ष किया है, त्याग किया है। सब आदर्शवादी हैं। ये जेल गए व देशभक्त सब मिलकर देश की तरक्की करेंगे। यह नोच-खसोट और खुदगर्जी अब थोड़े ही रहेगी।'[2] इस आशा में ही लोग अपना जीवन जी रहे थे। मूल्यों का ह्रास हो चुका था और लोगों का नैतिक मनोबल पूरी तरह टूट चुका था। ब्रिटिश सरकार को इसकी चिन्ता न थी। यह पराधीन देश आर्थिक विवशताओं में किस प्रकार टूट रहा है, इसकी ओर उनका ध्यान न था। उनका ध्यान अपने देश की सम्पन्नता की ओर था।

● गांधीजी का आर्थिक दृष्टिकोण

गांधीजी आर्थिक स्वावलम्बन पर बल देते थे। स्वदेशी का प्रचार और विदेशी का बहिष्कार उनका मुख्य उद्देश्य था। इसके पीछे तर्क यह था कि लघु उद्योगों और कुटीर उद्योगों को बढ़ावा मिलेगा, जिससे पूंजी न होते हुए भी बहुत सारे लोगों को काम मिल सकेगा और उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सकेगी। गांधीजी ने इसलिए चर्खे पर बल दिया और सूत कातने की अनिवार्यता पर बल दिया। उनका दृष्टिकोण था, 'हमारे राष्ट्रीय स्कूल वस्त्रशाला होने चाहिए और इसी के ज्ञान को प्राप्त

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१६६७), इलाहाबाद, पृष्ठ १६।
२. वही, पृष्ठ १२३-१२४।

करने और बढ़ाने में राष्ट्रीय शालाओं को लग जाना चाहिए । चर्खे द्वारा ही हम युवकों को सहस्त्रों की संख्या में काम दे सकेंगे और जनता की धन वृद्धि में सहायक हो सकेंगे ।[1] स्पष्ट है कि गांधीजी देश की जनता को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे । उनका दृष्टिकोण यह नहीं था कि लोग अधिकाधिक लाभ कमाएं । वे तो यह चाहते थे कि लघु उद्योगों में लोग थोड़ी पूंजी लगाकर कम से कम इतना धन तो अर्जित कर सकें कि उनकी सामान्य आवश्यकताएं पूरी हो सकें । इससे बेरोजगारी की समस्या भी हल हो जाएगी और भविष्य के प्रति एक आशावादी दृष्टिकोण भी बन सकेगा ।

गांधीजी ने आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता अनुभव की और उसका प्रचार किया । उनकी दृष्टि में आधुनिक औद्योगिक सभ्यता शोषण का माध्यम है और नाना प्रकार की सामाजिक कुरीतियों की जड़ है । उनकी दृष्टि में भारत के आर्थिक शोषण के दो कारण थे - विदेशी सत्ता आधुनिक पूंजीवादी मशीनीकरण की सभ्यता । मशीनों द्वारा कुछ व्यक्तियों के हाथ में शक्ति केन्द्रित कर देना वे पाप तथा अन्याय समझते थे ।[2] औद्योगिक विकास के साथ ही श्रमिकों का शोषण होता है और उनका जीवन नारकीय हो जाता है । गांधी जी ने मद्य-निषेध पर भी बल दिया था ताकि धन विदेश न जाने पाए । इस समय मदिरा विदेश से आती थी । गांधीजी का आर्थिक दृष्टिकोण वास्तव में मानव-मूल्यों के व्यापक विकास पर आधारित था ।

गांधीजी का विचार था कि किसानों के ऊपर जो शारीरिक अत्याचार होता है, उनके मूल में आर्थिक शोषण ही है । अत: जब तक किसान आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी न होंगे, उनका शोषण समाप्त नहीं किया जा सकता । गांधी जी के इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर कांग्रेस ने साधारण जनता की आर्थिक विपन्नता

---

१. डा० राजेन्द्र प्रसाद : आत्मकथा (१६५२), दिल्ली, पृष्ठ १८० ।

२. जवाहरलाल नेहरू : डिस्कवरी आव इण्डिया (१६४६), पृष्ठ ३५६ --

"I consider it a sin and injustice to use machinery for the purpose of concentration of power and riches in the hands of few."

दूर करने का प्रस्ताव पास किया था और अपना आर्थिक कार्यक्रम निश्चित किया था। प्रेमचन्द ने अपने सभी उपन्यासों में विशेषतया, 'रंगभूमि' (१६२४) में गांधी जी का यही आर्थिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

'संन्यासी' (१६४०) में गांधीजी के आर्थिक दृष्टिकोण का तीव्र विरोध बलदेव करता है, 'गांधीजी पूंजीवादियों के पिट्ठू हैं, इसीलिए उनके प्रति मेरे मन में तनिक भी श्रद्धा नहीं है।'[1] वह बेकारी, शिक्षा, निर्धनता आदि के लिए गांधीजी को ही उत्तरदायी मानता है। लेकिन 'मुक्तिपथ' (१६५०) में राजीव एक दूसरा ही मत प्रस्तुत करता है, मानवीय विकास का स्वाभाविक रूप है। सबकी संचेतना, सबके सम उद्योग, सबके सम अधिकार, सबके सम शक्तियां, सब सामूहिक विकास द्वारा सम कल्याण की परतम परिस्थिति की ओर सबकी सम प्रगति।'[2] वास्तव में गांधीजी सहकारिता, समता एवं समान आर्थिक उत्पादन और वितरण पर जिस प्रकार बल देते थे, उसी से नए समाज की रचना सम्भव था और पराधीन भारतवासियों की आर्थिक विषमताएं दूर की जा सकती थीं।

● बेकारी की समस्या

बेकारी की समस्या ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देन है। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने शिक्षा नीति केवल क्लर्क बनाने के लिए निर्धारित की थी। क्लर्कों के स्थान भी इतने न थे कि सभी शिक्षित युवक उसमें खप सकें। दूषित शिक्षा प्रणाली का विकास होता गया, पर उस अनुपात में नौकरी के स्थान न निर्मित किए जा सके। शिक्षा की नीति ऐसी भी न बनाई जा सकी कि युवक कम से कम आत्मनिर्भर हो सकें। औद्योगिक सभ्यता ने गांवों के अशिक्षित युवकों को नगर की ओर आकर्षित किया। मिलों और कारखानों में भी श्रमिकों के लिए इतने स्थान न थे कि सभी अशिक्षित युवक लिए जा सकें। लेकिन गांवों से शहरों की ओर उनका आना कम नहीं हुआ। इसका परिणाम

---

१. इलाचन्द्र जोशी : संन्यासी (१६४०), इलाहाबाद, पृष्ठ १६२।
२. इलाचन्द्र जोशी : मुक्तिपथ (१६५०), इलाहाबाद, पृष्ठ ३५३।

यह हुआ कि गांवों में युवकों का मन नहीं लगता था और कृषि की स्थिति दयनीय हुई। दूसरी तरफ नगरों में काम न पा सकने के कारण उनके अन्दर कुंठा एवं निराशा उत्पन्न हुई।

नगरों में शिक्षित बेकार मुख्यतया मध्यवर्ग के थे। उनके सामने कोई स्पष्ट दिशा न थी। उनका दृष्टिकोण भ्रमित था। पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से वे इतने आक्रान्त थे कि छोटे-छोटे काम करना नहीं चाहते थे। सबको कुर्सी पर बैठने वाला ही काम चाहिए था। वे श्रम का महत्व समझते थ नहीं थे। आरम्भिक उपन्यासकारों ने श्रम के महत्व को प्रतिपादित करने की चेष्टा की। 'आरण्यबाला' (१६१५) में मुकुन्ददेव आर्थिक वैषम्य एवं अपनी बेकारी का उल्लेख करते हुए कहता है, 'इतना ज्ञान उपार्जन करने पर भी वह संसार के अन्य व्यक्तियों के सदृश धन-धान्य से सम्पन्न क्यों नहीं हो जाता? संसार में कितने लोग बिना परिश्रम के संसार का अनन्त सुख भोग रहे हैं। किन्तु इतना उद्योग करने पर भी उसे सांसारिक सुख क्यों नहीं मिलता।'[1] उसकी यह निराशा-कुंठा उस समय के सभी यत्व युवकों की थी जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने और लाख प्रयत्न करने के बावजूद नौकरी नहीं प्राप्त कर पाते थे। ब्रजमंजरी श्रम का महत्व समझती है और खूब परिश्रम करती है, पर समस्या का हल नहीं हो पाता।

'जहाज का पंछी' (१६५५) में बेकारी से तंग आकर नायक सोचता है कि आधुनिक समाज में ईमानदारी सबसे बड़ा शत्रु है और सत्य सबसे बड़ा पाप है। धन सबसे बड़ा अभाव है और जीवन सबसे बड़ा अभिशाप है। संगीत, कला, काव्य की प्रतिभा तथा उच्च शिक्षा सम्पन्न होते हुए भी उसे छोटी-मोटी नौकरी नहीं मिल पाती। वह कहता है, 'अपनी बेकारी से तंग आकर भोजन और निवास का कोई प्रबन्ध न होते देखकर मैंने निश्चय कर लिया था कि जहां कहीं जैसी नौकरी मुझे मिल जाए उसे स्वीकार कर लूंगा।'[2] नायक विवश होकर रसोइया बनता है, कपड़े धोने की लाण्ड्री चलाता

---

१. ब्रजनन्दन सहाय : अरण्यबाला (१६१५), काशी, पृष्ठ १०१।
२. इलाचन्द्र जोशी : जहाज का पंछी (१६५५), बम्बई, पृष्ठ २४०।

है तथा कुश्ती का काम सीखता है । यह समाज में फैली विषम आर्थिक समस्या तथा बेकारों की दयनीय स्थिति स्पष्ट करता है ।

'झूठा-सच' में यशपाल ने बेकारी की समस्या जयदेव पुरी के माध्यम से प्रस्तुत की है ।वह आर्थिक वैषम्य में कुंठित होता रहता है और कहीं न सफल हो कर एक प्रेस में मामूली सा काम शुरू करता है । 'भूले-बिसरे चित्र' (१९५९) में नवल कहता है, 'आप देख ही रहे हैं न, जाने कितने युवक पढ़-लिखकर बेकार घूम रहे हैं । उनके अन्दर कटुता भर गई है । हजारों युवक वकील बन गए हैं और उन्हें खाने तक को नहीं मिलता । हजारों नवयुवक बी० ए० और एम० ए० पास करके दफ्तरों के चक्कर लगा रहे हैं और उनके लिए कोई काम नहीं है ।'[1] यह इतनी भयावह स्थिति है, जिसने देश के अधिसंख्य युवकों को कुंठित कर दिया है । उनका नैतिक मनोबल टूट गया है और भविष्य के प्रति उनके मन में कोई आशा शेष नहीं रह गई है । इसका यथार्थ चित्रण 'थके पांव' (१९६३) में इस प्रकार हुआ है, 'उसकी शिक्षा केवल इसलिए हुई थी कि वह नौकरी करे, बैल की भांति गृहस्थी की गाड़ी ढोए । एक क्लर्क के घर में उसने जन्म लिया था और उसके भाग्य में वही क्लर्की बदी थी । वह उस दिन निकल पड़ा था, नौकरी की तलाश में ।... उसके मन में किसी प्रकार का अवसाद नहीं था । किसी प्रकार की कुंठा नहीं थी । उसे २५ वर्ष पहले की अपनी उस मन:स्थिति पर आश्चर्य हो रहा था । कितनी उमंगें थीं उसमें, कितना उत्साह था उसके अन्दर और आज जैसे सब कुछ बदल गया ।'[2] यह स्थिति केवल केशव की ही नहीं, आज समूचे शिक्षित युवावर्ग की है, जिसे बेकारी के समस्या पूरी तरह तोड़ रही है । उसकी उमंगें समाप्त होती जा रही हैं और राष्ट्र तथा समाज के लिए अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के बजाय वे विध्वंसात्मक दृष्टिकोण अपना रहे हैं ।

'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय ने इस समस्या को नितान्त वैयक्तिक आधार पर प्रस्तुत

---

१. भगवतीचरण वर्मा : भूले-बिसरे चित्र (१९५९), दिल्ली, पृष्ठ ७३६ ।

२. भगवतीचरण वर्मा : थके पांव (१९६३), देहरादून, पृष्ठ २७ ।

करने का प्रयत्न किया है । शेखर बेकार है, उसे नौकरी नहीं मिलती । आर्थिक विषमताओं में वह पूरी तरह घिरा हुआ है ।जीविका चलाने के लिए वह साइनबोर्ड पेन्ट करने लगता है । वह बौद्धिक श्रम नहीं, शारीरिक श्रम ही बेचना चाहता है, 'कुछ कमाई का काम अवश्य करता रहेगा । और वह काम भी यथासंभव ऐसा होगा कि उसे अपने ही वर्ग के सम्पर्क में न लाए, बुद्धिजीवि वे हों जिन्हें बुद्धि से जीविका कमाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना है । वह केवल अपने शरीर का श्रम बेचकर काम चलाएगा, ताकि अपनी बुद्धि से घोड़े को पराई उपयोगिता की गाड़ी में न जोतना पड़े, उसका सर्वनाश न करना पड़े ।'[1] इसीलिए शेखर 'हमारा समाज' की पाण्डुलिपि नष्ट कर देता है क्योंकि लाला अमोलक राय उसे संशोधित करके अपने नाम से छापना चाहते हैं । वह अपनी समस्या समझौता करके नहीं सुलझाना चाहता । बेकारी में भी वह अपना आत्मसम्मान बनाए रखता है ।

'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् भी भीषण बेकारी की समस्या का चित्रण राजू के माध्यम से हुआ है । आज एक नवयुवक की मन:स्थिति क्या होती है, इसे स्पष्ट करते हुए राजू कहता है, 'एक माह के महा व्यतीत होते गए और कोई नौकरी न मिल सकी । समाचार पत्रों के वान्टेड कालम छानता रहता था फिर प्रार्थनापत्र भेज देता था । हर प्रार्थनापत्र के साथ असंख्य झंझटें थीं । सभी प्रमाण पत्रों की प्रतिलिपियां किसी उच्चाधिकारी या एम० एल० ए० तथा एम० पी० से प्रमाणित कराने के पश्चात् संलग्न करनी पड़ती थीं । हालाकि इंटरव्यू अनिवार्य होता था और वहां सभी मूल प्रमाणपत्रों को दिखाना पड़ता था । प्रमाण पत्रों की प्रतिलिपियों को रोज़-रोज़ प्रमाणित कराना नौकरी पाने से कहीं अधिक भीषण समस्य बन गई थी । जिस किसी आफिसर के सामने जाता था, वह इतनी घृणा, उपेक्षा एवं मथ जाने वाली दृष्टि से देखता था, जैसे मैं उस गन्दे कपड़े से भी बदतर हूं, जिससे वह अपने जूते पोंछना भी पसन्द न करे । सुबह-से-शाम तक बैठा रहता था, तब कहीं जाकर उन्हें हस्ताक्षर करने का अवकाश मिलता था ।'[2] और उसके बाद होता यह

---

१. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (दूसरा भाग),(१९४४), बनारस, पृष्ठ ११४ ।

२. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ ३१७-१८ ।

था कि इंटरव्यू के नाटकों का पात्र बनते-बनते टूट-सा चला था और चारों तरफ कुंठाओं के पहाड़ तथा निराशाओं के समुद्र फैल गए थे, जिनमें घिरा मैं एक कदम आगे चलना चाहता था तो परिस्थितियां मुझे चार कदम पीछे ले चलती थीं। समझ चुका था जब तक पीठ पर किसी के भारी हाथ न होंगे, मेरे साथ सिफारिशों की शक्ति न होगी, मुझे इस भाई-भतीजावाद वाली व्यवस्था में नौकरी न मिल सकेगी।[1] आखिरकार आज का बेकार युवक अपना सन्तुलन कब तक बनाए रखे ?

इस उपन्यास में सुरेश सिनहा ने राजू के माध्यम से बेकार युवक की मन:स्थिति, कुंठा, संत्रास एवं घुटन का मार्मिक चित्रण करते हुए आर्थिक वैषम्य के संदर्भ में युवावर्ग के संतुलन-असंतुलन की व्याख्या की है। यह समाज की विचित्र विडम्बना है कि योग्य एवं सम्पन्न व्यक्तियों की शक्ति तथा क्षमता उपेक्षित हो रही है और उन्हें टूटने के लिए बाध्य किया जा रहा है। राजू अन्त में प्रूफ रीडिंग का काम प्रारम्भ करता है, जो समाज की इस विभीषिका पर तीखा प्रहार है और स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय योजनाओं पर व्यंग्य है, जो युवकों को देश का भविष्य मानकर उनकी बेकारी दूर करने के लिए बनाई जाती है। सुरेश सिनहा ने स्पष्ट किया है कि युवावर्ग को अपनी सामर्थ्य पहचाननी होगी, 'जिन्दगी तुम्हारी अपनी है, उसके साथ बेगानों जैसा व्यवहार करके तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा। शतरंज की मोहरों की भांति ही जीवन की काली-सफेद स्थितियां हैं, जिन्हें पूरी तौर पर सचेत होकर तुम्हें चलना है ताकि हर बाजी तुम्हारी अपनी हो।'[2] .. कुंठित होने का विध्वन्सात्मक दृष्टिकोण अपनाने से युवावर्ग का कोई लाभ नहीं होगा।

'पत्थरों का शहर' (१९७१) में बेकारी की इस समस्या का चित्रण विवेक के माध्यम से किया गया है, 'उसने एक बार इन्टरव्यू में आए लोगों की तरफ देखा उसके मन में शिद्दत की घृणा उभर आई। वह इस कदर उत्तेजित हो उठा था कि उसके मन में आया अन्दर चले और इन्टरव्यू का नाटक रचने वाले सभी लोगों को एक-एक करके गोली से उड़ा दे। इतनी दूर दूर से लोगों को बुलाकर उनके साथ विश्वासघात करने का

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृ० ३१९।

२. वही, पृ० ४१४।

आखिर उन्हें अधिकार क्या है ? किस मुश्किल से लोग पैसा इकट्ठा करके इन्टरव्यू में सिर्फ एक उम्मीद लेकर आते हैं कि चुनाव बहुत ईमानदारी से होगा और जो योग्य होंगे उनके रास्ते में रोड़े नहीं अटकाए जाएंगे । आखिर यह किस तरह की स्वतन्त्रता है और किस तरह का समाजवाद है, जहां न किसी की योग्यता की कोई कीमत है और न सबको बढ़ने का समान अवसर प्राप्त होता है ।...'[1] इसी उपन्यास में रवि समस्या का दूसरा पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहता है, 'बी० ए० पास कर लेने से क्या भविष्य बन जाएगा ? अंकल... अगर मुझे इस बात की उम्मीद होती कि बी० ए० पास कर लेने के बाद मेरा भविष्य संवर जाएगा तो मैं जी जान से मेहनत करता और फर्स्ट आने की कोशिश करता... बल्कि बी० ए० करता और पी० एच० डी० भी... या इंजिनियरिंग या डाक्टर बनने की कोशिश करता लेकिन मैं जानता हूं कि इस योग्यता की कोई कदर नहीं । वह नौकरी दिलाने में कोई सहायक नहीं होती, बल्कि फ्रस्ट्रेशन पैदा करने और एक दिन आत्महत्या करने में सहायक होती है... छोटे अंकल को नौकरी अब तक क्यों नहीं मिल पाई ? वे एम० ए० हैं, पी० एच० डी० हैं... जर्नलिज़्म का डिप्लोमा है... प्रैक्टिकल अनुभव है... अंकल आज तो चर्चों और चर्खों का ज़माना है जिसमें योग्यता की नहीं तेजी की ज़रूरत है ताकि हम हर मुश्किलों का सामना कर सकें...'[2] । स्पष्टत: यह कुंठित युवावर्ग का विध्वंसात्मक दृष्टिकोण है जो आज समाज को विघटित कर रहा है ।

इस प्रकार इस उपन्यास में बेकारी की समस्या को दो बिन्दुओं पर प्रस्तुत किया गया है । एक तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विकसित हुआ युवावर्ग है जो चुपचाप घुटता चला जा रहा है, आर्थिक वैषम्य में पिसता जा रहा है । पर अपने सर्जनात्मक दृष्टिकोण को टूट जाने के बावजूद खण्डित नहीं कर पा रहा है । दूसरा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जन्मा युवावर्ग है, जो आज पंचवर्षीय योजनाओं के पूरा हो जाने के

---

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृष्ठ १९२-९३ ।
२. वही, पृष्ठ २८३ ।

बाद बेकारी में विषमताओं का शिकार हो विध्वंसात्मक कार्यों में संलग्न है और समाज के विकास में अवरोधक है ।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि बेकारी की समस्या प्रारम्भ से अब तक हिन्दी उपन्यासों में अपने विविध आयामों के साथ चित्रित हुई है । आर्थिक वैषम्य में सशक्त युवा वर्ग किस प्रकार अपनी उपयोगिता समाप्त कर रहा है, इसे लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ।

● समाजवादी समाज की परिकल्पना

१६२१-२२ के बाद ही भारत में समाजवादी विचारों का प्रचलन हो गया था । समाजवाद विदेशी पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद का विरोध करता है तथा साथ ही राष्ट्रीय पूंजीवाद को भी मिटाने का प्रयत्न करता है । वह धन के असमान वितरण का विरोध कर एक ऐसे समाजवादी समाज की परिकल्पना करता है, जिसमें किसी का शोषण न हो । सबको आगे बढ़ने का समान अवसर हो । ऊंच-नीच, छूआछूत न हो तथा आर्थिक वैषम्य न हो । वह हिंसा का समर्थन नहीं करता ।

यों तो स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद राष्ट्रीय सरकार ने समाजवादी समाज की स्थापना अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया, पर प्रेमचन्द इस विचारधारा का प्रचार अपने उपन्यासों में करते रहे । समाजवादी समाज की परिकल्पना उनका मुख्य उद्देश्य था । 'प्रेमाश्रम' (१६२२) में प्रेमचन्द ने लिखा है । 'भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की, जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है.. मैं आप सब सज्जनों के सम्मुख उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग करता हूं, जो प्रथा, नियम और समाज-व्यवस्था ने मुझे दिए हैं । मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूं । वह न मेरे असामी हैं, न मैं उनका ताल्लुकेदार हूं । वह सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं, आज से वह अपनी जोत के स्वयं जमींदार हैं ।'[1] इसी प्रकार 'मंगलसूत्र' नामक अपूर्ण उपन्यास में भी वह कहते हैं,

----

१. प्रेमचन्द : प्रेमाश्रम (१६२२), बनारस, पृष्ठ ३८२ ।

'जिस राष्ट्र में तीन चौथाई प्राणी भूखों मरते हों वहां किसी एक को बहुत धन कमाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। चाहे वह समर्थ ही क्यों न हो।'[1] प्रेमचन्द के मन में वस्तुत: उस समाज की कल्पना थी, जहां किसी का शोषण न हो, पूंजी का गने-गिने हाथों में संचय न हो तथा उसका समान वितरण हो।

'व्यतीत' (१९५३) में जैनेन्द्रकुमार इसी बात को दूसरे ढंग से कहते हैं - 'जो पैसे में रहते हैं, समझते हैं, वे काबिल हैं? नहीं काबलियत यह है कि वह सिर्फ पैसों में रहना जानते हैं।'[2] अनिता का कथन धन के असमान वितरण पर ही तीखा प्रहार है, जो समाजवादी समाज की परिकल्पना में सबसे बड़ा अवरोध है। आज के राजनीतिक नेता केवल नारे लगाना जानते हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं - 'हमारे कष्टों का कितना अनुभव आपके नेताओं को है? समाज के संघर्ष से हम लोग बुरी तरह पिसे जा रहे हैं। निर्धनता और बेकारी के सबब से हम लोगों की जो दुर्गति हो रही है, पग-पग पर हमारा तथा हमारे कुटुम्बीजनों का आत्मसम्मान जिस निर्दयता से ठुकराया जा रहा है, क्या उसकी खबर आपके श्रद्धालु रखते हैं।'[3] जहां समाज का नेतृत्व करने वाले नेताओं में इतना अन्तर्विरोध हो, वहां समाजवादी समाज की स्थापना कठिन है। होना यह चाहिए कि 'राष्ट्र की बल्कि विश्व की उत्पादक शक्तियों का विकास अधिक से अधिक सम्भावना तक पहुंच जाए और उस परिपूर्ण उत्पादन का उपयोग समग्र जनता, समभाव से करे। राष्ट्र की सामूहिक पूंजी का नियन्त्रण और समविभाजन राष्ट्र के सच्चे प्रतिनिधियों की एक विश्वसनीय संस्था करे।'[4] तभी आर्थिक वैषम्य दूर किया जा सकता है और समूचे राष्ट्र की सम्पन्नता की कल्पना की जा सकती है। इसलिए 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर कहता है, 'कुछ करूंगा जिसे क्रान्ति कहते हैं। सब चीज़ उलट-पुलट कर रखूंगा। कुछ टूट-फूट जाएगी तो कहूंगा कि पुरानी सड़ी हुई थी।'[5] बिना इस क्रान्ति के वह

---

१. प्रेमचन्द : मंगलसूत्र (१९४४), बनारस, पृष्ठ २३।

२. जैनेन्द्रकुमार : व्यतीत (१९५३), दिल्ली, पृष्ठ २३।

३. इलाचन्द्र जोशी : संन्यासी (१९४०), इलाहाबाद, पृष्ठ १६४।

४. इलाचन्द्र जोशी : जिप्सी (१९५२), इलाहाबाद, पृष्ठ ३२२।

५. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (दूसरा भाग, १९४४), बनारस, पृष्ठ ११५।

असमानता नहीं दूर की जा सकती जो नए नए रूपों में आ रही है ।

महाकाल (१६४७) में पांचू गोपाल सोचता है, "हमारा संगठन, हमारा नैतिक बल, हमारी न्याय की आवाज उन्हें बहुत दिनों तक हमसे दूर नहीं रख सकती । सत्ताधारी पूंजीपतियों का वशीकरण मन्त्र अब अधिक दिनों तक उन्हें अपने जादू में बांधे नहीं रख सकता । जन-शक्ति, जन-क्रान्ति, सत्ताधारियों के स्वार्थ के किले तोड़ देगी ।"[1] बाबा रामजी का 'बूंद और समुद्र' (१६५६) में यह कथन भी इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय है, "जो काम करेगा वो पैसा भी पायेगा । आप भी ऐसा ही आसरम खोलिए ।... हमें नाम से नहीं काम से मतलब है... निर्धन पबलिक को धन मिलना चाहिए । शहर और गांव दोनों ही इस दृष्टि से भूखे हैं । इन दोनों को ही एक आर्थिक स्तर पर क्रमशः ले आइए ।... इन तीन लाख में यदि आप कुटीर उद्योग बढ़ायकर नगर के पुरुषों की महाजिन्दों की फांसी और बेइमानियों से बचा सकें... खरा समाजवादी वही है जो दूसरों के लिए जियै - जियै और जीने देय ।"[2] इस प्रकार नागर जी का दृष्टिकोण है कि जब तक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना न होगी, जिसमें सभी आत्मनिर्भर हो सकें, तब तक समाजवादी समाज की स्थापना न होगी । उनका मत है कि स्वावलम्बी बनने के साथ ही आगे बढ़ने का सबको समान अवसर दिया जाए और आर्थिक असमानता समाप्त की जाए, तभी नए समाज की कल्पना हो सकती है । उसका रूप ऐसा होगा "जिसमें अमीर-गरीब नहीं होंगे, रंग भेद न होगा, धर्म-भेद न होगा, जातीयता और राष्ट्रीयता न होगी, एक दुनिया होगी एक मानव समाज होगा ।"[3] नागर जी की यह कल्पना यदि सार्थक हो, तभी एक नए राष्ट्र का उदय होगा, आर्थिक शोषण समाप्त होगा, साधारण जनता का दयनीय-नारकीय जीवन समाप्त होगा और उस पर सामाजिक अन्याय न हो सकेगा ।

यशपाल के अनुसार सामाजिक न्याय के लिए आवश्यक है कि जिन लोगों ने समाज द्वारा उत्पन्न की गई सम्पत्ति में से दूसरों का भाग छीनकर अपने अधिकार में कर लिया है,

---

१. अमृतलाल नागर : महाकाल (१६४७) इलाहाबाद, पृष्ठ २३७ ।

२. अमृतलाल नागर : बूंद और समुद्र (१६५६), इलाहाबाद, पृष्ठ ५६६-६७ ।

३. अमृतलाल नागर : महाकाल (१६४७), इलाहाबाद, पृष्ठ २३७ ।

उनके अन्याय को सामूहिक शक्ति द्वारा दूर करके, समाज के पैदावार के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का समान अधिकार स्वीकार किया जाए ।'[1] यशपाल ने इस सामाजिक अन्याय का विरोध अपने सभी उपन्यासों में किया है और प्रगतिशील सामाजिक समाजवादी व्यवस्था का समर्थन किया है । उनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित है । इसलिए उन्होंने समाजवादी समाज की स्थापना के लिए रक्तपूर्ण क्रान्ति की आवश्यकता पर बल दिया है, ताकि पूंजीपतियों एवं अन्य शोषक वर्ग को पूर्णतया मिटाया जा सके ।

लेकिन क्या स्वाधीनता से कोई क्रान्ति हुई ? 'हमारी स्वाधीनता कोई क्रान्ति नहीं थी, केवल राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन मात्र था । हम दास तो अब भी हैं, तब अंग्रेजों के थे । अब पूंजीपतियों और स्वार्थी नेताओं के । आर्थिक क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में और संस्कृति के क्षेत्र में क्रान्ति अभी शेष है । आप देखते रहिए, जो चिंगारी सुलग रही है वह एक दिन भयंकर अग्निशिखा बन जाएगी और यहां भी रूस जैसी क्रान्ति होगी । अन्याय और शोषण चाहे जितने भी रूप बदलें, चाहे वह स्पष्ट रूप में सामने आए या नारे बाजी और झूठे आश्वासनों के नीचे दबे होकर आए यह हमेशा कायम नहीं रहेगी ।...'[2] यही कारण है कि देश में समाजवादी समाज स्थापित नहीं हो पा रहा है । इससे कोई परिवर्तन नहीं होगा । 'कैसे होगा भला परिवर्तन ? आप समझते हैं कि पूंजीपतियों के संकेतों पर चलने वाली यह कांग्रेसी सरकार इस व्यवस्था को बदलेगी ? यह सभी नेता आज अपनी जेबें भरने में लगे हुए हैं । कहां तो ८० प्रतिशत जनता दिन-रात खून-पसीना एक करके सात आने कमाती है और कहां साल भर में ३३ लाख रु० केन्द्रीय मन्त्रियों के बंगलों को ठंडा करने के लिए खर्च किया जाता है । यही समाजवाद है ?... समाजवाद एक ऐसा फैशन नहीं है, जो नारे से आता है वह एक प्रगतिशील सामाजिक स्थिति है, जो क्रान्ति से आती है ।... खूनी क्रान्ति से नहीं, क्रान्तिकारी परिवर्तनों से...'[3] इस प्रकार सुरेश सिनहा की विचारधारा भिन्न है । उनके अनुसार समाजवादी समाज निष्ठावान ढंग से आएगा ।

----

१. यशपाल : बात-बात में बात (१९५७), लखनऊ, पृष्ठ ३३ ।

२. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ २२४ ।

३. वही, पृष्ठ २२५ ।

इस उपन्यास में आर्थिक वैषम्य का जो विषादमय वातावरण प्रारम्भ से अन्त तक बना रहता है, वह मन में बड़ी पीड़ा उत्पन्न करता है । वह यह सोचने के लिए विवश करता है कि आखिर ब्रिटिश साम्राज्यवाद में भी साधारण जनता का आर्थिक शोषण होता था और स्वतन्त्रता के बाद आज भी हो रहा है । आखिर आज समाजवादी समाज की परिकल्पना के पूर्ण होने में क्या बाधाएं हैं ? इसका उत्तर लेखक ने व निहित स्वार्थ भ्रष्टाचार, राष्ट्रीय चेतना का ह्रास एवं विघटनकारी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों को उत्तरदायी ठहराकर दिया है ।

'पत्थरों का शहर' (१६७१) में भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आर्थिक असमानता का विशद चित्रण किया गया है, जिसमें समाजवादी समाज की परिकल्पना धुंधली पड़ गई है और साधारण जनता दयनीय जीवन जीने के लिए विवश हो गई है । विवेक को 'लग रहा था कि न जाने किस तरह का समाजवाद भारत में लाने की कोशिश हो रही है । जो फ्लैट में रहते थे वे अब बंगलों में रहने लगे हैं । जो बंगलों में रहते थे, एयर-कन्डीशन कोठियों में रहने लगे हैं । उधर जो झुग्गी झोंपड़ी में रहता था, वह फुटपाथ पर रहने लगा, वह बिना कफन व श्मशानघाट पहुंचा दिया गया । आजादी के २२ वर्षों की सबसे बड़ी देन यह है कि लाइन्स विटविन ऐंगर[१] एण्ड हंगर इज़ थिनिंग डाउन ।... और हम देश में नया समाजवाद ला रहे हैं ।' ... इसका परिणाम यह हुआ कि 'उसे बुरी तरह पराजित होना पड़ा इस आधुनिक सभ्यता के सामने जिसमें हर किसी को साधिकार गाली देना या गला काट देना जायज़ है... जिसमें पद, पदवी, पुरस्कार और वजीफा अपने परिचितों और सगे-सम्बन्धियों के बीच जन-सेवा और समाजवाद के नाम पर बंटने लगे और देश की सारी तरुणाई मूली-गाजर की तरह कटने लगी... जाहिर तौर पर वह उतना निष्ठुर, निर्मम और निष्प्राण नहीं बन सका, जिसकी इस सभ्यता को अपेक्षा थी । और एक दिन वह पंगु बन गया । असफलता के दहलीज पर दुर्भाग्य की बैसाखियां बिना मांगे और बिना चाहे उन्हें दे दी गई, फिर घिसटते रहने के अलावा कोई चारा भी तो नहीं था'...[२] अन्यत्र नितिन एक प्रकार से लेखक का ही दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहता

---

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१६७१), इलाहाबाद, पृष्ठ २८५ ।

२. वही, पृ० ६२ ।

है, "मेरे समाजवाद का अर्थ है मानवीय होना, पूर्ण मानवीय होना । सारा समाज एक है । सारे व्यक्ति एक परिवार के अंग हैं । धर्म, सम्प्रदाय या दृष्टिकोण के आधार पर उनमें विभाजन नहीं किया जा सकता । जहां भी मनुष्य किसी प्रकार के अमानवीय तन्त्र का शिकार है और उसके खिलाफ विद्रोह कर रहा है, उसके साथ मैं प्रतिबद्ध हूं ।"[1] और तभी वास्तविक समाजवादी समाज की स्थापना हो सकेगी । यदि ऐसा न हो सका तो ऐसे समाज के निर्माण का स्वप्न मिथ्या भ्रम ही रह जाएगा ।

इस उपन्यास में सुरेश सिनहा ने जीवन का प्रगतिशील मानदण्ड प्रस्तुत किया है, जिस के माध्यम से ही आर्थिक वैषम्य मिटाकर सभी के लिए जीवन की सामान्य सुविधाएं जुटाई जा सकती हैं । वादों का चक्कर मिथ्या है । उनके अनुसार हम वादों में बंधकर नहीं, वरन् अपने समाज के आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन के आधार निश्चित करेंगे, तभी एक समाजवादी समाज की स्थापना का स्वप्न सार्थक हो सकेगा । इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण जीवन से पलायन का नहीं है । आत्मसंघर्ष में ही सब कुछ प्राप्त हो सकता है और आर्थिक वैषम्य को पर्याप्त सीमा तक दूर किया जा सकता है ।

● वर्ग-संघर्ष और नवीन आर्थिक विचारधारा

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जो नई आर्थिक विचारधारा देश में निश्चित की गई, उसका मूल उद्देश्य आर्थिक शोषण को समाप्त कर वर्ग-वैषम्य को समाप्त करना था । ऐसे अवसर प्रदान करने का भी निश्चय किया गया, जिसमें श्रमिक तथा किसान अपने जी तोड़ परिश्रम का पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकें और स्वतन्त्र जीवन-यापन कर सकें । यह भी निश्चय किया गया कि भूमि तथा मशीनों का स्वामित्व जमींदारों एवं पूंजीपतियों के हाथों में न होकर कृषकों तथा श्रमिकों के हाथों में होगा । उसके लिए जमींदारी प्रथा समाप्त की गई । भूमि के उचित वितरण की व्यवस्था की गई । श्रम यूनियनों

----

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३०४-३०५ ।

को मान्यता प्रदान कर प्रबन्ध समितियों में उनके प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हुई। श्रम अदालतें बनीं, जिससे नौकरी और वेतन की सुरक्षा हुई। इसे किसानों एवं श्रमिकों में नया आत्मविश्वास जागा और वे कम-से-कम यह तो अनुभव करने लगे कि वे मात्र शोषण के लिए नहीं जन्मे हैं। वे स्वयं अपने जीवन का निर्माण कर सकते हैं। नई आर्थिक विचारधारा का यह कदाचित् सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम है।

लेकिन इसके अलावा प्रत्येक वर्ष बजट के माध्यम से जो नवीन आर्थिक चिन्तन प्रस्तुत किया जाता है, उससे देश का कोई विशेष हित नहीं हुआ है। इस चिन्तन में कोई उत्प्रेरक तत्व नहीं होते। आर्थिक सन्दर्भों में जनता बहुत हद तक भाग्यवादी हो गई है। अपने जीवन के अन्य सुख-दुख की तरह लोग नवीन आर्थिक विचारधाराओं को भी देखते हैं। वे सोचते हैं, दाम बढ़ेंगे तो आवश्यकताएं कम करनी पड़ेंगी या ऋण का बोझ बढ़ जाएगा। दूसरा वर्ग सोचता है कि नए कर लगेंगे, तो भी अपनीसंपत्ति एवं आय में वृद्धि कर लेंगे। इस प्रकार नवीन आर्थिक विचारधारा से वर्ग संघर्ष के बजाय वर्ग विभाजन ही बढ़ता जा रहा है। यह प्राय: बार-बार कहा जाता है कि सरकार की ओर से कि आर्थिक विचारधारा इस प्रकार निश्चित होनी चाहिए ताकि रोजगार के अवसर बढ़ें, असमानताएं घटें। प्रश्न उठता है कि यह सरकार नहीं करेगी तो कौन करेगा ?

नई आर्थिक विचारधारा का एक प्रमुख पक्ष यह भी रहा है कि अधिक से अधिक उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में लगाए जाएं और निजी क्षेत्र के प्रभुत्व को कम किया जाए। पर यह शुष्क सिद्धान्त ही सिद्ध हुआ है। प्रबन्ध की कमी, राजनीतिक दांव-पेंच तथा गलत व्यवस्था के कारण सार्वजनिक क्षेत्र में आज एक भी ऐसा उद्योग नहीं है, जो घाटे पर न चल रहा हो। यहां तक कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण भी विशेष लाभप्रद नहीं सिद्ध हो सका। अब तक सरकारी उद्यम क्षेत्र में ३६०० करोड़ रुपए से अधिक की पूंजी लग चुकी है, फिर भी स्थिति यह है कि लाभ केवल २१ करोड़ रुपए होता है। अभी घोषणा की गई है कि रोजगार की समस्या हल करने के लिए हर परिवार में कम से कम एक व्यक्ति को अवश्य रोजगार दिया जाएगा, पर कहां और कैसे इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। इसका कोई अर्थ तभी हो सकता है जब रोज़गार सारे

साल नियमित रूप से उपलब्ध हो । और उससे होने वाली आमदनी कम-से-कम इतनी हो कि परिवार की न्यूनतम ज़रूरतें पूरी हो सकें । फल यह हुआ है कि वर्ग-संघर्ष को कोई निश्चित आधार नहीं प्राप्त हो सका है और वैषम्य बढ़ता ही गया है ।

इस वैषम्य की ओर प्रारम्भ में 'आरण्यबाला' (१९१५) में मुकुन्ददेव ध्यान आकर्षित कर चुका था, 'संसार में कितने लोग बिना परिश्रम किए संसार का अनन्त सुख भोग रहे हैं,किन्तु इतना उद्योग करने पर भी उन्हें सांसारिक सुख क्यों नहीं प्राप्त होता ?'[1] यह वर्ग विभाजन को ही स्पष्ट करता है । प्रेमचन्द ने भी इसी वैषम्य की ओर ध्यान दिलाते हुए 'महाजनी सभ्यता' नामक अपने लेख में लिखा था कि जहां धन की कमी-बेशी के आधार पर असमानता है, वहां ईर्ष्या, ज़ोर, जबर्दस्ती, बेइमानी, झूठ, मिथ्या, आरोप, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार और सारी दुनिया की बुराइयां अनिवार्य रूप से मौजूद हैं । जहां धन का आधिक्य नहीं, अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में है, वहां जलन क्यों हो ? जब्र क्यों हो ? झूठी मुकदमेबाजी क्यों चले और चोरी-डाके की वारदातें क्यों हों ? ये सारी बुराइयां पैसे की ही देन हैं[2] - पैसा अपने साथ बुराइयां लाता है, जिन्होंने दुनिया के नरक बना दिया है । इस नरक को फिर से जीने लायक बनाने के लिए नई आर्थिक व्यवस्था आवश्यक थी, जिसके लिए स्वतंत्रता पूर्व हर व्यक्ति सपना देखता था । वर्ग संघर्ष होने की सम्भावना भी तभी बनेगी और तभी सारी विषमताएं दूर हो सकेंगी तथा एक नए समाज की स्थापना हो सकेगी ।

'मनुष्य और देवता' (१९६४) में प्रदीप समझता है कि हमारे देश में काम की कमी नहीं है । कमी ऐसे लोगों की है, जो भूले-भटके, बहके हुए लोगों को ठीक मार्ग सुझा सकें । एक ऐसी आर्थिक विचारधारा की आवश्यकता है, जिसे ईमानदारी से कार्यान्वित किया जा सके, ताकि यह आर्थिक वैषम्य समाप्त हो सके । लेकिन देश के राजनीतिक नेता केवल अपनी स्वार्थ लिप्सा में मग्न हैं - 'विधानगत सुख-शान्ति का उपयोग भी हम तभी कर पाते हैं जब हममें एक संगठित बल होता है । उस वर्ग से संघर्ष लेने का बल, जो आज शासन और व्यवस्था की कुर्सियों पर बैठकर न्याय और

---

१. बृजनन्दन सहाय : आरण्यबाला (१९१५), काशी, पृष्ठ १०१ ।
२. प्रेमचन्द : महाजनी सभ्यता - लेख ।

सत्य का अपमान करता हुआ नहीं लजाता और केवल यह देखता है कि मेरी यह कुर्सी जीवन भर के लिए स्थिर बनी रहे, जनता और समाज के हित चूल्हे भाड़ में जाएं।[1] स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में जो भी नई आर्थिक विचारधारा बनाई जाएगी, वह केवल कागजी होगी। वर्ग संघर्ष को उससे कोई हित नहीं होगा।

'सुनीता' (१६३४) में हरि प्रसन्न कहता है, 'मैं किसी वर्ग का नहीं हूं, तो निम्न वर्ग का हूं, अमीर वर्ग का हूं, मेरा परस्पर व्यवहार किसी समाज या सम्प्रदाय की परिधि में घिरा न होगा।'[2] उसका विचार है कि धन ही परस्पर मन-मुटाव और वैषम्य उत्पन्न करता है। यदि उसका समान वितरण हो जो नई आर्थिक विचारधारा में ही सम्भव है - तो समता स्थापित की जा सकती है। 'व्यतीत' (१६५३) में भी जयन्त के माध्यम से जैनेन्द्र कुमार ने इसी प्रकार का दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। समाज में सुख सुविधा उन्हें ही मिलती है, जो समाज के आर्थिक ढांचे को चलाते हैं। योग्यता अयोग्यता का समाज में मूल्यांकन पैसे से होता है, अत: ऐसी आर्थिक व्यवस्था आवश्यक है, जिसमें यह वर्गों का भेद मिट सके और सभी को सुविधाएं प्राप्त हो सकें।

यशपाल ने अपने उपन्यासों में वर्ग-संघर्ष का चित्रण करते हुए जिस आर्थिक विचारधारा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, वह वस्तुत: साम्यवाद से प्रभावित है। उन्होंने मुख्यत: श्रमिकों की स्थिति पर ही विचार किया है - 'मालिक-मजदूर की श्रेणी हिंसा को दूर रखकर यदि उनमें प्रेमभाव हो सके, मालिक अपने को मजदूर का रक्षक और पिता समझें, तो उनमें द्वेष न होकर प्रेम होगा। उनमें समाजवाद के झगड़े की गुंजाइश नहीं। वहां तो राम राज्य का आदर्श है।'[3] इस प्रकार यशपाल आर्थिक समानता पर बल देते हुए वर्ग संघर्ष को बढ़ावा देने की बात करते हैं, ताकि शोषण समाप्त हो सके और वैषम्य के स्थान पर समता स्थापित हो सके।

'पथ की खोज' (१६५१) में एक स्थान पर कहा गया है, 'वर्ग संघर्ष - युद्ध-परस्पर क्रंदन। क्या सचमुच यही मानव जीवन और इतिहास का नियम है। क्या इसी रक्त नाटक

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : मनुष्य और देवता (१६६४), देहरादून, पृष्ठ १६७।

२. जैनेन्द्रकुमार : सुनीता (१६३४), बम्बई, पृष्ठ ३२।

३. यशपाल : देशद्रोही (१६४३), लखनऊ, पृष्ठ ७४।

को खेलने के लिए मनुष्य विचार और बुद्धि का संबल लेकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ है ।[1] आर्थिक शोषण एवं मानव-मूल्यों के ह्रास ने ही वर्ग संघर्ष को जन्म दिया है । अतः समाज में जब तक समाजवादी विचारधारा के आधार पर नवीन आर्थिक चिन्तन नहीं होगा, आर्थिक समस्याएं हल नहीं होंगी ।

'अमृत और विष' (१९६४) में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जो नई आर्थिक व्यवस्था आई है, उसका पर्दाफाश इस प्रकार किया गया है, 'जमाना बड़ा बुरा आय लगा हैगा । सरकार ने पारसाल से आमदनी में भी टिक्कस बांध दिया हैगा । ससुरी लूट की भी हद होती है । अपनी विलायत को सोने की लंका बनाय रहे हैंगे । अमीर यों मरे और गरीब - क्या कहें रुपये में से भी चांदी रुपै तोले से नीचे गिर गई है । छोटे मंझोले सौदागर - दुकानदार टें बोल गए हैं बिचारे । उनका धन्धा तो कुछ सोने पे नहीं, चांदी से ही होता रहा न । और जब रुपै का माल दस ग्यारा आने का ही रह गया तो बताओ, कोई आदमी नए धंधे में अपना रुपैया कैसे फंसावे ।'[2] जो नई आर्थिक व्यवस्था बन रही है, उसमें वैषम्य बढ़ने के अलावा घटेगा नहीं । आर्थिक चिन्तन का आधार व्यापक सामाजिक हित में होना चाहिए, न कि कुछ लोगों के हित में इससे वर्ग संघर्ष बढ़ेगा और नए समाज की रचना नहीं हो सकेगी ।

'पत्थरों का शहर' (१९७१) में वादों से मुक्त होकर नई आर्थिक विचारधारा का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, 'देश में वैषम्य सर्वत्र है । देश में आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता है । हमारा ध्येय राष्ट्र के लिए एक सुनिश्चित एवं विकेन्द्रित आर्थिक योजना का निर्माण करना है ।.. नेता और जनता, पूंजीपति और श्रमिक, धनी और निर्धन, सबको श्रम की साधना में लीन जुटना होगा । श्रम विमुख राजनीति, आर्थिक और सामाजिक संरक्षण समाप्त करने होंगे । श्रम के लिए विमुख फड़कती भुजाओं को काम देना होगा । जहां राष्ट्रव्यापी श्रम है, वहां निर्धनता और विषमता टिक नहीं सकती । जहां समता और सम्पन्नता है, वहां

----

१. देवराज : पथ की खोज (१९५१), लखनऊ, पृष्ठ १३४ ।

२. अमृतलाल नागर : अमृत और विष (१९६६), इलाहाबाद, पृष्ठ ३४२ ।

सत्य है और वहीं शिव और सुन्दर है । नया युग श्रम युग हो, तभी कृत युग होगा ।[१] निश्चय ही यह नवीन आर्थिक विचारधारा वर्ग संघर्ष को समाप्त कर एक नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में सहायक होगी जिसमें किसी का आर्थिक शोषण नहीं होगा । किसी को व्यर्थ का संरक्षण नहीं दिया जाएगा, जिससे वर्ग-भेद बढ़े और बिना श्रम के किसी को सुविधाएं नहीं प्राप्त होंगी, जिससे सामाजिक अन्याय समाप्त हो सके, इस उपन्यास में यही स्पष्ट किया गया है ।

निष्कर्ष यह है कि नई आर्थिक विचारधारा की बातें बहुत ही की जाती हैं, पर सभी केवल राजनीतिक नारे तक ही सीमित रह गई हैं । उन्हें कार्यान्वित नहीं किया जाता और सामाजिक अन्याय एवं असमानता में वर्ग संघर्ष को प्रोत्साहन प्राप्त होता है । एक नई सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि ठोस आधार पर नई आर्थिक व्यवस्था निर्मित हो, जिसे ईमानदारी से कार्यान्वित भी किया जाए ।

● पंचवर्षीय योजनाएं और पिसता हुआ मध्यवर्ग

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् नई आर्थिक व्यवस्था लाने के लिए सरकार ने योजना आयोग गठित किया और पंचवर्षीय योजनाएं बनाईं ताकि साधारण जनता को सुख-समृद्धि प्राप्त हो सके । आजकल देश चौथी पंचवर्षीय योजना के दौर से गुज़र रहा है । लेकिन ये योजनाएं इतनी महत्वाकांक्षी थीं कि साधारण जनता को उनसे लाभ नहीं हुआ । केवल बड़े बड़े बांध बने, जिनमें बाढ़ आने पर दरारें पड़ जाती हैं । बड़े-बड़े बिजलीघर बने, जिनमें उत्पादन लक्ष्य के अनुसार बिजली बनती नहीं और रोज ही पूर्ति में कटौती की जाती है । सरकारी क्षेत्र में बड़े बड़े उद्योग धन्धे स्थापित हुए, जिनमें राजनीतिक दांवपेंचों के कारण रोज लाखों का घाटा होता जाता है । इन योजनाओं में कुछ नए स्टेशन बने, सरकारी भवन बने, मन्त्रियों के शानदार आवास बने और नगरों के सौन्दर्यपूर्ण (फेस-लिफटिंग) बनाने की चेष्टा की गई ।

स्पष्ट है कि इसका कोई लाभ मध्यवर्ग को नहीं हुआ और उसकी आर्थिक स्थिति बड़ी

---

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१६७१), इलाहाबाद, पृष्ठ १७७ ।

दयनीय हो गई। योजनाओं की असफलताओं पर व्यंग्य करते हुए सुरेश सिनहा ने 'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) में लिखा है, "यह दो चार घरों का नहीं, सारे देश का मामला है। लेकिन सरकार जो योजनाएं बना रही है, कागजी और लाल फीतेशाही होने के अतिरिक्त उन्हें ईमानदारी से लागू भी तो करना चाहिए। जवाहरलाल जी तो सपना देखते हैं कि रातों रात देश को अमरीका और इंग्लैण्ड की भांति वैभवशाली बना देना चाहिए। ठीक बात है। कौन नहीं चाहता, पर वे यह क्यों भूल जाते हैं कि विश्व का हर राष्ट्र भिखियाकरों से भरा-पटा होता है। जहांएक या दो या वह भी नहीं गांधी, पटेल, जवाहरलाल या लालबहादुर जन्मते हैं। अत: कोई योजना बने तो इन भिखियाकरों और उनकी स्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिए। बोझ उतना ही हो, जितना लोग सहन कर सकें।"[१] लेकिन यथार्थ स्थिति यह है कि आर्थिक असमानता बढ़ रही है। दिन दूनी रात चौगुनी मूल्य वृद्धि हो रही है जिसने मध्यवर्ग की कमर ही तोड़ कर रख दी है।

प्रेमचन्द के समय में भी यही स्थिति थी कि "पति की आय ही कभी इतनी न हुई कि बाल बच्चों के पालन-पोषण के उपरान्त कुछ बचता। जब से घर की स्वामिनी हुई, तभी से उसकी तपश्चर्या का आरम्भ हुआ और सारी लालसाएं एक-एक करके धूल में मिल गईं।"[२] यह स्वतन्त्रता पूर्व के मध्यवर्ग की स्थिति थी और स्वतन्त्रता के बाद की स्थिति यह है कि, "मैं सोच रहा था कि पिता जी के पास आज से २५ वर्ष पूर्व जब वह अंग्रेजों के ज़माने में पच्चीस रुपए पर नौकर हुए थे, एक ही धोती-कुर्ता था और आज जब स्वाधीनता के बाद दो सौ रुपए पाते हैं, तो भी एक ही धोती-कुर्ता है। आखिर यह कैसी विडम्बना है। देखते-ही-देखते मेरे सामने एक ही धोती-कुर्ते में पिता जी के जीवन की लम्बी यात्रा का रथ चक्र घूम गया..."[३] स्पष्ट है कि मध्यवर्ग की स्थिति तब थी, उससे बदतर आज है। चार योजनाएं बनीं, लेकिन मध्यवर्ग पर पड़नेवाला आर्थिक दबाव बढ़ता ही गया। उसमें कुंठा, विवशताजन्य,

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ २४३।

२. प्रेमचन्द : गबन (१९३०), बनारस, पृष्ठ ६३।

३. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ २४३।

संघर्ष, दयनीय परिस्थितियां तथा भाग्यवादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहा है ।

मध्यवर्ग तो योजनाओं के बनने के बावजूद निर्जीव सा हो गया है, 'मैं तो मशीन हूं। क्ट-क्ट, क्ट-क्ट रुपया बनाती हूं । हर काम रुपया मांगता है । है न ? यह दुनिया का सच है ।'[१] यशपाल सोचते हैं यदि लोग उद्योग धन्धों का साधन न होने पर मिलों, कारखानों, दफ्तरों में नौकरी से जीविका चला सकते हैं या किसान धरती न होने पर खेती मजदूरी कर सकते हैं तो फिर उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण हो ।[२] लेकिन राष्ट्रीयकरण हो जाने के बाद भी तो मध्यवर्ग की की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । वह वैसे ही आर्थिक दबाव में जी रहा है, जैसे पहले ।

यहां तक कि अब तो मध्यवर्ग को अपनी अनिवार्य आवश्यकताएं पूरी करने में भी कठिनाई अनुभव हो रही है । ठीक से पहनना-ओढ़ना तो दूर अब तो बच्चों को शिक्षा देने की समस्या भी विकराल होती जा रही है - 'आप नहीं जानतीं कि निम्न मध्य वर्गीय परिवार कैसे जीते हैं । मैं आपको क्या बताऊं । मेरे पिता एक साधारण अध्यापक हैं । उनको मेरी बड़ी बहन का विवाह करना है और इसीलिए वे मेरे पढ़ाई का खर्च वहन करने में असमर्थ हैं । इन दिनों कितनी आर्थिक उथल-पुथल से गुजर रही हूं । हो सकता है निकट भविष्य में मेरा पढ़ना भी छूट जाय ।'[३] यही नहीं, जो लोग शिक्षा पूरी कर चुके हैं, उनकी स्थिति यह है कि 'कल से फिर दफ्तरों के चक्कर लगाना शुरू करूंगा और आपको भी कुछ दौड़धूप करनी पड़ेगी मेरे लिए। आप तो जानते ही हैं कि आजकल पढ़े लिखे लोगों की बेकारी बुरी तरह बढ़ रही है । हर जगह छंटनी हो रही है, तनख्वाहों में कमी हो रही है और हर साल हजारों ग्रेजुएट गुलामी करने के लिए तैयार होकर विश्वविद्यालयों से निकल रहे हैं ।'[४] यह गलत

---

१. जैनेन्द्रकुमार : कल्याणी (१९५६ संस्करण) दिल्ली, पृष्ठ १४३ ।

२. यशपाल : झूठा-सच (देश का भविष्य), लखनऊ, पृष्ठ ५२२ ।

३. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : विश्वास का बल (संवत २०१३) दिल्ली, पृष्ठ २३६ ।

४. भगवतीचरण वर्मा : थके पांव (१९६३), देहरादून, पृष्ठ ८१ ।

योजनाओं का ही परिणाम है कि देश में बेकारों की संख्या बढ़ रही है। उनका कोई भविष्य नहीं रह गया है। निश्चित भविष्य की कामना में वे पूरी तरह टूट रहे हैं। इसका भी मध्यवर्ग पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। मूल्य वृद्धि के ज़माने में कोई मध्यवर्गीय परिवार ऐसा नहीं है, जहां बेकार न हो और वह आर्थिक विवशताओं में पिस न रहा हो। यह बड़ी दयनीय स्थिति है।

स्थिति तो यह आ गई है कि 'जिसे लोग मध्यवर्ग कहते हैं, उसमें यह जीवित रहने का संघर्ष भयानक है। इस मध्यवर्ग के पास विशिष्टता का ढोंग है, सम्पन्नता का दिखावा है। इसके पास समाजिकता है, उसके पास नैतिकता है। इन सामाजिक और नैतिक मान्यताओं का निर्माता यह मध्यवर्ग ही तो है - ये मान्यताएं केवल इस वर्ग के सत्य हैं और मान्यताओं को वह अपने सिर पर लादे हुए है। इस मध्यवर्ग के पैर लड़खड़ा रहे हैं।'[1] वास्तविकता यह है कि योजनाएं असफल हो गई हैं। मूल्यवृद्धि असमान तक पहुंच गई है और मध्यवर्ग का जीवन विषम हो गया है।

'अमृत और विष' (१९६६) में भी अरविन्द शंकर की स्थिति यह है कि 'इक्कीस वर्ष की आयु से लेकर अब तक कभी इच्छामय विश्राम ही नहीं कर पाया।'[2] यह आर्थिक विवशताओं का ही परिणाम है। 'अलग-अलग वैतरणी' (१९६८) में दयाल महाराज कहते हैं, 'क्या करूं माई! बामन हूं - हलवाही - चरवाही कर नहीं सकता। मिहनत मजदूरी कोई करायेगा नहीं। ऊपर-झापर के जो कुछ काम कर देता हूं, इसी से तो दो प्रानी का गुजर चलता है। इस महंगाई में तो वह भी गया।'[3] इन विवशताओं के कारण लोगों का नैतिक बल टूट गया है और न्याय अन्याय में विवेक करने की शक्ति भी नहीं रह गई है -- 'मुझे चार चार बहनों की शादी करनी है। एक कौड़ी पल्ले नहीं है। अगर वैधजी कान पकड़कर कालिज से निकाल दें तो मांगे भीख तक न मिलेगी। अब तुम्हीं बताओ कि मैं इन साले सन्ना-पन्ना को अपना

---

१. भगवतीचरण वर्मा : थके पांव (१९६३), देहरादून, पृष्ठ ८१-८२।

२. अमृतलाल नागर : अमृत और विष (१९६६), इलाहाबाद, पृष्ठ ४४८।

३. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी (१९६८), इलाहाबाद, पृष्ठ ३४२।

बाप मानकर चलूं कि वैद जी को ।'[१] प्रिंसिपल साहब का रंगनाथ से कहा गया यह सत्य आज के मध्यवर्ग की दयनीय स्थिति को स्पष्ट करता है, जिसका जैसे अब कोई व्यक्तित्व ही शेष नहीं रह गया है ।

इन योजनाओं में मध्यवर्ग किस तरह पिस रहा है, इसका कच्चा-चिट्ठा 'पत्थरों का शहर' (१९७१) में इस प्रकार खींचा गया है, 'आज योग्यता सम्मानित होने के लिए नहीं, सड़कों पर धूल फांकने के लिए है । रात के अन्धेरे में चुप चुप सुबकने के लिए है । रेलों की चमचमाती हुई लाइनों पर धड़धड़ाती हुई ट्रेनों के नीचे पिसने के लिए है । पोटेशियम सायनाइड के प्रयोग के लिए है या फिर कमरा अन्दर से बन्द करके फांसी के फन्दे पर झूल जाने के लिए है ।... यह स्वतन्त्र देश है, जहां अपनी सरकार है । यही क्या कम है कि पिछले चौदह साल में जहां हर चीज़ पर दुगने तिगुने टैक्स लगे । वहां सरकार ने मेहरबानी करके योग्यता पर कोई टैक्स नहीं लगाया और हर गली सड़क योग्यता से पाट दिए ।'[२] विवेक के माध्यम से लेखक ने इस उपन्यास में मध्यवर्गीय विवशताओं एवं आर्थिक वैषम्य का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है । युग की परिवर्तित मान्यताओं, मूल्य वृद्धि, योजनाओं की असफलता से उत्पन्न विषम परिस्थितियों में मध्यवर्गीय ढांचा विघटित हो रहा है । लेखक की धारणा है कि जब तक श्रम के महत्व को स्वीकार कर आस्था एवं संकल्प पर बल नहीं दिया जाएगा, मध्यवर्ग की विवशताएं समाप्त नहीं होंगी और वह ऐसे ही पिसता रहेगा । आज का युग विद्रोह इस उपन्यास में बड़े ही सशक्त एवं सार्थक ढंग से स्पष्ट हुआ है । मध्यवर्ग को अपनी यथार्थ स्थिति समझनी होगी, तभी वह फिर से खड़ा हो सकेगा । 'मानव समाज में ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं है, जो अत्यन्त कूटनीतिज्ञ होते हैं । वे सदा छल और कपट का सहारा लेकर लोगों में फूट डलवाते हैं । सुविधा एवं सुगमता के लिए प्रतिष्ठित सामाजिक मर्यादाओं को वे कृत्रिम बताकर उनको भंग करते हैं । वे संगठित मानव-जाति को वर्गों में विभाजित करके और नए-नए नियमों की सृष्टि करके उनके आधार पर सदा

---

१. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी (१९६८), दिल्ली, पृष्ठ ३५२ ।

२. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३८० ।

उपद्रव कराते फिरते हैं । इस प्रकार के व्यक्ति प्राय: तमोगुण से संचालित होते हैं और आकांक्षाओं की मादकता में आपादमस्तक डूबे रहते हैं ।[१] समकालीन जीवन संकट में मध्यवर्ग की स्थिति लगभग ऐसी ही है । कुण्ठा, हताशा एवं अनिश्चित भविष्य के कारण उसका चरित्र ऐसे ही विघटित हो रहा है । पर उपन्यासकार का काम उसे और विकलांग बनाना नहीं, अपने दायित्व-बोध का निर्वाह करते हुए उसे नया आत्म विश्वास देना होगा ताकि मध्यवर्ग अपनी आन्तरिकता को पहचानकर नए रास्ते पर बढ़ सके । अमृतलाल नागर, शिवप्रसाद सिंह, श्रीलाल शुक्ल तथा सुरेश सिनहा के उपन्यासों में हमें यह प्रयास लक्षित होता है और गहन निराशा के वातावरण में यह कम महत्वपूर्ण बात नहीं है ।

००००

---

१. डा० वेदज्ञ आर्य : कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली (१९६८), इलाहाबाद, पृष्ठ ६६ ।

८. सातवां अध्याय : राजनीतिक परिवेश और नवीन सामाजिक ढांचा

- स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष
- गांधीवाद का महत्व
- उग्र मत
- उदारवादी दृष्टिकोण
- द्वितीय महायुद्ध
- शासक एवं शोषक वर्ग
- विभाजन
- प्रजातन्त्र की स्थापना
- आम चुनाव और राजनीतिक दलों का उन्मेष
- नारेबाजी और समाज की अधोगति
- युवा विद्रोह
- राजनीतिक हलचल और सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन

आधुनिक काल में राजनीतिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। वह हमारे सामाजिक जीवन में इतनी घुलमिल गई है कि बिना राजनीतिक प्रभाव के तो आज हमारा दृष्टिकोण ही नहीं बन पाता। इसका सामाजिक सन्दर्भों पर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। बल्कि कहना यह चाहिए कि सामाजिक विकास की दिशा आज राजनीति द्वारा ही निर्धारित होती है। आज विश्व के प्रत्येक भाग में जो नया सामाजिक ढांचा बन रहा है, उसके मूल में राजनीतिक गतिविधियां ही होती हैं। राजनीति का उद्देश्य सर्जनात्मक ही होना चाहिए, न कि विध्वंसात्मक। राष्ट्रीयता देशभक्त, समाज निर्माण की प्रेरणा, एकता, संगठन एवं आस्था, संकल्प आदि सर्जनात्मक धरातल पर राजनीति को प्रतिष्ठित करते हैं।

दुर्भाग्य की बात यह है कि जब राजनीति का एकमात्र उद्देश्य सत्तालोलुपता हो जाता है, तो उसकी दिशा विध्वंसात्मक होती है। एकता-संगठन, विच्छिन्न हो जाता है और स्वार्थपूर्ति ही एकमेव लक्ष्य बन जाता है। इसका तात्कालिक परिणाम समाज पर यह पड़ता है कि राष्ट्रीय चरित्र का पतन हो जाता है। नैतिकता विघटित होने लगती है, देशभक्ति का ह्रास होता है और घूसखोरी तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला हो जाता है। समाज की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है और क्षेत्रीयता तथा संकीर्ण एवं नकारात्मक ह दृष्टिकोण का विकास होता है, जैसा कि आज हम अपने देश में देख रहे हैं।

हमारे समाज में राजनीतिक दृष्टिकोण का विकास मुख्यत: ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना के बाद ही हुआ, यों इसका सूत्रपात मुगलकाल में ही हो चुका था। जब भी कोई देश पराधीन होता है, वहां राजनीति के अंकुर फूटने लगते हैं - और एक राष्ट्रीय चेतना का विकास होता है। अपने देश में राजनीति के सूत्रों को पौराणिक काल तक घसीटकर ले जाना अनुचित है, क्योंकि तब राजनीति का स्वरूप नितान्त भिन्न था और वह मात्र धर्म पर आधारित था। आज की राजनीति का उस राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। आज जिस राजनीतिक चेतना की बात हम करतेहैं, वह ब्रिटिश सम्पर्क से ही विकसित हुआ है।

स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष

१९१४-१९४७ तक का काल भारतीय इतिहास में संक्रांति का काल रहा है । दासता की बेड़ियों को तोड़ने, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चूर-चूर कर स्वतन्त्रता का सांस लेने के लिए भारतीय जनमानस पूरी तरह कटिबद्ध था । यद्यपि स्वतन्त्रता के लिए अन्य कई नेता संघर्षरत थे, पर प्रमुख नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में था । राजनीति की दृष्टि से समूचा युग गांधी युग के नाम से जाना जाता है । ब्रिटिश सरकार दमन में विश्वास करती थी।अप्रैल १९१९ में मार्शल ला की अवज्ञा के अपराध में अमृतसर के जलियांवाला बाग में असंख्य व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया गया । इससे क्षुब्ध होकर १९२० में गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसका जनमानस पर बड़ा प्रभाव पड़ा और एक नई राजनीतिक चेतना विकसित हुई । स्वतन्त्रता के लिए जो तीव्र तर्क संघर्ष हो रहा था, हिन्दी उपन्यास उससे अछूता नहीं रह सकता था । अनेक प्रमुख उपन्यासकारों ने इसे अपने कृतियों का उपजाव्य बनाया ।

प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यासकारों ने राजनीतिक चित्रण की ओर विशेष ध्यान न दिया था । वहां मुख्यतया ब्रिटिश शासकों की धर्मनीति की ही आलोचना प्राप्त होती है । इस ओर प्रेमचन्द ने गंभीरता से ध्यान दिया और समाज पर पड़ने वाले प्रभावों को गहराई से स्पष्ट किया । 'कर्मभूमि' (१९३२) में अमरकान्त कहता है, 'यह हमारा धर्मयुद्ध है, हमारी जीत, और हमारे त्याग, और हमारे सत्य हमारे साथ हैं ।'[१] प्रेमचन्द की दृष्टि में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष धर्मयुद्ध है । दासता एवं अन्याय पर आधारित राज्य व्यवस्था को स्वीकार करना नैतिक अपराध है । उन्होंने समझ लिया था कि, 'अंग्रेज जाति भारत को अनन्त काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाए रखना चाहती है । कंजवेटिव हूं या लिबरल, रेडिकल हूं या लेबर, या नेशनलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं ।'[२] इस स्थिति में, 'मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा, दरिद्रों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बांधना पड़ेगा ।'[३]

---

१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१९३२), बनारस, पृष्ठ ३१८ ।

२. प्रेमचन्द : रंगभूमि (१९२४), बनारस, पृष्ठ १८४ ।

३. प्रेमचन्द : मंगल सूत्र (१९४४), बनारस, पृष्ठ ५ ।

यह एक दमन की राजनीति थी, इसका शिकार भारतवासियों को बनना पड़ रहा था । न उनका कोई सम्मान रह गया था, न वे अपनी मर्यादा की रक्षा कर पा रहे थे ।

अंग्रेजों ने अपने स्वार्थ के पीछे हर प्रकार की नैतिकता को ताख पर रख दिया था और अन्याय एवं अत्याचार ही उनका वास्तविक धर्म बन गया था । 'कायाकल्प' (१६२६) में चक्रधर कहता है, 'नौकरी की मुझे परवा नहीं है, मनोरमा, मैं इन लोगों के कमीनेपन से डरता हूं इनको फौरन ख्याल होगा कि मैं भी उसी टुकड़ी में मिला हुआ हूं और आश्चर्य नहीं कि मैं भी किसी जुर्म में फांस दिया जाऊं । मुझे इनके साथ मिलने-जुलने से इनकी नीचता का कोई बार अनुभव हो चुका है । इनमें उदारता और सज्जनता नाम को भी नहीं है, बस अपने मतलब के यार हैं । इनका धर्म इनकी राजनीति, इनका न्याय, इनकी सभ्यता केवल एक शब्द में आ जाती है और वह है स्वार्थ ।'[1] ऐसे ही दरिंदों से लड़ने के लिए और अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए भारतवासी प्रयत्न कर रहे थे ।

अंग्रेजों की नीति थी कि फूट डालकर अनन्तकाल तक शासन किया जा सकता है । इसका आंशिक प्रभाव तो समाज पर पड़ता ही था और कुछ स्वार्थी भारतवासी अंग्रेजों के पिट्ठू बन गए थे । इससे समाज की स्थिति अत्यन्त विचित्र हो गई थी । इस दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति की ओर संकेत करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है कि सारा देश गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, फिर भी हम अपने भाइयों के गरदन पर छुरी फेरने से बाज नहीं आते । इतनी दुर्दशा पर भी हमारी आंखें नहीं खुलतीं । जिनसे लड़ना चाहिए, उनके तो तलुए चाटते हैं और जिनसे गले मिलना चाहिए, उनके गले दबाते हैं, और यह सारा जुल्म हमारे पढ़े-लिखे भाई ही कर रहे हैं, जिसे कोई अख्त्यार मिले, वह फौरन दूसरों को पीसकर पी जाने की फिक्र करने लगता है । विद्या से ही विवेक होता है, पर जब रोगी असाध्य हो जाता है तो दवा भी उस पर विष का काम करती है ।'[2] प्रेमचन्द का निष्कर्ष था कि इन

---

१. प्रेमचन्द : कायाकल्प (१६२६), बनारस, पृष्ठ २२२-२२३

२. वही, पृष्ठ ३३८ ।

परिस्थितियों का मूल कारण पराधीनता है। इससे लोगों का नैतिक मनोबल टूट गया है, नहीं तो दो-चार अंग्रेज सिपाही गांवों में घुसकर स्त्रियों का बलात्कार करते और लूटते हैं, इन टके की सैनिकों की हिम्मत इतनी क्यों हुई? यह गोरे सिपाही इंग्लैण्ड के निम्नतम श्रेणी के पुरुष होते हैं। इनका इतना साहस कैसे हुआ? इसलिए कि भारत पराधीन है। यह लोग जानते हैं कि यहां के लोगों पर उनका आतंक छाया हुआ है कि। वह जो अनर्थ चाहें करें। कोई चूं नहीं कर सकता। यह आतंक दूर करना होगा। इस पराधीनता की बेढ़ी को तोड़ना होगा।[1] इसका मूल कारण सच था। अंग्रेज़ दमन एवं आतंक में विश्वास करते थे। 'रंगभूमि' (१९२४) में क्लार्क सोफिया से कहता है कि भारत में अंग्रेजी शासन अजेय रह सकता है यदि जनता पर अंग्रेजों का आतंक छाया रहे।[2] यही उनकी नीति थी और वे इसी पर अमल करके अपनी सत्ता सुरक्षित करने में प्रयत्नशील थे।

जैनेन्द्रकुमार ने स्वतन्त्रता के लिए होने वाले संघर्ष को एक दूसरे ही सन्दर्भ में प्रस्तुत किया। उनका विचार था कि व्यापक अर्थ नीति के बिना यह संघर्ष सफल नहीं हो सकता। भारत की खोखली एवं जर्जर मान्यताएं इस संघर्ष में अवरोधक हैं। 'सुखदा' (१९५५) में लाल कहता है, "देश को हम आजाद चाहते हैं, अपने जकड़न वह न होगा।... भावुकता पर बुनियाद बांधकर हम जन आंदोलन नहीं खड़ा कर सकते। आत्मत्याग आदि की बातें ठीक हैं, लेकिन उनसे शेर की दाढ़ में पहुंचकर आराम से मरा जा सकता है, उन दाढ़ों को उखाड़ा नहीं जा सकता है।... यह शेर साम्राज्यवाद है। पेट में वह पूंजीवाद है। हमको आर्थिक कार्यक्रम चाहिए, राजनीतिक पहला कदम है, असली काम आर्थिक है।"[3] इस प्रकार जैनेन्द्र उन खोखले आदर्शों में विश्वास नहीं करते, जिनके सहारे तत्कालीन राजनीतिक नेतृत्व का एक वर्ग स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहा था।

---

१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१९३२), बनारस, पृष्ठ २७।

२. प्रेमचन्द : रंगभूमि (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ ५०-५१।

३. जैनेन्द्रकुमार : सुखदा (१९५५), दिल्ली, पृष्ठ ९८।

यशपाल क्रान्तिकारी रहे हैं, इसलिए अपने उपन्यासों में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए होने वाले संघर्ष में क्रान्ति का चित्रण किया है। 'दादा कामरेड' (१९४१) में हरीश आतंकवादी साधनों से स्वतन्त्रता प्राप्त करना कठिन समझता है, इसलिए कहता है, 'अब तक हमारी अधिकतर शक्ति डकैतियां करने और कुछ राजनीतिक हत्याओं में काम आई है, परन्तु हमारा उद्देश्य यही तो नहीं है, हमारा उद्देश्य तो है इस देश की जनता का शोषण समाप्त कर उनके लिए आत्म निर्णय का अधिकार प्राप्त करना। जनता से दूर, गुफाओं और तहखानों में बन्द रहकर हम न तो जनता का सहयोग पा सकते हैं और न उनका नेतृत्व कर सकते हैं। यह पिस्तौल, रिवाल्वर और बम एक तरह से हमारी क्रान्ति के मार्ग की रुकावट ही नहीं बन रहे बल्कि वह हमें खाए जा रहे हैं।... हम सौ पचास आदमी तो स्वराज्य ले नहीं सकते। स्वराज्य तो जनता का संयुक्त प्रयत्न ही ला सकता है, और हम जनता से इतनी दूर हैं।'[1] क्रान्ति एक मार्ग था और दूसरा गांधीजी का सविनय अवज्ञा एवं असहयोग आन्दोलन था। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (१९४६) में वीणा प्रतिभा तथा मनमोहन आदि पात्र क्रान्तिकारी तरीकों से स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। लेकिन उनके सामने मुख्य समस्या आर्थिक होती है। वीणा कहती है, 'दूसरी संस्थाओं को लाखों रुपयों का चन्दा मिल जाता है लेकिन हम तो चन्दा भी नहीं मांग सकते। फिर इस दल के प्राय: सभी लोग मध्यवर्ग के हैं - वे जितने रुपए दे सकते हैं, पर उतना रुपया तो हमारी जरूरतों का हजारवां हिस्सा भी पूरा नहीं कर सकता।'[2] इसलिए विवश होकर इन क्रान्तिकारी दलों को हिंसा का सहारा लेना पड़ा। उस समय के स्वतन्त्रता संघर्ष की यह एक प्रमुख विशेषता थी कि चाहे शान्तिपूर्ण ढंग से चाहे क्रांतिकारी ढंग से सभी भारतवासी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए संघर्षशील थे। उनमें नई चेतना का पूर्ण विकास हो गया था और वे प्रत्येक मूल्य पर किसी ढंग से दासता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने के लिए कटिबद्ध थे।

----

१. यशपाल : दादा कामरेड (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ ५०-५१।

२. भगवतीचरण वर्मा : टेढ़े-मेढ़े रास्ते (१९४६), पृष्ठ २२४।

'भूले-बिसरे चित्र' (१६५६) में भगवती बाबू को इस बात का खेद है कि इस आन्दोलन की जड़ें जिस रूप में गांवों तक पहुंचनी चाहिए, अभी तक पहुंच नहीं पाई हैं। गंगा प्रसाद सत्यव्रत से कहता है, "यह आन्दोलन शहर वालों का है, गावों में इसकी जड़ें हैं ही नहीं।"[1] लेकिन शीघ्र ही परिस्थितियां बदल जाती हैं और गांव-गांव में यह आन्दोलन फैल जाता है। प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' और 'रंगभूमि' में इसका मार्मिक चित्रण किया है कि किस प्रकार गांवों में भी नई चेतना विकसित हुई और ग्रामवासी भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष में कूद पड़े। नरेश मेहता के 'ह यह पथ बन्धु था' (१६६२) में श्रीधर का गांव में अध्यापक पद से इस्तीफा देना और बनारस जाकर जेल जाना इसी नई चेतना का प्रतीक है। श्रीधर, निष्ठा, आत्मसम्मान एवं दृढ़ आस्था को ही स्वतन्त्रता संघर्ष में जूझने का सम्बल देता है।[2] 'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१६६७) में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए मध्यवर्ग का वह आशावाद बड़े कारुणिक ढंग से चित्रित हुआ है, जिसमें नए सपने और उमंगें थीं सामाजिक परिवर्तन के लिए। इसमें स्वतन्त्रता प्राप्ति का संघर्ष प्रत्यक्ष रूप में चित्रित नहीं हुआ है, पर उस आन्दोलन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा था और नई राजनीतिक चेतना के माध्यम से नया सामाजिक ढांचा किस प्रकार उभर रहा था, इसका विशद चित्रण हुआ है।

● गांधीवाद का महत्व

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही बताया जा चुका है कि राजनीतिक आन्दोलन का यह समूचा युग गांधी युग के नाम से जाना जाता है। प्रेम, अहिंसा, सत्य और शान्तिपूर्ण अवज्ञा आन्दोलन गांधी जी के राजनीतिक विचारों की प्रमुख विशेषताएं हैं। वे अन्याय पर आधारित राज्य व्यवस्था को स्वीकार करना नैतिक अपराध समझते थे। अत: प्रत्येक व्यक्ति का उन्होंने मुख्य कर्तव्य ऐसी राज्य प्रणाली से असहयोग निर्धारित किया। नमक कानून को तोड़ने,विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार

---

१. भगवतीचरण वर्मा : भूले-बिसरे चित्र (१६५६), पृष्ठ ५४४।

२. नरेश मेहता : यह पथ बन्धु था (१६६२), इलाहाबाद, पृष्ठ ३७।

करने, मादक वस्तुओं की दुकानों के सामने धरना देने आदि की प्रेरणा से गांधी जी ने राजनीतिक एवं सामाजिक धरातल पर भारतवासियों को एकता के सूत्र में संगठित किया ।

धार्मिक रूप से गांधीजी अछूतोद्धार आन्दोलन के पक्ष में थे । उनका आग्रह धर्म-निरपेक्षता पर था । उन्होंने बराबर हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया, दोनों के धार्मिक रूप से सहिष्णु बनने की अपील की, ताकि भारतवासियों को विभाजित कर उन पर अनन्त काल तक शासन करने का ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का स्वप्न पूर्ण न हो सके । उन्होंने अपने राजनीतिक कार्यक्रम इस प्रकार निर्धारित किए ताकि ग्रामों में भी राजनीतिक चेतना का प्रसार हो सके । उन्होंने किसानों के संगठित किया, श्रमिकों में एकता के बीज बोए तथा सामाजिक अन्याय एवं शोषण का विरोध किया । इस प्रकार गांधीजी ने राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यक्रमों को मिलाकर उपस्थित किया ताकि भारतवासियों के जीवन में प्रत्येक स्तर पर प्रगति हो सके और वह जागृति हो सके ।

गांधीजी ने इन प्रगतिशील विचारों का हिन्दी उपन्यासकारों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था । प्रेमचन्द ने अपने सभी उपन्यासों में किसी न किसी रूप में गांधीवादी जीवनदर्शन को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । इस दृष्टि से 'रंगभूमि' (१९२४) सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास है । इसमें उनका असहयोग आन्दोलन अपने सभी विशेषताओं के साथ चित्रित हुआ है । सूरदास सत्य का अन्वेषक एवं सत्य का पुजारी बनकर सत्याग्रही के रूप में हमारे सामने आता है । उसमें ऊंचा आत्म बल है । उसका व्यक्तित्व गांधीवाद आदर्शों का प्रतीक है -"वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फरिश्ता न था, एक क्षुद्र शक्तिहीन प्राणी था, चिंताओं बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे, और गुण भी ।... क्रोध, लोभ, मोह अहंकार ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र में भरे हुए थे, गुण केवल एक था किन्तु यह सभी दुर्गुण उस परम गुण के सम्पर्क से... देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे... उसका जो नाम चाहे रख लीजिए अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था अनीति

उसके लिए असह्य थी ।'[1] यही रूप गांधीजी का भी था । वे भी भारतवासियों को प्रेरणा देते थे कि पूर्ण शक्ति से अन्याय एवं अनीति का विरोध करना चाहिए । प्रेमचन्द ने भी सूरदास के माध्यम से यही आदर्श प्रस्तुत किया है । उसके चरित्र में मानवीयता है, इसीलिए वह नैतिक विजय प्राप्त करता रहता है । गांधीजी की भांति सूरदास भी अपने प्रबलतम विरोधियों के प्रति गहन सद्भावना एवं स्नेह से पेश आता है ।

गांधीवाद का हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त उसके माध्यम से उजागर हुआ है । सभी उसके भक्त बन जाते हैं। राजा-साहब तथा जानसेवक अपनी भूलों का पश्चाताप करते हैं और उससे अपनी भूलों की क्षमा मांगते हैं । क्लार्क राजा महेन्द्रनाथ से कहता है, 'हमें आप जैसे मनुष्यों से भय नहीं, भय ऐसे ही मनुष्यों से है जो जनता के हृदय पर शासन करते हैं ।'[2] सत्य और अहिंसा से वह कभी डिगता नहीं, आस्था की उसमें कभी कमी नहीं आती । उसमें आत्मिक भव्यता चरमकोटि की है । अन्त में जब वह कहता है -'हम हारे, तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धांधली तो नहीं की, फिर खेलेंगे, ज़रा दम तो ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी ।'[3] तो लगता है कि गांधीजी का संदेश है कि इस स्वतन्त्रता के संघर्ष में हम भारतवासियों की विजय अवश्य होगी । प्रेमचन्द ने भविष्य के सूत्र पहचान लिए थे, साथ ही गांधीजी की महत्ता भी, जिसे इस उपन्यास में उन्होंने स्पष्ट किया है । इस उपन्यास में विनय भी गांधीवाद के इस सिद्धान्त को चरितार्थ करता है कि वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ग समन्वय को स्थापित करना चाहिए ।

'कर्मभूमि' (१९३२) में इसी प्रकार गांधीवाद के प्रभाव के कारण क्रांति तथा विद्रोह एक सार्वजनिक रूप धारण कर लेते हैं । अमरकान्त, सुखदा, सकीना, समरकान्त, सलीम, डा० शांतिकुमार, रेणुका देवी तथा स्वामी आत्मानन्द आदि सभी पात्र असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर जेल जाते हैं । ब्रिटिश सरकार के अन्याय एवं दमन

---

१. प्रेमचन्द : रंगभूमि (१९२४), बनारस, पृष्ठ ५३३ ।
२. वही, पृ० ५३३ ।
३. वही, पृष्ठ ५३१ ।

की नीति से गांधीजी विक्षुब्ध हो गए थे । उसे प्रेमचन्द ने इस प्रकार प्रकट किया है, "जिस समाज में गरीबों के लिए स्थान नहीं, वह उस घर की तरह है, जिसकी बुनियाद न हो ।... मानवता हमेशा कुचली नहीं जा सकती । समता जीवन का तत्व है । यही एक दशा है, जो समाज को स्थिर रख सकती है ।... यह जागृति का युग है जागृति अन्याय को सहन नहीं कर सकती है ।"[१] इसी उपन्यास में अछूतों के मन्दिर प्रवेश के सन्दर्भ में सत्याग्रह की विजय तथा अहिंसा की सफलता का चित्रण गांधीवाद का ही प्रभाव है, जिसके अन्तर्गत प्रेमचन्द समता एवं प्रगतिशीलता पर आधारित एक नए सामाजिक ढांचे की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे थे ।

'मुक्ति पथ' (१९५०) में इलाचन्द्र जोशी ने राजीव के माध्यम से गांधीजी के कर्म, अहिंसा एवं श्रम का महत्व स्वीकार करते हुए नए समाज की रचना की बात उठाई है, "मानवीय विकास का स्वाभाविक रूप है - सबकी समचेतना, सबके सम उद्योग, सबके सम अधिकार और सबकी सम शक्तियां सब सामूहिक विकास द्वारा समकल्याण की परतम परिस्थिति की ओर सबकी सम प्रगति ।"[२] वह सोचता है कि केवल श्रम ही रुद्ध स्रोतों को प्रवाह एवं गति दे सकता है, इसलिए वह गांधी जी के अहिंसात्मक सिद्धान्तों के आधार पर मुक्ति निवेश की स्थापना करता है । मानवीय विकास उसका भी चरम लक्ष्य है ।

'शेखर : एक जीवनी' में भी अज्ञेय ने शेखर को गांधीवाद से प्रभावित दिखाया है - "असहयोग की एक लहर आई और देश उसमें बह गया । शेखर भी उसमें बहने की चेष्टा करने लगा ।... उसने विदेशी कपड़े उतार कर रख दिए, जो दो-चार मोटे देशी कपड़े पास थे, वह पहनने लगा -कभी दूर से बहुत से कंठों की समवेत पुकार उस तक पहुंचती 'गांधी का बोलबाला, दुश्मन का मुंह काला' तो उसके प्राण पुलकित उठते ।"[३] इस गांधीवादी प्रभाव के कारण वह विदेशी वस्तुएं

---

१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१९३२), बनारस, पृष्ठ ३८७-३८८ ।

२. इलाचन्द्र जोशी : मुक्तिपथ (१९५०), इलाहाबाद, पृष्ठ ३५३ ।

३. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (प्रथम भाग - १९४०), बनारस, पृष्ठ ३३ ।

से घृणा करने लगता है । रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा - सभी में देखकर भारतीयता को महत्व देने लगा । वह राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में स्वयंसेवक तक बनता है । दिन-रात स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना वह अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बना लेता है ।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४६) में भगवतीचरण वर्मा ने १९३० के आसपास का राजनीतिक आन्दोलन चित्रित किया है, जिस पर गांधीवादी प्रभाव स्पष्टतया देखा जा सकता है । दयानाथ के माध्यम से गांधीवादी विचारों का कुशल चित्रण हुआ है । उसके द्वारा वर्मा जी ने गांधीवादी विचारों की विशेषताओं को भी स्पष्ट किया है, उसकी खामियों को भी ।

इस प्रकार गांधी युग में लिखे गए उपन्यासों में गांधीवाद का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है । उपन्यासकारों ने गांधीवाद के महत्व को अस्वीकार नहीं किया । इसका सर्वाधिक विशद चित्रण प्रेमचन्द ने ही किया । जैनेन्द्रकुमार ने गांधीजी के अहिंसा दर्शन को वैयक्तिक धरातल पर चित्रित किया है जो नारी पुरुष समस्या में ही सीमित रह गया है । उसका कोई व्यापक रूप उन्होंने चित्रित नहीं किया है । इन उपन्यासकारों ने गांधीजी द्वारा सुझाए गए नए सामाजिक ढांचे के बनने में अवश्य ही अपना पूर्ण योगदान दिया और अपनी अपनी विचारधारा के अनुसार उसका चित्रण भी किया है ।

● उग्र मत

कांग्रेस में प्रारम्भ से ही दो विचारधारा के लोग रहे हैं - एक उग्र मत और दूसरा उदारवादी दल । उग्र मत के लोगों की गांधी से पूर्ण सहमति नहीं थी, इसलिए वे कांग्रेस से अलग होकर क्रान्तिकारी एवं आतंकवादी ढंग से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने लगे । ये लोग उग्र राष्ट्रवादिता अपनाने के पक्ष में थे । वे अहिंसा का समर्थन नहीं करते थे । अज्ञेय ने एक स्थान पर लिखा भी है । 'अहिंसा ठीक है, पर उसकी परिभाषा ठीक से हो तभी । सफल भी वह तभी हो सकती है । मुझे

लगता है, अहिंसा उपयोगी तभी होगी जब वह आक्रामक अहिंसा हो ।'[१] यशपाल भी उग्र राष्ट्रीयता के समर्थक हैं । उनके उपन्यासों में क्रान्तिकारियों का ही विशेष चित्रण हुआ है ।

उस समय का युवक वर्ग उग्र मत के नेतृत्व के लिए सुभाषचन्द्र बोस को देखता था इसे यशपाल ने इस प्रकार किया चित्रित किया है, 'अब डरने की बात नहीं, देश के आज़ाद होने का समय आ गया है । जापानी नेता जी की सहायता कर रहे हैं । हिन्दुस्तान की सीमा पर नेता जी आजाद हिन्द सेना को लेकर आ पहुँचे हैं । तुम लोग सरकार को कर देना बन्द कर दो ।'[२] उस समय वस्तुत: नवयुवक वर्ग उग्र मत का ही पक्षपाती बन गया था ।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४६) में वीणा, प्रतिमा तथा मनमोहन आदि के माध्यम से इस उग्र मत की राजनीति का चित्रण किया गया है । दल का सरदार कहता भी है, 'हमारे दल की सारी बुनियाद हिंसा और बल पर है उसी हिंसा और बल का सहारा लेना होगा ।'[३] इसी प्रकार 'पथ की खोज' (१९५१) में नरेन्द्र सोचता है कि अहिंसा ने हमें कहीं का न रखा । वह कहता है, 'क्रान्ति किसी एक घटना का नाम नहीं है, वह एक सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जो न्यूनाधिक वेग से निरन्तर एक राष्ट्र या समाज में चलती रहती है जब तक कि उसका उद्देश्य पूरा न हो जाए... हमारी क्रान्ति की आग तब तक सुलगती और जलती रहेगी जब तक कि हमारा देश पूर्ण स्वतन्त्रता न प्राप्त कर ले ।'[४] इस उग्र मत की राष्ट्रीयता का देशव्यापी प्रभाव पड़ा था और देश के नवयुवक इसके समर्थक बन गए थे ।

खेद की बात यह है कि इसे व्यापक सन्दर्भों में तथा उचित परिप्रेक्ष्य में चित्रित करने का प्रयास उपन्यासकारों ने नहीं किया । जैनेन्द्रकुमार या यशपाल ने जिन क्रान्तिकारियों का चित्रण किया है, वस्तुत: उनका मुखौटा भर क्रान्तिकारी है, अन्यथा वे नारी और सेक्स भावना के शिकार हैं । उनके जीवन में वह तप, त्याग, संयम या

---

१. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (दूसरा भाग - १९४४), बनारस, पृष्ठ ७५ ।

२. यशपाल : मनुष्य के रूप (१९४९), लखनऊ, पृष्ठ १३९-४० ।

३. भगवतीचरण वर्मा : टेढ़े-मेढ़े रास्ते (१९४६), इलाहाबाद, पृष्ठ २२४ ।

४ देवराज : पथ की खोज (१९५१), लखनऊ, पृष्ठ ४०३ ।

मर्यादा नहीं है, जो उस समय क्रान्तिकारियों के प्रेरक तत्व थे ।

● उदारवादी मत

उदारवादी मत के लोग शान्ति एवं अहिंसा के पुजारी थे । वे इस भ्रमजाल में रहते थे कि इंग्लैण्ड का लेबरदल प्रगतिशील है और मानवता में आस्था रखता है । इसलिए वह शीघ्र ही भारतवासियों को औपनिवेशिक स्वराज्य दे देगा । अंग्रेजों की नीति विभिन्न सुधार योजनाएं प्रस्तुत कर उदारवादी मत का प्रोत्साहन देना तथा उग्रमत को कुचलना था । 'कर्मभूमि' (१६३२) में गजनवी रैदास चमारों के लगानबन्दी आन्दोलन को इसी नीति से कुचलने का प्रयत्न करता है वह उग्र मत का है । अमरकान्त गांधीवादी विचारधारा का होने के कारण उदारवादी है । अंग्रेज़ अधिकारी उससे कहते हैं, वह स्वामी को किसी मामले में फंसा दे क्योंकि वह उसे बदनाम करता फिरता है । अमरकान्त सहमत हो जाता कि सचमुच आत्मानंद आग लगा रहा है ।[१] अगर वह गिरफ्तार हो जाए तो इलाके में शान्ति स्थापित हो जाए । इस प्रकार अंग्रेजों की नीति दोनों मतों के नेताओं में फूट डालकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना रहता था ।

'प्रेमचन्द उदारवादी मत की नीतियों से सहमत नहीं थे । 'रंगभूमि' (१६२४) में उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि, 'अंग्रेज जाति भारत को अनन्त काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाए रखना चाहती है । लेबर नेताओं के धोखे में न आओ ।... कोई कठोर शासन का उपासक है कोई सहानुभूति का, कोई चिकनी चुपड़ी बातों से काम निकालने का । बस वास्तव में कोई नीति है ही नहीं, केवल उद्देश्य है, वह यह कि क्योंकर हमारा आधिपत्य उत्तरोत्तर सुदृढ़ हो ।'[२] अंग्रेज कभी भी भारतवासियों को स्वतन्त्रता देने के पक्ष में नहीं थे । अंग्रेजी शासन व्यवस्था के विरोध में किसी भी आन्दोलन को पूरी तरह कुचल डालने की ही उनकी नीति थी । इसीलिए प्रेमचन्द उदारवादी मत का समर्थन नहीं करते थे ।

---

१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१६३२), बनारस, पृष्ठ ३१२ ।

२. प्रेमचन्द : रंगभूमि (१६२४), बनारस, पृष्ठ १८३-८५ ।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४६) में भगड़ू मिश्र तथा मार्कण्डेय उदारवादी मत को ही स्पष्ट करते हैं। मार्कण्डेय कहता है, "अहिंसा की प्रतिक्रिया अहिंसा ही हो सकती है और इसीलिए अहिंसा कभी भी नष्ट नहीं हो सकती। हिंसा की प्रतिक्रिया हिंसा है। हम दूसरों की प्रतिक्रिया में हिंसा करते हैं।... आवश्यकता है व्यापक रूप में अहिंसा की। अहिंसा कल्याणकारी तभी हो सकती है जब वह व्यक्ति से ऊपर उठकर समाज की चीज़ बन सके।"[१] भगड़ू प्रारम्भ में उग्र मत का समर्थक और जमींदार के विरुद्ध निर्णय लेता है। पुत्र द्वारा संकेत किए जाने पर भगड़ू मिश्र गांव के उग्र वर्ग को समझाते हैं। भीड़ के आकस्मिक प्रहार से रमानाथ तिवारी को बचाते हुए वे अपने प्राण दे देते हैं। उनका यह आत्मबलिदान महात्मा गांधी की अहिंसा नीति की ही विजय है और उग्र मत का समर्थन न कर उदारवादी दल को प्रश्रय देता है।

उग्रमत की ही भांति इस युग के उपन्यासों में उदारवादी मत का कोई विशद चित्रण नहीं मिलता। असहयोग आन्दोलन, किसान तथा मजदूर आन्दोलन आदि का चित्रण तो प्राय: अनेक उपन्यासकारों ने किया है। जिस पर अप्रत्यक्ष रूप से उदारवादी मत का ही प्रभाव लक्षित होता है। गांधीजी उदारवादी मत के ही थे, इसलिए जिन उपन्यासकारों ने गांधीवादी प्रभाव को ग्रहण किया है, उनके उपन्यासों में उदारवादी मत का चित्रण हुआ।

● द्वितीय महायुद्ध

१९३९ में नात्सी जर्मनी द्वारा यूरोपीय राष्ट्रों पर आक्रमण किए जाने से युद्ध की चिंगारी भड़क उठी जिसने द्वितीय महायुद्ध का रूप ले लिया। जर्मनी, इटली तथा जापान एक तरफ थे और दूसरी ओर फ्रांस, अमेरिका तथा ब्रिटेन थे जिन्हें मित्र राष्ट्र कहा जाता था। भारत के तत्कालीन वायसराय ने बिना भारतीय नेताओं की सम्मति लिए भारत को भी युद्ध में सम्मिलित कर लिया। सरकार द्वारा सहायता मांगे जाने पर नेताओं ने लड़ाई के उद्देश्य स्पष्ट करने के लिए कहा। कांग्रेस ने दो

---

१. भगवतीचरण वर्मा : टेढ़े-मेढ़े रास्ते (१९४६), इलाहाबाद, पृ० ४२१-२२।

माँगें उपस्थित कीं - एक यह कि भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा की जाए तथा युद्धकालीन परिस्थितियों में ऐसी शासनाधिकारी दिए जाएं, जिससे भारत इच्छानुसार शासन कर सके। सरकार ने यह माँगें अस्वीकार कर दीं। कांग्रेस द्वारा बनाई गई प्रान्तीय सरकारों ने इस्तीफा दे दिया।

'देशद्रोही' (१९४३)में यशपाल ने द्वितीय महायुद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों एवं राजनीतिक दृष्टिकोण का चित्रण किया है। इस समय दो राजनीतिक दृष्टिकोण थे - एक राष्ट्रीयता को सर्वोपरि मानता था। सुभाषचन्द्र बोस इसके प्रमुख नेता थे। दूसरा अन्तर्राष्ट्रीयता को प्रमुख मानता था और भारत की स्वतन्त्रता को युद्ध के दौरान स्थगित रखना चाहता था। कांग्रेस के अधिकांश नेता इसी मत के थे। उस उपन्यास में खन्ना कहता है, 'अंग्रेज़ सरकार के आत्मनिर्णय या स्वराज्य के अधिकार का हमारा तकाज़ा है, वह हम लेंगे ही परन्तु आज दूसरे शत्रु-शक्ति हमारे देश पर चढ़ी आ रही है। अंग्रेजों से झगड़ते झगड़ते यदि हम दूसरी शक्ति के पंजे में पड़ जाएं तो क्या होगा। स्वराज्य तो मिलेगा नहीं, अलबत्ता शत्रु के आक्रमण से हमारा देश लाखों की संख्या में बर्बाद हो जाएगा।'[१] अन्यत्र वह कहता है, 'अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की उपेक्षा न आप कर रहे हैं, न मैं कर सकता हूं, न कांग्रेस कर सकती है। आप युद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाना चाहते हैं, युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति है या नहीं ? प्रश्न यह है कि इस अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में जिस नीति पर आप चलना चाहते हैं, वह देश के हित में है या अहित में...।'[२] इस प्रकार यशपाल ने मार्क्सवादी विचारधारा प्रस्तुत की है। चूंकि युद्ध में रूस मित्र राष्ट्रों में एक था, इसलिए वे चाहते थे कि भारतवासी कोई ऐसा कदम न उठाएं, जिससे मित्र राष्ट्रों को क्षति हो और नात्सी जर्मनी भारत पर आधिपत्य जमा लें।

● शासक एवं शोषक वर्ग

पराधीन भारत में शासक वर्ग एवं शोषक वर्ग में कोई अन्तर न था। पीछे स्पष्ट ही

---

१. यशपाल : देशद्रोही (१९४३), लखनऊ, पृष्ठ २५९।

२. वही, पृष्ठ २६१।

किया जा चुका है कि ब्रिटिश शासकों के मन में भारत हित की कोई भावना न थी । वे केवल अपने देश का हित ही सर्वोपरि समझते थे । सत्ता बनाए रखने के लिए उन्होंने दमन एवं शोषण की नीति अपनाई, जिसमें जमींदार, पूंजीपति और उच्चवर्ग उनके सहायक थे । शोषण से वे भारतवासियों का मनोबल तोड़ना चाहते थे और दमन से ऐसा आतंक उपस्थित करना चाहते थे, जिससे भारतवासी भयभीत हों । भारतवासी "सरकार को केवल शोषक के रूप में देखता है उसकी पुलिस उसे सताती है । उसके कर्मचारी उसके मुंह का कौर छीनकर खा जाते हैं । उसके बनाए हुए ज़मींदार उसे बेदर्दी से कुचलते हैं । उसकी बनाई हुई अदालतें उसे तबाह करती हैं, देहात में सुधार और सहयोग तथा शिक्षा और स्वास्थ्य और वह सभी आयोजनाएं, जिनसे राष्ट्र बनता है, जिनसे उसका विकास होता है, लापता है ।"[1] प्रेमचन्द का यह दृष्टिकोण उस समय के शासक एवं शोषक वर्ग की यथार्थ स्थिति को भली भांति स्पष्ट करता है । भारतीय जनता की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी । उनका अपना कोई जीवन न रह गया था । प्रत्येक स्तर पर उन्हें अपमान और कुंठा सहन करनी पड़ती थी । उनका कोई सम्मान न था । शिक्षित वर्ग उपेक्षित था, सारा समाज शोषण की चक्की में बुरी तरह पिसता चला जा रहा था ।

'रंगभूमि' (१९२४) में इसी स्थिति को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द ने डा० गांगुली के माध्यम से कहा है, "आज मेरे दिल से विश्वास उठ गया जो गत चालीस वर्षों से जमा दिखाई दे रहा है कि केवल हमको पीसकर तेल लगाने के लिए, हमारा अस्तित्व मिटाने के लिए, हमारी सभ्यता तथा हमारे मनुष्यत्व की हत्या करने के लिए हमको अनन्त कालतक चक्की का बैल बनाए रखने के लिए हमारे ऊपर राज्य किया जा रहा है ।"[2] डा० गांगुली का यह आक्रोश उस शोषण के विरुद्ध है, जो उस समय भारतवासियों का हो रहा है । वे सरकारी नौकरी से त्यागपत्र भी दे देते हैं, जो भारतवासियों में उत्पन्न होने वाली नई राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक है ।

---

१. अमृतराय : कलम का सिपाही, इलाहाबाद, पृष्ठ ४८४-८५ ।

२. प्रेमचन्द : रंगभूमि (१९२४), बनारस, पृष्ठ ५७६ ।

'कर्मभूमि' (१६३२) में भी सलीम उच्च सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे देता है और उग्रवादियों का नेतृत्व शोषण के विरुद्ध करने लगता है। वह कहता है, 'अगर हम कुछ करते हैं, तो हमारे ऊपर गोलियां चलती हैं और अगर नहीं बोलते तो तबाह हो जाते हैं। हम जितना ही दबते जाते हैं, उतना ही वह शेर होते जाते हैं। मरने वाला बेशक दिलों में रहम पैदा कर सकता है। लेकिन मारने वाला खौफ पैदा कर सकता है जो रहम से कहीं ज्यादा असर डालने वाली चीज़ है।'[1] वह शोषण तथा अन्याय का विरोध करता है और आवश्यकता पड़ने पर हिंसा का उत्तर हिंसा से देने तक को प्रस्तुत हो जाता है। प्रेमचन्द ने यह चित्रित करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय जनता संगठित हो रही है। उसमें नई चेतना जाग उठी है। अब वह किसी भी मूल्य पर अन्याय एवं शोषण सहन नहीं कर सकती। यदि इस नई चेतना को दबाने के लिए सरकार ने हिंसा का आश्रय लिया तो जनता उसका भी उचित उत्तर देगी।

'निर्वासित' (१६४५) इसी शासक एवं शोषक वर्ग के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया गया। बिना क्रान्ति के यह शोषण, कभी समाप्त नहीं हो सकता, इसे स्पष्ट करते हुए शारदा कहती है, 'मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि विश्व के इतिहास में वही एक ऐसी जन-क्रान्ति होगी, जो व्यापक और अरपाई रूप से फल दे।'[2] एक अन्य स्थान पर भी जोशी जी ने लिखा है, 'पीड़ित मानवता की सेवा का जो नाटक तुम लोग मचाये हो, उसके भीतर से उठने वाली असहाय और उपेक्षित मानवता की पुकार को लाख चेष्टा करने पर भी अधिक समय तक दबा न सकोगी। तुम और तुम्हारे ही जैसे स्वाधिकार प्रमत्त दूसरे व्यक्ति के मन की खाल ओढ़े हुए नर पिशाच हैं।'[3] उनकी मान्यता है कि अब समय आ गया है जब झूठ और न्याय शोषण एवं सामूहिक भ्रष्टाचार और अत्याचार के विरोध में धरती का एक एक छिद्र विद्रोह करेगा।

----

१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१६३२), बनारस, पृष्ठ २५४।

२. इलाचन्द्र जोशी : निर्वासित (१६४५), इलाहाबाद, पृष्ठ २१६।

३. इलाचन्द्र जोशी : जहाज का पंछी (१६५५), बम्बई, पृष्ठ ४४।

`मनुष्य के रूप` (१६४६) में भूषण ड्राइवरों को शासकों के शोषण के विरुद्ध संगठित करते हुए कहता है, `जालिम अंग्रेज सरकार की नौकरी करना ऐसे ही है जैसे जंगल की लकड़ी लकड़हारों की कुल्हाड़ी में दस्ती बन कर जंगल से अपने साथी पेड़ों को कटवा दे।`[1] वह अंग्रेजों का विरोध करने के अपराध में जेल भी हो आता है। शोषण के विरुद्ध जन विद्रोह का यह भाव `टेढ़े मेढ़े रास्ते` (१६४६) में मनमोहन के माध्यम से स्पष्ट हुआ है। उमानाथ को समझाते हुए वह कहता है, `जब तक साम्राज्य कायम रहेगा, तब तक वह विषमता मौजूद रहेगी और उस विषमता को मिटाने के लिए साम्राज्य को मिटाना जरूरी है।`[2] मनमोहन और उमानाथ दोनों इस शोषण के विरुद्ध लोगों को संगठित करने का प्रयत्न करते हैं। शिक्षित वर्ग का शोषण किस प्रकार हो रहा था, इसे `भूले बिसरे चित्र` (१६५६) में स्पष्ट किया गया है। ज्ञानप्रकाश नवल से कहता है, `अब देश में हजारों लाखों ऐसे युवक हैं जो शिक्षित हैं, असम्पन्न हैं, बेकार हैं। यह क्रान्तिकारी आन्दोलन आखिर यह इसी बेकारी का अभिशाप है न। बहुत दिनों तक अंग्रेजों ने शिक्षित लोगों की बेकारी के असन्तोष को हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न खड़ा करके हिन्दू मुसलमानों को आपस में लड़वाकर दबाए रखा। लेकिन झूठे उपचारों से तो सत्य समस्याएं हल नहीं हो सकतीं।`[3] इस तरह के शोषण का अन्त करने के लिए संगठित प्रयत्न करने होंगे ताकि शासक वर्ग मनमानी न करने पाए। समाज के हर क्षेत्र में जो अन्याय एवं अत्याचार शासक वर्ग या उनके गुर्गे कर रहे हैं, वह भारतवासियों की असहाय एवं दयनीय परिस्थिति का परिणाम है। उनमें नई चेतना के प्रसार, आत्म विश्वास एवं दृढ़ता के जन्म के साथ ही वह क्षमता उत्पन्न होगी जिससे कि वे इस शोषण एवं अन्याय का सामना कर सकेंगे ऐसा इस काल के उपन्यासकारों का दृष्टिकोण था।

`महाकाल` (१६४७) में पांचू यही दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहता है, `हमारा संगठन, हमारा नैतिक बल, हमारी न्याय की आवाज इन्हें बहुत दिनों तक हमसे दूर

---

१. यशपाल : मनुष्य के रूप (१६४६), लखनऊ, पृष्ठ ११६।

२. भगवतीचरण वर्मा : टेढ़े मेढ़े रास्ते (१६४६), इलाहाबाद, पृष्ठ ३४६।

३. भगवतीचरण वर्मा : भूले बिसरे चित्र (१६५६), इलाहाबाद, पृष्ठ ६६६।

नहीं रख सकेगी । सत्ताधारी पूंजीपतियों का वशीकरण मन्त्र अब बहुत दिनों तक इन्हें अपने जादू में बांधे नहीं रख सकता । जब जनशक्ति, जनक्रान्ति सत्ताधारियों के स्वार्थ को तोड़ देगी ।[1] यह आवश्यक भी है क्योंकि अब लोगों का जीवन बड़ा कठिन हो गया है -- उनकी हालत जितनी बदतर है और दिन-प्रतिदिन होती जा रही है - उसका उत्तरदायित्व किस पर है ? इन विदेशी शासकों पर जो हमें सुखी नहीं देखना चाहते और हमारा रक्त चूस रहे हैं या विदेशी साम्राज्यवाद के हाथों कठपुतली बुर्जुवा मनोवृत्ति वाले पूंजीपतियों पर, जो शोषण एवं अत्याचार में ही विश्वास रखते हैं और उसी की भाषा समझते-बूझते और हैं... जब तक स्वाधीनता नहीं प्राप्त होती, देश में अपनी राष्ट्रीय सरकार नहीं बनती... समाजवादी समाज की रचना नहीं होती और इस सारे रूप विधान में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं होता । शोषण का यह रथचक्र त्वरित अबाध गति से चलता जाएगा ।[2] इसके लिए क्रान्ति की आवश्यकता है जो इस शोषक वर्ग को पूर्णतया समाप्त कर सके । इस प्रकार शोषण के विरुद्ध उपन्यासों में एक सशक्त स्वर चित्रित हुआ है । शासक वर्ग के विरुद्ध विद्रोह का भाव इन उपन्यासकारों ने स्पष्ट किया है और भारतवासियों को नई चेतना देने का प्रयत्न किया ताकि वे संगठित हो सकें और दृढ़ता के साथ इन अत्याचारों का सामना कर सकें ।

● विभाजन

जब १९३० में मुस्लिम लीग के अधिवेशन इकबाल ने सर्वप्रथम पाकिस्तान शब्द का प्रयोग किया, कोई नहीं जानता था कि आज से सत्रह वर्ष बाद सचमुच पाकिस्तान बन ही जाएगा । दूसरे मुस्लिम कवि नजरूल इस्लाम जो इकबाल से कहीं अधिक महत्वपूर्ण थे, बराबर हिन्दू मुस्लिम एकता पर ही बल देते रहे । पर राजनीति के क्षेत्र में विशेषतया भारत में साहित्यकार कोई महत्व नहीं रखता । मिस्टर जिन्ना की जिद थी, अंग्रेज साम्राज्यवादियों का प्रोत्साहन था और अन्ततोगत्वा पाकिस्तान

---

१. अमृतलाल नागर : महाकाल (१९४७), इलाहाबाद, पृष्ठ २३७ ।

२. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ ११७-१८ ।

बन ही गया । १५ अगस्त १९४७ को देश का विभाजन हो गया । 'झूठा-सच' में यशपाल ने विभाजन का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है ।

विभाजन के मूल में साम्प्रदायिक भावना सक्रिय थी । मुसलमान लोग अपने सम्प्रदाय को उत्तेजित कर रहे थे, जिनमें लीगी मुसलमान सबसे आगे थे - 'तासुब की इन्तिहा. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कारकून पर लीगी प्रोफेसर का कहर । मौतिबिर जरिये से मालूम हुआ है कि सनातन धर्म कालेज के तालिब इल्म सौमराज साहनी पर अर्से से लीगी प्रोफेसर दीन मोहम्मद की नाराजगी चली आ रही थी । वह तासुब का शिकार होने से बच नहीं सका । लीग की सल्तनत क्या रंग लावेगी ?'[१] वास्तव में देश के राजनीतिक नेता, विशेषतया जवाहरलाल नेहरू अब उस उत्साह और दृढ़ता से विभाजन की मांग का विरोध नहीं कर रहे थे । एक प्रकार से वे लीग की मांगों से बराबर समझौता करते चले आ रहे थे ।

लोगों में उत्तेजना फैलती जा रही थी, साथ ही विरोध भी - 'क्या तुम्हें नहीं मालूम, कलकत्ते के मुसलमानों ने हजारों हिन्दू भाइयों का कत्ल कर डाला । हमारी सैकड़ों बहू बेटियों को बेइज्जत कर डाला । अफसोस है तुम्हारी गली में यह लोग अब भी सौदा बेच रहे हैं ।'[२] लेकिन विरोध का स्वर बहुत सशक्त नहीं था - 'लीग का पाकिस्तान की मांग का आन्दोलन बढ़ता ही जा रहा था । मास्टर तारासिंह के अधिनायकत्व में एंटी पाकिस्तान लीग की हुंकार भी कम नहीं थी ।'[३] इस विभाजन की मांग का विरोध कुछ बुद्धिजीवी कर रहे थे और उत्तेजित अदूरदर्शी धार्मिक मदांध लोगों को समझा रहे थे - 'मामा किसका दुश्मन था ? मामा न यूनियनिस्ट मंत्रिमंडल से मतलब रखता था, न लीग की वजारत से, वह तो मानव था, केवल निरीह मानव । उसका खून मानवता का खून है । मानवता के खून की इस प्यास को कौन भड़का रहा है ?... क्या खुदा नहीं जानता कि तुम्हारे कत्ल के लिए उत्तेजना दिलाने की जिम्मेदारी ~~कु~~ उन नेताओं पर है जो तुम्हारे जैसे इन्सानों को शासन के सिंहासन पर पहुंच सकने का जीना बनाने के लिए जनता का

---

१. यशपाल : झूठा सच (प्रथम भाग), लखनऊ, पृष्ठ ५८ ।

२. वही, पृष्ठ ७० ।

३. वही, पृष्ठ १४८ ।

ईंट गारे की तरह प्रयोग करना चाहते हैं।... क्या अपने स्वार्थों के लिए सर्व-साधारण को अन्धा बना देना ही धर्म की रक्षा, प्रजातन्त्र और जावाद... ?[1]
लेकिन किसी भी प्रकार से लोगों में विवेक जागृतनहीं हो सका। सारे सामाजिक मूल्य देखते ही देखते नष्ट हो गए और मानवता का खून बड़े व्यापक धरातल पर सभ्यता के नाम पर होने लगा।

'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) में परमात्मा बाबू इसी को लक्ष्य कर कहते हैं, 'सदियों की दासता अब समाप्त होगी। उसी के लिए तो हमने इतनी कुर्बानियां दी हैं, इतने आघात सहे हैं, इतने दुख उठाए हैं पर यह देश का विभाजन बुरा हुआ। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बंटवारा दुर्भाग्यपूर्ण हुआ, इसके नतीजे अच्छे नहीं होंगे, यह अंग्रेजों की आपस में लड़ाने और अपना प्रभाव बराबर जमाए रखने की बेहूदी चाल है।'[2] पर यह विभाजन हुआ क्यों ? इसका उत्तर राजू इस प्रकार देता है, 'गांधीजी, नेहरू, पटेल और राजेन्द्र बाबू ने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए जितना प्रयत्न किया है, उतना जिन्ना लियाकतअली आदि ने किया है ? मुस्लिम जनता को गुमराह करने का सबसे ज्यादा प्रयत्न तो उसके नेताओं ने ही किया है, जो बस हिन्दुओं के विरुद्ध विष वमन करके मुसलमानों को उत्तेजित करते रहे और पाकिस्तान का सपना देखते रहे।'[3] इस विभाजन की प्रतिक्रिया बड़ी विषम हुई है। आज बंगला देश में जो कुछ घटित हो रहा है, उसने विभाजन के सिद्धान्तों को खोखला सिद्ध कर दिया। आज विश्व में कोई भी राज्य केवल धर्म के आधार पर नहीं, मानवीय सन्दर्भों का विकास करके जीवित रह सकता है। विभाजन से न केवल मानव मूल्यों का ह्रास हुआ है, वरन् सामाजिक सन्दर्भ भी परिवर्तित हुए हैं।

'परती : परिकथा' (१९५७) में फणीश्वरनाथ रेणु ने इरावती के माध्यम से यह स्प स्पष्ट किया है कि लोगों की विभाजन के फलस्वरूप स्थिति क्या हो गई है -

----

१. यशपाल : झूठा-सच (प्रथम भाग), लखनऊ, पृ० १३७।
२. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ १२२।
३. वही, पृष्ठ १२३।

इरावती मलहोत्रा । देश के बटवारे के बाद जिसके हिस्से में पड़ी है खानाबदोश जिन्दगी । लाहौर से दिल्ली । दिल्ली के शरणार्थी कैम्प से बिहार ।[१] यह स्थिति केवल इरावती मलहोत्रा की नहीं, असंख्य लोगों की हुई, जिनके घर-बार छूटे, सपने टूटे । उनकी मर्यादा खण्डित हुई और पवित्रता इज्जत सभी कुछ समाप्त हुई । न जाने कितनी हत्याएं हुईं, न जाने कितनी नन्हीं कलियां खिलने के पहले ही मुरझा गईं और यह सब धर्म के नाम पर हुआ । 'जुलूस' (१९६५) में पवित्रता के माध्यम से यह दु:खद परिणाम बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित हुआ है । उसका मंगेतर विनोद मुसलमानों द्वारा मार डाला जाता है । उसके बाद उसकी मन:स्थिति का मानवीय सन्दर्भों में रेणु ने बड़ा कारुणिक चित्रण किया है ।

इस प्रकार देश के विभाजन ने मानवता के सामने जो प्रश्नचिन्ह लगा दिया था, उसका हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों ने विराटता के साथ चित्रण किया है । इन उपन्यासकारों ने वादों, विवादों से ऊपर उठकर मानव मूल्य के परिप्रेक्ष्य में बड़ी गहनता से अनेक प्रश्न उभारे हैं जिनका उत्तर समूची मानवता को खोजना होगा । जो कुछ राजनीति के संसार में हुआ उसका बहुत बड़ा मूल्य मानवीय संसार को चुकाना पड़ा ।

● प्रजातंत्र की स्थापना

देश में प्रजातन्त्र की स्थापना के साथ एक नया राजनीतिक युग प्रारम्भ हुआ । अनेक वर्षों से स्वाधीनता के लिए जो संघर्ष हो रहा था, उसकी यह चरम परिणति थी । लोगों में बड़ी बड़ी आकांक्षाएं थीं कि प्रजातन्त्र की स्थापना के साथ एक नया समाज सामने आएगा और अब किसी प्रकार का शोषण नहीं होगा । पर शीघ्र ही जनता के सपने ढह गए और लगा कि यह केवल शासन परिवर्तन ही था, कुछ और नहीं । प्रजातन्त्र का जो वास्तविक अर्थ होना चाहिए था, वह हुआ ही नहीं और स्वराज्य के नाम पर राजनीतिक भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, सत्ता से चिपके रहने की प्रवृत्ति तथा राष्ट्रीयता के स्थान पर क्षेत्रीयता का ही विकास अधिक हुआ । जिस जाति व्यवस्था को तोड़ने के लिए गांधीजी ने इतना बड़ा आन्दोलन

----

१. फणीश्वरनाथ रेणु : परती : परिकथा (१९५७), दिल्ली, पृष्ठ २९३ ।

चलाया, वह आज चरम सीमा पर है । धर्म निरपेक्षता के नाम पर आज धर्म ही सबसे महत्वपूर्ण हो गया है और राजनीतिक नेता हर धर्म से अपना उल्लू सीधा करने के लिए उन्हें आपस में लड़ाते रहने में ही अपना परम कर्तव्य समझते हैं । राजनीति इतने छिछले स्तर पर आ गई है कि आए दिन दल बदल होते रहते हैं और जनता के प्रतिनिधि खरीदे और बेचे जाते हैं, न उन्हें समाज का, न देश का और न जनता का कोई ध्यान है । उन्हें बस अपना और अपने सगे सम्बन्धियों के हितों का ही ध्यान रहता है । इस भाई-भतीजावाद वाले प्रजातंत्र का कतिपय उपन्यासों में बड़ा ही व्यंग्यपूर्ण चित्रण हुआ है ।

'अमृत और विष' (१९६६) में अमृतलाल नागर ने प्रजातंत्र के इस अवमूल्यन का यथार्थ चित्रण किया है । 'स्वतन्त्र भारत में ईमानदारी का कोई स्थान नहीं रह गया । देश सेवा का मानदण्ड है - हलवे-माडे की सुरक्षा और देश भक्ति के नाम पर जनता को मूर्ख बनाना और भौतिक सुख साधन जुटाना । जड़ रूढ़िवादिता को कोई मिटाना नहीं चाहता, जो मिटाना चाहता है उसे नास्तिक कम्यूनिस्ट कहकर दबाने की चेष्टा की जाती है । भले लोग अपना अस्तित्व झूठा और निरर्थक समझने लगे हैं । गांधी जी के समय में आत्मबल और रचनात्मक शक्ति थी, भावनिष्ठा और सिद्धान्तवादिता थी । वही बातें आज तिरोहित हो गई हैं । आजादी की लड़ाई में जो नि:स्वार्थ देश सेवक थे, वे आज सत्ता और पैसे के मोह में पड़कर भटक गए हैं । वे अपनी तपस्या छोड़ बैठे हैं । अंग्रेजों के समय में जो कायर और दब्बू समझे जाते थे, वे आज देशभक्त माने जाते हैं । भारतीय संस्कृति की आड़ में सारे खुराफात हो रहे हैं । शिक्षण संस्थाओं में पालिटिक्स घुस गई । साम्प्रदायिकता, भाषावाद, जातिवाद, आदि के कारण समूचे देश के प्रति अपने मन की भावना गायब होती जा रही है । समाज में रहते हुए भी व्यक्ति रेता जा रहा है, वह अपने आप में अकेला है, एक भारी भीड़ उसे निगलती जा रही है । चारों और सच्ची नागरिकता और दायित्व का अभाव दृष्टिगोचर होता है ।'[१] प्रजातन्त्र में समाज का पूरी तरह दुरुपयोग हो रहा है । किसी को देश की चिन्ता नहीं है । सबको सिर्फ अपनी ही पड़ी है ।

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : अमृत और विष नामक लेख (आस्था के प्रहरी), (१९७०), इलाहाबाद, में संकलित, पृ० १२० ।

'सुबह अंधेरे पथ पर' (१९६७) में प्रजातन्त्र के खोखलेपन पर कड़ा प्रहार किया गया है। राजू एक स्थान पर कहता है, 'हम लोगों का आत्मसम्मान कोई अर्थ नहीं रखता। हम सब पशु हैं, बल्कि पशुओं से भी गिरी हुई यदि कोई घृणास्पद और घुटन भरी स्थिति हो सकती है तो हम सब उसी के योग्य हैं। व्यक्ति मन तो मात्र तीन ही हैं - इस प्रजातन्त्र देश में मंत्री एम० पी० या एम० एल० ए० और आफिसर, जिनके पास अधिकार हैं, जो अधिकार देते हैं - लेते हैं... हम सब तो दूसरे लोगों के अधिकारों की पूर्ति में साधन मात्र हैं... हमारी राष्ट्रीय सरकार इन्हीं अधिकार प्राप्त लोगों से बनती है... जनता की सेवा का आज बड़ा महत्व है। आधुनिक युग का यह सर्वाधिक नया और धनोपार्जन करने वाला फैशन है।'[१] इस फैशन ने भ्रष्टाचार और अनैतिकता को इतना प्रश्रय दिया है कि जन-जीवन से विश्वास और पवित्रता समाप्त हो गई है - 'तुम तो जानते ही हो इन्फर्मेशन और ब्राडकास्टिंग मिनिस्टर की पिछले बाई-इलेक्शन में क्या स्थिति थी। उनके विन करने का कोई चान्स ही न था। एक लेखक वकील खड़ा हो गया था बड़ी चालाकी से दबाव से कांग्रेस वालों ने इस शर्त पर उसे बैठाया कि मन्त्री महोदय उसके इकलौते पुत्र को रेडियोपर कोई अच्छी सी नौकरी दे देंगे, थर्ड क्लास होने से उसे कहीं नौकरी नहीं मिल रही थी, अब यह चान्स आया और मन्त्री महोदय ने उसे रखवा दिया।'[२] इस भ्रष्टाचार और नैतिक पतन से लोगों के मन में प्रजातन्त्र के प्रति कोई आस्था नहीं रह गई है। कोई भी प्रजातन्त्र आर्थिक स्वतन्त्रता, रूढ़िबद्धता से मुक्त समाज, प्रगतिशील दृष्टिकोण, नैतिक मूल्य-मर्यादा से युक्त साफ सुथरी राजनीति, राष्ट्रीयता और व्यापक दृष्टिकोण के बिना सफल नहीं हो सकता। इस उपन्यास में यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। लेखक का विचार है कि जब तक देश में चरित्र का संकट और विश्वास का संकट नहीं समाप्त होगा, प्रजातन्त्र अर्थहीन है।

'रागदरबारी' (१९६८) में श्रीलाल शुक्ल ने भी यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है और

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ ३५०-५१

२. वही, पृष्ठ ३८५।

प्रजातन्त्र के नाम पर होने वाले नोच खसोट, भ्रष्टाचार और शोषण का विशद चित्रण किया है । शिवपाल गंज में वैद्य जी गांव सभा को अपने लिए भांग पीसने वाले सनीचर को उपहार में दे देते हैं । जिसे बोलने तक की तमीज नहीं है । सहकारी संघ अपने बड़े लड़के बद्रीप्रसाद को पहलवान को देते हैं । तीसरी चीज़ कालेज को अपने छोटे लड़के रुप्पन को देना चाहते थे, पर नहीं देते क्योंकि वह इस प्रकार के प्रजातन्त्र का विरोध करता है । रंगनाथ जो शहर से गांव अपने मामा वैद्य जी के पास कुछ सीखने आता है, यह सब देखता है और असन्तुष्ट रहता है । कालेज का प्रिंसिपल वैद्य जी का रिश्तेदार समझ कर अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ने वाले खन्ना को निकाल कर उसे रखना चाहता है, तो वह अस्वीकार कर देता है । इस पर प्रिंसिपल कहता है - 'इससे कहां तक बचोगे बाबू रंगनाथ ? जहां जाओगे, तुम्हें किसी खन्ना की ही जगह मिलेगी... तुम्हारे विचार बहुत ऊंचे हैं, पर कुल मिलाकर उनसे यही साबित होता है कि तुम गधे हो ।'[1] आज आत्मा कन्न का हनन कर आत्म प्रवंचित होना ही प्रजातंत्र की सबसे बड़ी विशेषता है । रंगनाथ की यह स्थिति आज पूरे देश में फैली हुई है, जहां 'दूसरे' लोग निकाले जा रहे हैं और 'अपने' लोग भरे जा रहे हैं ।

'अलग अलग वैतरणी' (१६६८) में प्रजातन्त्र की इस दुर्गति का चित्रण ग्रामीण परिवेश में किया गया है । समाज में न तो कोई मूल्य रह गया है, न लोगों का अपना कोई व्यक्तित्व ही शेष रह गया है । 'इन अन्धेरी बन्द मुतही गलियों में रोज ही सैंकड़ों बिना चेहरे के घूमते हैं, आते जाते हैं, थूकते हैं, पेशाब करते हैं । ये भी क्या ध्यान देने लायक ही लोग हैं ? बिना चेहरे वालों की भीड़ में चेहरे वाले बहुत कम हैं । चेहरा अच्छा है या बुरा, इससे कुछ होता जाता नहीं । चेहरा हो यही बहुत है । और जिनके पास चेहरा है, वे चले जा रहे हैं । यही दुख की बात है ।'[2] यह समाज की वर्तमान स्थिति है, जो प्रजातन्त्र की देन है । जिस तप, त्याग, कठोर संयम, निष्ठा एवं आस्था से स्वतन्त्रता के लिए इन नेताओं ने संघर्ष किया था, आशा थी कि

---

१. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी (१६६८), दिल्ली, पृष्ठ ४०० ।

२. शिवप्रसाद सिंह : अलग अलग वैतरणी (१६६८), इलाहाबाद, पृष्ठ ४५२ ।

प्रजातन्त्र की स्थापना के पश्चात् देश की प्रगति के लिए नई संरचना होगी, नव निर्माण होगा, पर हुआ कुछ नहीं और सारी आशाएं टूट गई।

पत्थरों का शहर (१६७१)में राजनीतिक भ्रष्टाचार, नैतिक पतन व तथा राष्ट्रीय संकट का विशद चित्रण हुआ है। प्रजातन्त्र की स्थापना के बाद सारे देश की क्या स्थिति होगई है, इसे राजधानी दिल्ली को प्रतीक बनाकर इस उपन्यास में बड़ी गहराई से उपस्थित किया गया है। विवेक एक स्थान पर कहता है, "इतने बड़े देश का क्या होगा, जब उसके नेता अपना ही उत्थान करने में कुर्सी से चिपके रहने की प्रवृत्ति में संलग्न हों ; जनता दिशाहीन होकर भटक रही हो और नैतिक आचरण की मर्यादा हर चौराहे पर बिकरही हो। लोगों की आस्था और विश्वास वेश्या की पवित्रता बन गए हों, कर्मठता और सजीवता सिर धुनती हो, देश भक्ति एवं राष्ट्रीयता विदेशी दूतावासों में चीयान्ती, वोदका और रम के पेगों में घुलती हो, अनुशासन, संयम और दूरदर्शिता की विधान-सभाओं और संसद में लात-जूतों और गालियों के बीच धज्जियां उड़ती हों और सारी भीड़ नोच-खसोट, लूट-पाट में देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बांटती चली जा रही हो।[1] एक अन्य स्थान पर लेखक ने प्रश्न उठाया है - "क्या यही लोकतन्त्र है ? रोटी-कपड़ा और नौकरी की मांग करने वालों, अपने अधिकार की मांग करने वालों और सारी सड़ी-गली व्यवस्था के प्रति विरोध प्रकट करने वालों का मुंह गोलियों से बन्द कर देना क्या लोकतन्त्र है, मैं पूछता हूं... थोड़ी ही देर में लोकतन्त्र घायल अवस्था में भी गोलियों से भूना जा रहा है वह खून में लथ पथ सड़क पर पड़ा हुआ दम तोड़ रहा ही था, फिर भी सैनिकों के बूट उसे कुचल रहे थे। पुलिस की लाठियां उसकी हड्डी पसलियां चूर-चूर कर रही थीं।[2] इस प्रकार इस उपन्यास में सुरेश सिनहा ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि पुलिस और सेना के सहारे जहां प्रशासन चलता हो जहां अपना विरोध प्रकट करने के लिए वाणी की स्वतन्त्रता न हो, जहां अपनी निम्नतम आवश्यकताओं को पूरा करने की मांग का उत्तर पुलिस की गोलियों में मिलता हो, वह किस प्रकार का प्रजातन्त्र है और उसका भविष्य क्या होगा ?

---

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१६७१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३००।

२. वही, पृष्ठ ३०२।

खेद ही की बात यह है कि जहां प्रजातन्त्र की स्थिति यह हो, देश एवं समाज के इस संकट ने स्वातंत्र्योत्तर काल के इने-गिने उपन्यासकारों के मानस को झकझोरा है, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है । अन्यथा अधिकांश उपन्यास आधुनिकता को ही मूर्तिमान करने में लगे हुए हैं और स्त्री पुरुष के सम्बन्ध, यौनाचार की स्वतन्त्रता तथा प्रेम, सेक्स से अधिक महत्वपूर्ण विषय उनके लिए नहीं हैं ।

● आम चुनाव और राजनीतिक दलों का उन्मेष

प्रजातन्त्र की स्थापना के साथ ही आम चुनाव प्रारम्भ हुए । अब तक देश में पांच आम चुनाव हो चुके हैं । राज्यों की विधान सभाएं तो अब आए दिन भंग की जाती हैं और मध्यावधि चुनाव होते रहते हैं । लेकिन आम चुनाव का जो मुख्य आदर्श होना चाहिए, वह हमारे देश में प्रारम्भ से ही गायब है । योग्य लोग चुनकर भेजे जा सकें, यह कभी सम्भव नहीं होता । चुनाव उतने महंगे हो गए हैं कि बुद्धिजीवी या अन्य लोगों के लिए चुनाव लड़ना सम्भव ही नहीं है ।

चुनाव साधारण जनता को शिक्षित करने के लिए होता है । विभिन्न राजनीतिक दल जनता को अपना अपना दृष्टिकोण बताने केबजाय जातिवाद, क्षेत्रीयता एवं धर्म के संकीर्ण आधारों का वोट मांगते हैं । निर्धन लोगों के वोट तो खरीदे जाते हैं । इस सम्बन्ध में कांग्रेस को जो आदर्श स्थापित करना चाहिए था, सबसे बड़ी और पुरानी पार्टी होने के नाते - वह प्रस्तुत करने में असमर्थ रही है । स्वयं कांग्रेस योग्यता के आधार पर नहीं, जाति एवं धर्म के आधार पर बराबर अपने उम्मीदवार चुनती रही है । चुनाव के समय में सरकारी साधनों का दुरुपयोग करना, नई-नई योजनाओं की घोषणा करना, गली-मुहल्लों में नल या बिजली लगाना, गांवों में नलकूप लगाना या नहर आदि बनवाकर जनता के वोट अपनी तरफ आकर्षित करना एक आम बात इस देश में हो गई है । जिन लोगों को टिकट नहीं मिलते हैं, वे दल से इस्तीफा देकर अपना नया दल बना लेते हैं । अतः चुनाव के मौके पर भिन्न विभिन्न नए राजनैतिक दलों का उन्मेष होता रहता है, पर अखिल भारतीय रूप नहीं ग्रहण कर पाते । अधिकांश राजनीतिक दल अब अपने को क्षेत्रिय सीमाओं तक ही सीमित रखते हैं और क्षेत्रिय भावनाओं को उभाड़कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने

प्रेमचन्द ने चुनावों की इस स्थिति का अनुमान बहुत पहले ही कर लिया था कि ये चुनाव साधारण लोगों के लिए नहीं धन-सम्पन्न लोगों के लिए सिद्ध होंगे। 'गोदान' (१६३६) में उन्होंने दिखाया है कि राय साहब को जनता की सेवा की चिन्ता नहीं ; वरन् अपने विरोधी राजा सूर्यप्रताप सिंह को नीचा दिखाने की है - 'इम्तहान का सवाल नहीं है भाई, यह इज्जत का सवाल है। क्या आपकी राय में मेरी इज्जत दो लाख की भी नहीं। मेरी सारी रियासत बिक जाए, गम नहीं, मगर सूर्य प्रताप सिंह को मैं आसानी से विजय न पाने दूंगा।'[१]

चुनावों में जिस प्रकार के भ्रष्ट तरीके अपनाए जाते थे, चुनाव एजेन्ट जिस प्रकार से पैसे वसूल करते हैं और धन का जिसप्रकार बोलबाला रहता था, उससे प्रेमचन्द का जागरूक मन अत्यन्त विक्षुब्ध हो गया। उसका चित्र खींचते हुए उन्होंने लिखा है, 'मुझे अब इस डिमाक्रिसी में भक्ति नहीं रही। जरा सा काम और महीनों की बहस है। हां, जनता की आंखों में धूल फोंकने का अच्छा स्वांग है। इससे तो कहीं अच्छा है कि एक गवर्नर रहे, चाहे वह हिन्दुस्तानी हो या अंग्रेज, इससे बहस नहीं। एक इंजन जिस गाड़ी को बड़े मजे से हजारों माल खींच ले जा सकता है उसे ८० हजार आदमी मिलकर भी नहीं खींच सकते, मैं तो यह सारा तमाशा देखकर कौंसिल से बेजार हो गया हूं। मेरा बस चले तो कौंसिलों में आग लगा दूं, जिसे हम डिमोक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाजी ले जाता है जिसके पास रुपया है। रुपए के जोर से उसके लिए सभी सुविधाएं तैयार हो जाती हैं। बड़े बड़े पंडित, बड़े बड़े मौलवी, बड़े-बड़े लिखने और बोलने वाले जो अपनी जबान और कलम से पब्लिक को जिस तरफ चाहे फेर दें, सभी सोने के देवता के पैरों माथा रगड़ते हैं। मैंने तो इरादा कर लिया है, अब इलेक्शन के पास न जाऊंगा मेरा प्रोपेगण्डा अब डिमोक्रेसी के खिलाफ होगा।'[२] प्रेमचन्द ने जिस यथार्थ स्थिति की कल्पना अपने समय में कर

---

१. प्रेमचन्द : गोदान (१६३६), बनारस, पृष्ठ २३६।

२. वही, पृष्ठ ६४।

ली थी वह आज हमारे राजनीतिक जीवन में घटित हो रही थी । यह भविष्यद्रष्टा कलाकार के जागरूक मन का करुण अर्तनाद था, जो चुनावों के नाम पर होने वाले अनाचार, लूट-पाट एवं अनैतिक बातों से घोर रूप में असन्तुष्ट हो गया था और चाहता था कि या तो प्रजातन्त्र अपने वास्तविक रूप में विकसित हो या नष्ट हो जाए । उसका विकृत रूप समाज के लिए हितप्रद नहीं ।

'पार्टी कामरेड' (१६४६) में यशपाल का विचार है कि चुनाव का काम जनता को शिक्षित करना है । देश की समस्याओं के प्रति उन्हें जागरूक बनना है - 'केवल स्वयं ही राजनैतिक मार्ग को समझ लेना ही काफी नहीं । जनता को समझाना भी जरूरी है । राष्ट्रीय समस्या एक व्यक्ति की समझ और प्रयत्न से हल नहीं हो सकती ।'[१] यदि ऐसा न होगा तो चुनाव का वास्तविक उद्देश्य असफल हो जाएगा, 'चुनाव के संघर्ष की पेचीदा राजनीति बाजार के जनसाधारण को छू न पाती थी ।'[२] यशपाल ने विभिन्न राजनीतिक दलों के उन्मेष और चुनाव के अवसर पर होने वाले गाली-गलौज - मार-पीट एक दूसरे के कार्यालय पर आक्रमण एवं उनके जला देने का प्रयत्न करने की भी निन्दा की है, 'आपस में सिर फोड़ने की नीति स्वतन्त्रता और देशभक्ति का नाम नहीं, गुलामी और विद्रोह का मार्ग है ।'[३] वे विवेक एवं सन्तुलन पर बल देते हैं तथा आम चुनावों को जनता के लिए सुलभ बनाने की मांग करते हैं ।

'झूठा-सच' में भी यशपाल का यही दृष्टिकोण सामने उपस्थित होता है । चुनाव के समय राजनीतिक दांव-पेंच, भ्रष्टाचार, हत्याएं, जनता की नेताओं के प्रति प्रतिक्रिया का यशपाल ने इसमें विशद चित्रण किया है । चुनाव की हालत यह होती है कि 'भावी चुनाव में पंजाब के कांग्रेसी उम्मीदवारों का निर्णय सूद जी के हाथों में है । कांग्रेस सूद जी या घास के पुतले को भी चुनाव में खड़ा कर दे तो हार नहीं सकता ।'[४] पुरी अपने विपक्षी डा० प्राणनाथ को हराने के लिए हर राजनैतिक

---

१. यशपाल : मनुष्य के रूप (१६४६), लखनऊ, पृष्ठ १६ ।

२. वही, पृष्ठ ८६ ।

३. वही, पृष्ठ २६ ।

४. यशपाल : झूठा सच (देश का भविष्य), लखनऊ, पृष्ठ ६४८ ।

चाल चलता है, लेकिन जनता की जागरूकता से अन्त में सूद पराजित होता है - जनता निर्जीव नहीं है । जनता सदा मूक भी नहीं रहती । 'देश का भविष्य नेताओं और मंत्रियों की मुट्ठी में नहीं है, देश की जनता के ही हाथ में है ।'[1] यशपाल यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि चुनावों में यह राजनीतिक भ्रष्टाचार इस देश में सदा के लिए बना नहीं रहेगा । जनता एक दिन जागरूक होगी और अपनी बुद्धिमत्ता से वह राजनैतिक जीवन में फैले हुए भ्रष्टाचार को अवश्य ही दूर करेगी ।

'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) सेठ बल्लभदास ने जो अन्याय, भ्रष्टाचार और अत्याचार में ही जीते हैं । सोशलिस्ट पार्टी से इस्तीफा देकर कांग्रेस में शामिल हो जाते हैं, और एक उपचुनाव जीतकर पार्लियामेन्टरी सिक्रेटरी बन गए थे, लोगों को इस पर आश्चर्य हो रहा था । पर धीरे-धीरे इसका रहस्य भी खुलने लगा, चुनाव फण्ड में एक लाख रुपए चन्दे के रूप में दिए थे, इसी शर्त पर...'[2] 'राग दरबारी' (१९६८) में वैद्य जी जिस प्रकार चुनाव में विजयी बनाते हैं,[3] वह इसी तथ्य को स्पष्ट करता है ।

'पत्थरों का शहर' (१९७१) चुनाव और राजनीतिक दलों की टकराहट का यथार्थ सन्दर्भों में बड़ा विशद चित्रण हुआ है । राजनीतिक हत्या, भ्रष्टाचार, चरित्र का पतन तथा राजनीतिक दांव पेंच का लेखक ने समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सूक्ष्म अंकन किया है । नितिन भाई के ठाकुर साहब ने पराजित कर दिया था । मत गणना में कैसे 'नाटक' रचा जाता है, वह आज की राजनीतिक व्यवस्था पर तीखा प्रहार है और विजयी उम्मीदवार का जुलूस - 'सौ जोड़ी बैलों का एक लम्बा जुलूस निकला था और पूरे इलाके में चक्कर लगा रहा था । पीछे पीछे पन्द्रह बीस जीपें थीं । एक जीप पर जवाहरलाल की बड़ी सी तस्वीर लगी हुई थी और उसके नीचे ठाकुर साहब हाथ जोड़े मुस्कराकर लोगों के अभिवादनों का उत्तर दे रहे थे । पहले से ही पूरा इन्तजाम हो गया था । हर दस आदमी के बाद एक आदमी फूलों

----

१. यशपाल : झूठा सच (देश का भविष्य), लखनऊ, पृष्ठ ६८० ।
२. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ ४०० ।
३. श्रीलाल शुक्ल : रागदरबारी (१९६८), दिल्ली, पृष्ठ २६८ ।

की टोकरी लिए खड़ा था । फूलों की माला पहले से ही लोगों को मुफ्त
बांट दी गई थी ।... ठाकुर साहब को असीमित साधनों का पूरा लाभ मिला ।
हरिजनों के क्षेत्र में दस दस रुपए का एक नोट और देशी ठर्रे की एक-एक बोतल-
रातों रात बंट गईं... चुनाव एक जुआ बन गया था, जिसमें सभी ने अपना
सभी कुछ दांव पर लगा दिया था । सेवा त्याग तथा योग्यता के स्थान पर,
लफ्फाजी चालबाजी और नई नई तरकीबों का बोलबाला हो गया था ।
अपने देश में लोकतन्त्र भानुमति का पिटारा बन गया था ।[१] इस प्रकार चुनाव
और जनसेवा का पर्दाफाश करते हुए इस उपन्यास में राजनीतिक मतवादों और
विवादों के अन्तर्गत देश एवं समाज में फैले हुए अनाचार, अनैतिकता, भ्रष्टाचार,
एवं दुराचार का रहस्योद्घाटन हुआ है । राजनीतिक दलों एवं नेताओं के बाह्याडंबर
असत्य प्रियता, स्वार्थ परता एवं अनीति का यथार्थ चित्रण करते हुए लेखक ने जन
जागरण और वास्तविक स्वतन्त्रता की आशा प्रकट की है ।

● नारे-बाजी और समाज की अधोगति

हमारे देश की अधिकांश जनता अभी भी अशिक्षित है और सरल है । हमारे
राजनीतिक नेता कोई और बात जाने या न जाने, यह तथ्य भली भांति जानते हैं
और बात जाने उनका विश्वास सही होता है कि नारेबाजी से जनता प्रभावित
होती है । आज के हमारे राजनीतिक जीवन की विशेषता है कि रोज नए नारे
सुनाई पड़ते हैं और जनता उनकी भूल-भुलैया में खो जाती है । जब भी कभी भीषण
समस्या से जनता को दिशाहीन करना होता है, तो राजनीतिज्ञ एक नारा देते हैं
या कोई व्यर्थ का विवाद खड़ा कर जन मानस को उस तरफ मोड़ देते हैं और वह
जन मानस अधिकांशतः अशिक्षित लोगों का होता है जो बहुसंख्या में वोट देने जाते
हैं और उन्हीं की सहायता से विभिन्न राजनीतिज्ञ पार्टियां सत्तारूढ़ होती हैं । जो
शिक्षित समुदाय है, वह इस नारे बाजी की व्यर्थता एवं खोखलेपन को समझता है
पर वोट देने वाला अपनी शान के खिलाफ समझता है ।

---

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१६७१), इलाहाबाद, पृष्ठ १८७ ।

आज राजनीतिक जीवन में नारेबाजी, प्रदर्शन, बाह्याडम्बर, अन्तर्विरोध तथा फलत: समाज की अधोगति जिस प्रकार हो रही है, उसका अनुमान दूरदर्शी प्रेमचन्द ने बहुत पहले कर लिया था। 'गबन' (१९३०) में देवीदीन इन नेताओं के सम्बन्ध में कहता है, बड़े बड़े देशभक्तों को बिना विलायती शराब के चैन नहीं आता। उनके घर जाकर देखिए, तो एक भी देशी चीज़ न मिलेगी। दिखाने को दस-बीस कुर्ते गाढ़े के बनवा लिए, घर का और सब सामान विलायती है, सब के सब भोगविलास में अन्धे हो रहे हैं, छोटे भी और बड़े भी उस पर दावा यह है कि देश का उद्धार करेंगे। अब तुम क्या देश का उद्धार करोगे। पहले अपना उद्धार कर लो। गरीबों को लूटकर अमीरों का घर भरना तुम्हारा काम है। इसीलिए तुम्हारा इस देश में जन्म हुआ है। हां रोये जाओ और विलायती शराब उड़ाए जाओ, विलायती मोटरें दौड़ाओ, विलायती मुरब्बे और अचार चखो, विलायती बर्तनों में खाओ, विलायती दवाइयां पियो, पर देश के नाम पर रोये जाओ... एक बार यहां बहुत भारी जलसा हुआ। एक साहब बहादुर खड़े होकर खूब उछले कूदे, जब वह नीचे आये तब मैंने उनसे पूछा साहब सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, उसका कौन सा रूप आंखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाए घूमोगे। इस सुराज से देश का कल्याण होगा? तुम्हारी और तुम्हारे भाई बन्धों की जिन्दगी भले आराम से गुजरे पर देश का कोई भला न होगा। बस बगलें झांकने लगे।'[1] प्रेमचन्द का चिन्तन आज कितना सच्चा चरितार्थ हुआ है। आज नारेबाजी ने एक और राजनीतिक जीवन भ्रष्ट कर दिया है तो दूसरी ओर ऊपर से नीचे की समाज का विघटन हो रहा है।

'संन्यासी' में वासुदेव इस बात से असन्तुष्ट हैं कि हमारे नेता केवल नारे देना जानते हैं। वे न जनता की समस्याओं को समझना चाहते हैं और न जनता से अपना कोई सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं - हमारे कष्टों का कितना अनुभव आपके नेताओं

---

१. प्रेमचन्द : गबन (१९३०), बनारस, पृष्ठ १७१-७२।

को है । समाज के संघर्ष में हम लोग बुरी तरह पिसे जा रहे हैं । निर्धनता और बेकारी के सबब से हम लोगों की जो दुर्गति हो रही है, पग-पग पर हमारे तथा हमारे कुटुम्बियों का आत्म सम्मान जिस निर्दयता से ठुकराया जा रहा है, क्या उसकी खबर आपके श्रद्धालु रखते हैं ।'[1] जो लोग सेवा का नाटक रचकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, उन पर व्यंग करके जोशी जी कहते हैं, 'पीड़ित मानवता की सेवा का जो नाटक तुम लोग रचाए हो, उसके भीतर से उठने वाली असहाय और अशिक्षित मानवता की पुकार को लाख चेष्टा करने पर भी अधिक समय तक दबा न सकोगे तुम और तुम्हारे ही जैसे स्वाधिकार प्रमत्त दूसरे व्यक्ति मेमने की खाल ओढ़े हुए पिशाच हैं ।'[2] इन जन सेवकों की कथनी और करनी में इतना अधिक विरोध है कि समाज विघटित होता जा रहा है । परन्तु उन्हें कोई चिन्ता नहीं है । वे केवल अपने हितों को पूरा करने में लगे हुए हैं और समाज की अधोगति हो रही है ।

'देशद्रोही' (१९४३), 'झूठा सच' में यशपाल ने राजनीतिक जीवन के इस अन्तर्विरोध को बड़ी कुशलता से स्पष्ट किया है । राष्ट्रीयकरण के नारे पर व्यंग्य करते हुए पुरी कहता है, 'राष्ट्रीयकरण ! राष्ट्रीयकरण ! कम्यूनिस्टों की तरह रटते जाने से क्या बन जायेगा । पहली जरूरी बात उत्पादन बढ़ाना है या जमे हुए उत्पादन को बिखेर देना है । गरीबी और भूख का राष्ट्रीयकरण कर लेने से क्या होगा ।'[3] गांधीजी के बाद देश के हर नेता को लड़कियों के कन्धे पर हाथ रखकर चलने का अधिकार मिल गया है, चाहे उनमें गांधी जी जैसी पवित्रता एवं चारित्रिक मर्यादा हो या न हो । स्वतन्त्रता के बाद राजनीतिक जीवन के इस खोखलेपन ने ही देश से राष्ट्रीय भावना का ह्रास कर दिया है और लोगों का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण हो गया है, जिसका समाज पर विपरीत प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है ।

---

१. इलाचन्द्र जोशी : संन्यासी (१९४२), इलाहाबाद, पृष्ठ १६४ ।

२. इलाचन्द्र जोशी : जहाज का पंछी (१९५५), बम्बई, पृष्ठ ४४ ।

३. यशपाल : झूठा सच (देश का भविष्य), लखनऊ, पृष्ठ ५२२ ।

'हुजूर' (१९५६) में रांगेय राघव ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के खोखले राजनीतिक जीवन का यथार्थ चित्र इस प्रकार अंकित किया है। 'यहां मैंने नया हिन्द देखा। कांग्रेसियों ने बिलकुल अंग्रेजों का जामा पहन लिया। हिन्दुस्तान को लूट कर छोड़ा, बड़े-बड़े गद्दियों पर बैठे। आजाद हिन्दुस्तान में दफा १४४ लगा रहने लगा। रोज नेता झूठे वायदे करते थे और आई० सी० एस० ऊंचे पदों पर रख दिए गए।'[१] इसका परिणाम यह हुआ कि भ्रष्टाचार, जातिवाद, क्षेत्रियता तथा संकीर्ण मनोवृत्ति ब को प्रश्रय मिला है। अशिक्षित लोग भी जाति के नाम पर नेता बनने का स्वप्न देखने लगे हैं। 'मैला आंचल' (१९५४) में बलदेव सोचता है, 'वह अब अपने गांव में रहेगा। अपने समाज में, अपनी जाति में रहेगा, जाति बड़ी चीज़ है।... जाति की बात ऐसी है कि अब सभी बड़े बड़े लीडर अपनी अपनी जाति की पार्टी में हैं। यह तो राजनीति है।'[२] इस प्रकार से समाज का पतन होना अवश्यंभावी है। कोई उसे रोक नहीं सकता --'दरार पड़ी दीवार। यह गिरेगी। इसे गिरने दो। यह समाज कब तक टिका रह सकेगा।'[३] विशेषकर वह समाज जो पुलिस की गोलियों और भय से सुरक्षा का अनुभव करता है, 'राज की पुलिस के भरोसे यदि नागरिक जन-सुरक्षा अनुभव करेगा तो यह स्थिति फिर हमें बर्बर दशा तक ले जाएगी डर से जो होता है, वह संयम नहीं है, संस्कृत संयम का फल है। दमन हिंस्र भाव का निमंत्रण है।'[४] यदि समय रहते राजनीतिक नेता सचेत नहीं होंगे, तो इस समाजका पूर्ण पतन हो जाएगा।

आखिर समाज की इस स्थिति का जिम्मेदार कौन है? स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् कांग्रेस सबसे बड़ी और शासक पार्टी थी, लेकिन उसने अपना कोई न आदर्श सुरक्षित रखा, न कोई नया आदर्श प्रस्तुत किया - 'बिलैती कपड़ा के पिकेटिन के जमाने में चानमल-सागरमल के गोला पर पिकेटिन के दिन क्या हुआ था, सो याद है तो तुमको बलदेव? चानमल मारवाड़ी के बेटा सागरमल ने अपने हाथों भोलंटियरों को पीटा था...

----

१. रांगेय राघव : हुजूर (१९५६), इलाहाबाद, पृष्ठ १०२।

२. फणीश्वरनाथ रेणु : मैला आंचल (१९५४), दिल्ली, पृष्ठ ४१२।

३. वही, पृष्ठ २३५।

४. जैनेन्द्र कुमार : जयवर्धन (१९५६), दिल्ली, पृष्ठ १३२।

वही सागरमल आज नरपत नगर थाना कांग्रेस का सभापति है ! और सुनेंगे ?... दुलारचन्द कामरा को जानते होंगे ? वहीं जुआ कम्पनी वाला... वह कटहा थाना सेक्रेटरी है ।... भारथ माता और भी जार बेजार रो रही है ।"[1] यही नहीं, "यह सब जानने लगे थे कि कांग्रेस तो एक ऐसी बड़ी नदी है, जिसमें देश के सारे उच्चकों, काला रोजगार करने वालों, इन्कमटैक्स बचाने वालों, विदेशी मुद्रा छिपाने वालों, लुटेरों और नक्काबपोशों के लिए मान मर्यादा की जगहें हैं, उन्हीं के माध्यम से जवाहरलाल जी अपने सिद्धान्तों को, अपने समाजवाद के पूरा होने की आशा करते हैं । हमें लेक्चर पिलाया जाता है हमें एक बड़ी लड़ाई के लिए तैयार होना है । धीरे धीरे देश में समाजवाद आएगा ।"[2] इस नारेबाजी में सारा समाज टूट रहा है, बिखर रहा है । मूल्य मर्यादा समाप्त हो रही है । समाज में न कोई अनुशासन रह गया है, न देश भक्ति । "सभी दल जनता की भलाई करना चाहते हैं । हड़तालें करते हैं, अनशन करते हैं, विद्रोह की धमकी देते हैं, लेकिन जनता अभी भी वहीं खड़ी है जहां वर्षों पहले खड़ी थी । ये दल न खुद चलना चाहते हैं और न जनता को चलाना चाहते हैं । सभी नए नए नारे देकर जनता को अपनी तरफ आकर्षित कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं ।"[3] राजनीतिक पार्टियां और नेता नवनिर्माण करने देश के लिए नए पथ का निर्माण करने में असमर्थ हैं । वे सभी स्वहित में लगे हैं । हमारे लोक जीवन में फैले हुए अविश्वास का दूसरा कारण आज की राजनीतिक पार्टियां हैं । "राजनीति जिस रूप में आज प्रचलित है, वह तनिक भी प्रगतिशील शक्ति नहीं है । राजनीति केवल दांव पेंचों का अखाड़ा है, मानव हित के आदर्श के न होने तथा व्यक्तिगत अहंकार के कारण राजनीति के खिलाड़ियों की बुद्धि, चतुराई और कार्यकुशलता बहक गई है ।"[4] हमें समाज की इस अधोगति को रोकना होगा तथा अपनी पूरी सामर्थ्य से एक नए समाज की रचना करनी होगी, "जिसमें अमीर-गरीब न होंगे, रंग भेद न होगा, धर्म भेद

---

१. फणीश्वरनाथ रेणु : मैला आंचल (१९५४), दिल्ली, पृष्ठ १९६ ।
२. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ ४०० ।
३. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृष्ठ १९१ ।
४. अमृतलाल नागर : बूंद और समुद्र (१९५६), इलाहाबाद, पृष्ठ ६०५ ।

न होगा, जातीयता और राष्ट्रीयता न होगी, एक दुनिया होगी एक मानव समाज होगा ।[१] इसी में मानव मंगल होगा, समाज का उत्थान होगा । तब न तो भ्रष्ट राजनीति होगी और न नेता लोग नए नए नारे देकर जनता का दुरुपयोग कर सकेंगे ।

● युवा विद्रोह

आज भारत में ही नहीं सारे विश्व में युवा विद्रोह लक्षित होता है । पुरानी पीढ़ी की मान्यताओं एवं आदर्शों के प्रति आज के युवा लोग आश्वस्त नहीं हैं और वे एक नए मार्ग का अवलम्बन करना चाहते हैं । यह एक प्रकार से पीढ़ियों का संघर्ष भी है । इस युवा विद्रोह के प्रति राजनीतिक पार्टियां विशेष सक्रिय रहती हैं । सभी प्रमुख राजनीतिक दलों की युवक शाखाएं हैं, जो विश्वविद्यालयों एवं कालेजों में क्रियाशील रहती हैं । यह युवा विद्रोह चूंकि राजनीति से अधिक प्रेरित है, इसलिए उसमें सर्जनात्मकता के स्थान पर विध्वंसात्मक दृष्टिकोण अधिक परिलक्षित होता है । हड़ताल, अनशन, मार-पीट, तोड़-फोड़, पत्थर-बाजी तथा आग लगा देना आदि इस युवा विद्रोह की प्रमुख विशेषताएं हैं । पर कुछ युवा वर्ग ऐसे हैं जो सचमुच प्रशंसनीय कार्य करते हैं और राजनीतिक मतवादों से ऊपर उठकर समाज के उत्थान एवं मानवता की प्रगति के लिए भी कार्य करते हैं ।

यह युवा विद्रोह आजकल यूनियन के अध्यक्ष के चुनाव को लेकर प्रारम्भ होता है । हर राजनीतिक दल चाहते हैं कि उनका प्रतिनिधि अध्यक्ष बन जाए । 'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) में इस स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है - 'हरबंस ने इस चैलेन्ज को स्वीकार लिया था । उसे कम्यूनिस्ट पार्टी की मदद मिल गई थी और वह बड़े पैमाने पर चुनाव जीतने के लिए कटिबद्ध हो गया था ।... जितने भी कम्यूनिस्ट विचारधारा के अध्यापक थे, उनसे वह मिल चुका था । उन्होंने आश्वासन दिया था, यदि कोई गड़बड़ी हुई तो मतगणना के समय वे ठीक कर लेंगे... इस प्रकार

----

१. अमृतलाल नागर : महाकाल (१९४८), इलाहाबाद, पृष्ठ १३० ।

विद्यार्थियों का चुनाव राजनीतिक रंग लेता है ।'[1] और चुनाव जीतने के पश्चात् हड़ताल करवाना आवश्यक होता है क्योंकि - 'स्टुडेन्ट्स यूनिटी का प्रश्न है यह । जिस प्रकार युद्ध से किसी देश में एकता आती है, उसी प्रकार हड़ताल से विद्यार्थियों में एकता आती है । इससे विश्वविद्यालय के अधिकारी उन पर अत्याचार नहीं कर पाते ।'[2] यह दृष्टिकोण विद्यार्थियों का अपना नहीं विभिन्न राजनीतिक दलों से सम्प्रेषित होता है, जो केवल अराजकता में विश्वास रखता हैं ।

'अमृत और विष' (१९६६) में नागर जी ने युवा-विद्रोह का रचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। लच्छू, रमेश तथा जयकिशोर आदि के माध्यम से उन्होंने दिखाया है कि इस वर्ग में दिशाहीनता होते हुए भी संकट में पड़े हुए लोगों की सहायता करने एवं समाज की प्रगति में अपना योगदान देने की भावना है, 'देश के जीवन की इन परिस्थितियों ने चारों ओर विद्रोहों और मानसिक विस्फोटों का युग पैदा कर दिया है । वैसे तो दो पीढ़ियों का संघर्ष कोई नई बात नहीं है किन्तु आज का संघर्ष सचेतन और तीखा है । पुराने और नई दुनिया के बीच दरार पड़ती जा रही है ऐसी हालत में तरुण वर्ग का आगे बढ़ना स्वाभाविक है । ऐसे तरुण भी हैं जिनमें कोई उमंग नहीं । ऐसे तरुण भी हैं, जो अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए दांव-पेंच खेल सकते हैं किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद की राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों से पीड़ित तरुणों का एक वर्ग ऐसा भी है, जो विद्रोह-पथ पर अग्रसर है । उनके विद्रोह में दिशाहीनता है किन्तु उनकी पीड़ा सच्ची है । वे सच्चाई ईमानदारी और न्याय की मांग करते हैं । एक ओर यदि लच्छू नौजवान भारत का एक रूप प्रस्तुत करता है तो रमेश, जयकिशोर आदि उसका दूसरा रूप प्रस्तुत करते हैं । रूप कोई सा हो, इतना निश्चित है कि हिन्दुस्तान बदल रहा है ।'[3] अपने चारों ओर चारित्रिक पतन, नैतिक अवमूल्यन, मूल्यों का विघटन, घूसखोरी, भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी और राष्ट्रीय हित के स्थान पर आज

---

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ १३० ।

२. वही, पृष्ठ १३१ ।

३. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : अमृत और विष नामक लेख (आस्था के प्रहरी में संकलित- १९७०), इलाहाबाद, पृष्ठ १२० ।

का युवा वर्ग केवल स्वरति देख रहा है। इसलिए उसका विद्रोह करना स्वाभाविक है।

'पत्थरों का शहर' (१६७१) में रवि के माध्यम से आज के युवा विद्रोह एवं उसके राजनीतिक परिप्रेक्ष्य पर विस्तार से विश्लेषण किया गया है। कारणों का विश्लेषण करते हुए नितिन भाई कहते हैं? हमनें उन्हें सिर्फ धोखा दिया है और उन पर अविश्वास प्रकट किया है। हमने लच्छेदार भाषण जरूर दिए हैं, लेकिन कभी उन्हें जिम्मेदारी संभालने कामौका देने को तैयार नहीं हुए हैं। और तो और, हम वह शिक्षा प्रणाली तक नहीं बदल सके, जो लार्ड मैकाले ने सिर्फ क्लर्क पैदा करने के लिए बनाई थी ताकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आवश्यकताएं पूरी हो सकें... स्वतन्त्रता केबाद हमने उन्हें कौन सा रचनात्मक कार्य दिया है? उनके सामने भविष्य क्या है... चारों तरफ सिर्फ अन्धकार ही अन्धकार तो है... हमारे बुजुर्गों ने आदर्श प्रस्तुत करने के नाम पर स्मगलिंग, देशद्रोह, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, भाई-भतीजावाद तथा विधान सभाओं एवं संसद में लात-जूते और गाली-गलौज प्रस्तुत किया है। ऐसी पीढ़ी से आप और उम्मीद ही क्या कर सकते हैं।'[1] ... युवा विद्रोह की हालत यह थी कि 'छात्र नारे लगा रहे थे सभी विरोधी राजनीतिक दलों ने उन्हें संगठित किया था। रवि उनका नेता बना हुआ था। अगली जुलाई में ही उसे यूनियन के अध्यक्ष पद का चुनाव लड़ना था और वह कुछ कर गुजरने की भावना लेकर सिर पर कफन बांधे हुए इस विरोध को प्रखर कर रहा था।' नेताजी का कहना था - 'आज के युवा असंतोष की वजह क्या है? दूसरे राजनीतिक दल जब सरकार का तख्ता नहीं पलट पाते, तो इन भोले-भाले विद्यार्थियों को भड़काते हैं।'[2] आज की लक्ष्यहीन और धुरीहीन राजनीति में युवा वर्ग दिशाहीन नहीं होगा, तो क्या होगा।

इस प्रकार केवल तीन उपन्यास ही मिलते हैं, जिनमें युवावर्ग की समस्याओं, उनके

----

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१६७१), इलाहाबाद, पृष्ठ २७४।

२. वही, पृष्ठ २३३।

राजनीतिक सन्दर्भों एवं विद्रोह का सार्थक एवं सशक्त चित्रण हुआ है। उपन्यासकारों ने युवा लोगों की मन:स्थिति का सही अंकन कर गहराई में जाकर उन कारणों की खोजने की चेष्टा की है, जो आज के युवा वर्ग को लक्ष्यहीन बना रहे हैं। उन्होंने सर्जनात्मक एवं विध्वंसात्मक दोनों ही दृष्टियों का विवेचन कर युवा लोगों को समाज का नवीन ढांचा बनाने केलिए दिशोन्मुख किया है।

● राजनीतिक हलचलें और सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन

पिछली दशाब्दियों में जो राजनीतिक हलचलें हुई हैं, उनसे सामाजिक मूल्य निश्चित रूप से परिवर्तित होते रहे हैं। आरम्भिक काल में किशोरीलाल गोस्वामी, गोपाल राम गहमरी, मेहता लज्जाराम शर्मा तथा बाबू ब्रजनन्दन सहाय आदि के सनातन धर्म के प्रभाव के कारण भी इन परिवर्तनों की पूर्ण उपेक्षा न कर सके। 'अरण्यबाला' (१९१५) में नई सभ्यता एवं सामूहिक खान-पान के साथ-साथ नारी शिक्षा एवं उसके आर्थिक स्वावलम्बन का समर्थन किया गया है। मेहता लज्जाराम शर्मा तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध भी नारी शिक्षा का समर्थन करने के लिए प्रस्तुत हुए, यह मूल्य परिवर्तन राजनीतिक हलचलों के कारण ही सामने आ रहे थे, जिसकी पूर्णतया उपेक्षा करने में ये उपन्यासकार असमर्थ थे।

इस काल की राजनीति धार्मिक सहिष्णुता एवं हिन्दू मुस्लिम एकता पर बल दे रही थी। गांधीजी इस विचारधारा का नेतृत्व कर रहे थे, हमारी समाज काया की रीढ़ पूर्णतया सड़ गल गई थी। अत: उसके लिए यह प्रगतिशील मानदण्ड आवश्यक था। प्रेमचन्द इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू। देखना यह चाहिए कि वह कैसा आदमी है, न कि यह कि वह किस धर्म का आदमी है। संसार का भावी धर्म, सत्य न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा।'[१] प्रेमचन्द के पहले सामाजिक मूल्यों में इस

---

१. प्रेमचन्द : कायाकल्प (१९२६), बनारस, पृष्ठ २४।

प्रकार का परिवर्तन कठिन था । इसी प्रकार 'कर्मभूमि' (१६३२) में अमरकान्त भी राजनीतिक हलचलों से प्रभावित होकर सोचता है, 'वह अब क्रान्ति में ही देश का उद्धार समझता था, ऐसी क्रान्ति में जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का झूठे सिद्धान्तों का, परिपाटियों का अन्त कर दे, जो एक नए युग का प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे, जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़-तोड़कर चकनाचूर कर दे । जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे ।'[१] प्रेमचन्द ने सामाजिक मूल्यों के होने वाले परिवर्तनों को सही सन्दर्भों में पहचाना था और अपने सभी उपन्यासों में उनका अंकन किया है ।

राजनीतिक हलचलों से ही आज सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन हो रहे हैं, क्योंकि 'आज के युग में राजनीति जीवन के इतने निकट आ गई है कि उसे छोड़कर मानवीय उन्नति की कोई योजना एक कदम आगे नहीं बढ़ सकती ।'[२] यदि राजनीति भ्रष्ट नहीं होगी तो ये परिवर्तन सही दिशा में होंगे । इसके विपरीत यदि राजनीति अनैतिक आधारों पर निर्मित होगी, तो परिवर्तन की दिशाएं विध्वंसात्मक होंगी 'संसार में आज अनेक वादों, पूंजीवाद, नाजीवाद, गांधीवाद, समाजवाद का संघर्ष चल रहा है । इस विचार संघर्ष की नींव में परिस्थितियों, व्यवस्था और धारणाओं के सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न है । इन वादों के संघर्ष से उत्पन्न समन्वय ही मनुष्य की नई सभ्यता का आधार होगा ।'[३] अत: आवश्यक है कि राजनीतिक आधारों को उच्चादर्शों पर प्रतिष्ठित किया जाए, ताकि समाज का अधिक से अधिक मंगल हो सके ।

हिन्दू मुस्लिम एकता की सभ्यता भी राजनीतिक प्रभाव के कारण है - 'जहां देखो साला हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो रहा है । वह कहेवें हैं कि हिन्दू ने मेरी निवाज

---

१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि (१६३२), बनारस, पृष्ठ ६५ ।

२. इलाचन्द्र जोशी : जिप्सी (१६५२), इलाहाबाद, पृष्ठ ५५५ ।

३. यशपाल : दादा कामरेड (१६४१), लखनऊ, पृष्ठ ६ ।

बिगाड़ दीनी, वो कहेवें हैं कि मुसलमान ने मेरी गाय काट डाली । खुसकेंट साले इन फोक्सों कोइती भी तमीज नहीं आई कि हम तो आपस में सिर फोड़ रहे हैं और अंग्रेज वाले हमारी छाती पर बैठ खून पी रये हैं हमारा ।[1] वास्तव में राजनीतिक हलचलों की दिशा एक दूसरों को लड़वाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने की नहीं वरन् ऐसा होनी चाहिए, जिससे मनुष्य का आत्मविश्वास जागे, उसकी आस्था जागे ।[2] मनुष्य को दूसरे के सुख दुख में अपना सुख दुख मानना चाहिए । विचारों में भेद हो सकता है, विचारों के भेद से स्वस्थ द्वन्द्व का होता है और उससे उत्तरोत्तर उसका समन्वयात्मक विकास भी होता है ।

'मैला आंचल' (१९५४) तथा 'अलग अलग वैतरणी' (१९६८) में गावों में होने वाले सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन की विशद व्याख्या हुई है । दोनों ही उपन्यासों में स्पष्ट किया गया है कि ग्रामवासियों की चेतना पर राजनीति पूरी तरह छा गई है और वे धर्म, सम्प्रदाय, समाज एवं अपने आचार व्यवहारों के बारे में नए ढंग से सोचने लगे हैं । परम्पराएं शिथिल हो गई हैं और रूढ़िवादिता दूर हो रही है । 'सुबह अंधेरे पथ पर' (१९६७), 'राग दरबारी' (१९६८), 'ऋतु चक्र' (१९६८) तथा पत्थरों का शहर' (१९७१) में नागरिक सभ्यता के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों का विवेचन किया गया है । इन सभी लेखकों की दृष्टि पूर्णतया तटस्थ रही है और वादों की सीमाओं से मुक्त होकर उन्होंने विध्वंसात्मक राजनीति की कटु आलोचना करते हुए आज की राजनीतिक हलचलों में व्याप्त अनैतिकता, अनाचार, भ्रष्टाचार, दुराचार तथा अन्याय पर असन्तोष प्रगट किया है और उसे सही दिशा देने की मांग की है ताकि सामाजिक मूल्यों में होने वाले परिवर्तन गलत दिशा में न हों ।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि इस काल में इने-गिने उपन्यास ही ऐसे हैं, जिनमें आज के राजनीतिक परिवेश का सही-सार्थक मूल्यांकन हुआ है । भगवतीचरण वर्मा के

---

१. अमृतलाल नागर : सेठ बांकेलाल (१९५५), दिल्ली, पृष्ठ १०५ ।

२. अमृतलाल नागर : बूंद और समुद्र (१९५६), इलाहाबाद, पृष्ठ ६०६ ।

'सबही नचावत राम गोसाई' (१६६८) में केवल सतही राजनीति की अखबारी सूचनाएं हैं। गहराई में जाकर सामाजिक मूल्यों पर पड़ने वाले प्रभावों को स्पर्श तक नहीं किया गया है। 'राग दरबारी' तथा 'पत्थरों का शहर' इधर प्रकाशित दो ऐसे महत्वपूर्ण उपन्यास हैं, जिनमें स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीति तथा सामाजिक मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों का लेखा जोखा विराट परिवेश में प्रस्तुत किया गया है।

'राग दरबारी' व्यंग्य की प्रधानता एवं मानवीय सन्दर्भों की कमी है, इसलिए वह भी सतही सूचनाओं की सीमाओं से ज्यादा उभर नहीं पाता, जबकि 'पत्थरों का शहर' समकालीन जीवन संकट, राजनीतिक विघटन, मूल्य-मर्यादा के ह्रास एवं नई दिशाओं के उदय की गहराई में जाकर परीक्षा करता है और समाज सापेक्ष सत्यों का अन्वेषण करता है। अन्य उपन्यासों में राजनीति या नवीन सामाजिक ढांचे को केवल फैशन के लिए उठाया गया है। उपन्यासकारों का मन स्त्री-पुरुष सम्बन्धों या यौन समस्याओं की व्याख्या करने में ही इतना उलझा रहा है कि उन्हें इन विराट ही एवं ज्वलन्त समस्याओं की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं मिला है, पर अमृतलाल नागर, श्रीलाल शुक्ल, सुरेश सिनहा तथा फणीश्वर नाथ रेणु तथा ऐसे जागरूक कलाकार हैं, जो अपने सही परिवेश की उपेक्षा करने या उनसे पलायन करने के बजाय संघर्ष करते रहे हैं और परिवर्तन के सन्दर्भों को सही ढंग से चित्रित करने में संलग्न रहे हैं। यही उज्ज्वल भविष्य का सूचक है।

0000

६. आठवां अध्याय : परिवर्तित परिस्थितियां तथा मानव-मूल्य और मर्यादा

- नए नैतिक मानदण्ड और अभिनव दृष्टिकोण
- व्यक्ति स्वातन्त्र्य बनाम निष्क्रियता
- मानव-मुक्ति और समानता के कृत्रिम शिखर
- अस्तित्व की चेतना बनाम कटे हुए सन्दर्भ
- मन की रहस्यमय पर्तें और अस्वस्थ व्यक्ति
- सांस्कृतिक पुनरुत्थान और जागरण की नई भूमिका
- मानवीय अन्तरात्मा का अन्वेषण
- धर्म निरपेक्ष समाज की परिकल्पना

हिन्दी उपन्यासों के आविर्भाव काल से अब तक समाज में अनेक विचारधाराओं का जन्म हुआ और उनका समाज की परिवर्तनशीलता पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है । नई विचारधारा के साथ सांस्कृतिक परिवेश में परिवर्तन होता है, भले ही वह आंशिक हो और उसके साथ मानव-मूल्य तथा मर्यादा को भी नई दिशा निर्धारित होती है । आरम्भिक काल में हमारा समाज पूर्णतया रूढ़िबद्ध था । आडम्बर, धार्मिक, संकीर्णता, परम्परागत आधार, संयुक्त परिवार, वर्ण व्यवस्था तथा समाज का कठोर अनुशासन आदि इस काल की प्रमुख विशेषताएं थीं । बाल विवाह होते थे, विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध था तथा नारी-शिक्षा की कोई विशेष व्यवस्था न थी, उनके आर्थिक स्वावलम्बन की बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी ।

लेकिन इस आरम्भिक काल के समाज की सत्ता प्रमुख थी और कोई वैयक्तिक विचारधारा वर्तमान न थी । लोगों के सोचने-समझने एवं चिन्तन-व्यवहार की परिधि अपनी निजी इकाई न होकर समाज था । समाज में आस्था शेष थी ।

जैसे-जैसे अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क से नई विचारधाराएं देश में आईं, सामाजिक परिवर्तन स्पष्टतया लक्षित होने लगा । जो नया शिक्षित मध्यवर्ग सामने आया, वह स्वभावत: उस रूढ़िबद्ध समाज में न रह सकता था । उसे धार्मिक उदारता चाहिए थी तथा ऐसा शिथिल समाज, जिसमें उसकी निजता तथा वैयक्तिकता की रक्षा हो सके । निजता तथा वैयक्तिकता की यह भावना व्यक्तिवाद की देन है । समाज प्रगतिशील हो । आर्थिक शोषण के स्थान पर समानता, सामाजिक अन्याय की समाप्ति तथा वर्ग वैषम्य के स्थान पर समाजवादी समाज मुख्यत: मार्क्सवाद की देन है । आस्थाहीन बौद्धिकता, अनास्था तथा स्वतन्त्रता की भावना एवं समाज तथा सामूहिकता की उपेक्षा मनोविश्लेषणवाद तथा अस्तित्ववाद की देन हैं । धार्मिक संकीर्णता दूर हो, धर्म निरपेक्ष समाज की स्थापना हो, हिन्दू-मुस्लिम एकता हो, जाति-भेद समाप्त हो तथा हरिजनों को समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त हो, यह गांधीवादीविचारधारा की देन है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे जैसे सशक्त नई विचारधाराओं का समाज में जन्म होता

है तो सामाजिक परिवर्तनशीलता आती है और नवीन मानव-मूल्य मर्यादा की स्थापना होती है ।

नए नैतिक मानदण्ड और अभिनव दृष्टिकोण

सामाजिक परिवर्तनशीलता के साथ नए नैतिक मानदण्डों की आवश्यकता होती है । पुराने नैतिक मूल्य अब पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण बहुत ही कठोर और अव्यवहारिक प्रतीत होने लगे थे । उनमें परिवर्तन लाने के लिए बुद्धिजीवियों में अभिनव दृष्टिकोण विकसित हो रहा था । सेक्स, प्रेम, विवाह तथा पाप-पुण्य की परिभाषाएं बदल रही थीं । आर्थिक विषमताओं एवं भौतिक आवश्यकताओं ने पैसे का महत्व बढ़ा दिया था और पुराने नैतिक मानदण्ड जर्जर पड़ने लगे । सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं को सहने के लिए अब कोई प्रस्तुत न था । प्रेमचन्द ने भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में जो "मैनिफेस्टो" प्रस्तुत किया था, वह इसी विचारधारा का प्रतीक है -- "भारतीय समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं । पुराने विचारों और विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही हैं और एक नए समाज का जन्म हो रहा है । भारतीय साहित्यकारों का धर्म है कि वह भारतीय जीवन में पैदा होने वाली क्रान्ति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हों । वह सब कुछ, जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अन्धविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है । वह सब कुछ, जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, हमें जो प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि के कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है । इसी को हम प्रगतिशील समझते हैं ।"[1] प्रेमचन्द ने इस सामाजिक परिवर्तनशीलता को अपने उपन्यासों में यथार्थ अभिव्यक्ति दी है । इस काल में पुरानी नैतिक मान्यताओं तथा सामाजिक आस्थाओं में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा था, और हिन्दी उपन्यास उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे क्योंकि, "साहित्य अपनी काल का प्रतिबिम्ब होता है, जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को

----

१. अमृतराय : कलम का सिपाही (१६६२), इलाहाबाद, पृष्ठ ६०८ ।

स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं।[1] उपन्यासकारों ने नए नैतिक मानदण्डों की आवश्यकता समझी और अंकन अपने उपन्यासों में सामाजिक परिप्रेक्ष्य में किया।

इस काल में सभी प्राचीन विश्वास और परम्पराओं को चुनौती दी जा रही है। प्राचीन व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी और नवीन मान्यताओं का उदय हो रहा था। वेश्यावृत्ति से अधिक अनैतिक कार्य तो सोचा भी नहीं जा सकता था। आश्चर्य तो यह है कि उस समय उसे न्यायसंगत माना जाता था। किशोरीलाल गोस्वामी तथा मेहता लज्जाराम शर्मा ने इसका समर्थन किया है। लेकिन प्रेमचन्द ने इस पर तीव्र प्रहार करते हुए स्पष्ट लिखा है, 'यह हमारी ही कुवासनाएं हैं, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएं हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया। यह दाल मण्डी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिम्ब, हमारे ही अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हमारे समाज के दुराचार, अग्नि के समान हैं, और यह रमणियां तृण के समान हैं।[2] प्रेमचन्द तो इस बात के पक्ष में थे कि नारियों को समाज में सम्मानित स्थान मिले। उनका बराबर का अधिकार हो। वह आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनें और आश्रिता बनकर पुरुषों का न तो अत्याचार सहें और न दयनीय जीवन व्यतीत करें।

'ग़बन' (१९३०) में जालपा अपने पति से कहती है, 'तुम मनुष्य के रूप में राक्षस हो। तुम इतने नीच हो कि उसको प्रगट करने के लिए कोई शब्द नहीं है।'[3] प्रेमचन्द से पहले इस वाक्य की कल्पना एक पत्नी के मुख से की ही नहीं जा सकती थी। यह नया मूल्य था, जिसने स्त्रियों को अपना व्यक्तित्व दिया। नई चेतना दी तथा इस बात की सामर्थ्य भी कि वह अपने पति के अच्छे-बुरे काम नैतिक-अनैतिक कार्यों की स्पष्ट मीमांसा कर सकें। उसका नया चिन्तन तो यह था कि 'यदि मैं तुम्हारी आश्रिता हूं, तो तुम भी मेरे आश्रित हो, मैं जितना काम तुम्हारे घर में करती हूं,

---

१. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य (१९४७), बनारस, पृष्ठ ४।

२. प्रेमचन्द : सेवासदन (१९१७), बनारस, पृष्ठ २१३।

३. प्रेमचन्द : मंगलसूत्र (१९४६), बनारस, पृष्ठ १२।

उतना काम दूसरों के घर में करूं तो मैं अपना निर्वाह कर सकती हूं ।'[१] प्रेमचन्द ने अपने समय के समाज में उभरने वाले प्रगतिशील नैतिक मूल्यों का चित्रण किया है । उनकी पहचान बहुत गहरी है । नए नैतिक मानदण्डों का समर्थन करते समय उन्होंने भारतीय समाज की सही आवश्यकताओं एवं आदर्शों को उपेक्षित नहीं किया और उन्हीं नैतिक मूल्यों का समर्थन किया है, जो समाज के लिए उपयोगी थे । उन नए नैतिक मूल्यों का उन्होंने डटकर विरोध किया है, जो समाज में अनाचार, यौन स्वतन्त्रता या उच्छृंखलता के प्रसार की भूमिका निर्मित करते थे ।

विवाह संस्था को प्रसाद ने सबसे पहले चुनौती दी । उन्होंने विवाह आडम्बर एवं परम्परागत रूढ़ियों का विरोध किया और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अनुसार विवाह सम्बन्धी नैतिकता की नई व्याख्या की । 'कंकाल' (१६२६) में विजय कहता है, 'हृदय का सम्मिलन ही तो व्याह है । मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूं और तुम मुझे इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों - मन्त्रों का महत्व कितना ? झगड़े की, विनिमय की आवश्यकता रही, तो समर्पण कैसा ? मैं स्वतन्त्र प्रेम की महत्ता स्वीकार करता हूं, समाज न करे तो क्या ?'[२] इस प्रकार प्रेम और विवाह सम्बन्धी परम्परागत मान्यताएं शिथिल होने लगी थीं और उनके स्थान पर नए नैतिक मूल्य सामने आए, जिनपर पाश्चात्य विचारों का जबर्दस्त प्रभाव था और जिसने समाज में परिवर्तन की नई दिशाएं स्थापित कीं । 'चलते-चलते' (१६५१) में छोटी भाभी देवर से प्रेम करती है और पुरानी नैतिक मान्यताओं के प्रति विवशता स्पष्ट करते हुए कहती है, 'हम न कभी मिल पाए हैं, न मिल पाएंगे । हमारी सांसें, जो आती जाती हैं, अधूरी हैं । हमारे प्राण जो एक दिन शरीर में पहुंचे और एक दिन विदा लेते अन्तरिक्ष में लीन हो जाते, अधूरे हैं । हमारी भूख, प्यास, नींद, चलना-फिरना, रोना-गाना, तृप्ति-अतृप्ति, सन्तोष-आनन्द - सब अधूरा पड़ा है और अधूरा पड़ा रहेगा । मैं अधूरी की अधूरी चली जाऊंगी ।'[३] यही नहीं इस

---

१. प्रेमचन्द : गबन (१६३०), बनारस, पृष्ठ २८५ ।

२. जयशंकर प्रसाद : कंकाल (१६२६), इलाहाबाद, पृष्ठ १६२ ।

३. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : चलते-चलते (१६५१), दिल्ली, पृष्ठ ४०६ ।

उपन्यास में बड़ी भाभी समाज के नैतिक बन्धनों के शिथिल होने का संकेत देता है, जो पति को अपने सतीत्व का विश्वास दिलाती है, पर वासनापूर्ति के लिए साधन रामलाल को बनाती है ।

प्रेम सम्बन्धी नए दृष्टिकोण को उग्रने भी स्पष्ट किया है, जो जाति तथा धर्म के बन्धनों से मुक्त है । 'चन्द हसीनों के खुतूत' (१६२७) में नर्गिस अपनी मां को एक पत्र में लिखती है, 'औरत का दिल ऐसी चीज़ नहीं जिसे आज 'हिन्दू' तथा कल 'मुसलमान' को दिया जाए । सच्ची औरत अपना आका, अपना मालिक, अपना खुदा, एक बार चुनती है - हजार बार नहीं - मैंने उन्हें अपना मान लिया है और अब दुनियां की कोई ताकत उन्हें अलग नहीं कर सकती ।'[१] नर्गिस के प्रेम को मुरारी माता-पिता, जाति तथा धर्म से अधिक महत्व देता है और अपने प्राणों का उत्सर्ग करता है ।

पति-पत्नी के बीच सम्बन्धों की नई व्याख्या जैनेन्द्र कुमार ने की है । उन्होंने स्त्री धर्म को ही पति-पत्नी का धर्म माना और सेक्स सम्बन्धों की शिथिलता की बात उठाई । 'सुनीता' (१६३२) में सुनीता हरिप्रसन्न के प्रेम को अस्वीकार नहीं कर पाती । वह उससे कहती है, 'तुम्हें काहे की झिझक है ? मैंने कभी मना किया है ? मैं तो तुम्हारे सामने हूं । इन्कार कब करती हूं ? लेकिन अपने को मारो मत । हरि बाबू, मारो मत, कर्म करो : मुझे चाहते हो, तो मुझे ले लो ।'[२] उसके इस कर्म के पीछे पति श्रीकान्त की भी सहमति है, इसलिए मान्य एवं स्वीकृत नैतिक मान्यताओं को दाम्पत्य जीवन में चुनौती दी गई और उनके स्थान पर नए नैतिक मानदण्ड स्थापित हुए --'मैं स्त्री धर्म को पति धर्म ही मानती हूं । उसको स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती । क्या पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता, तब उस पर अपना भार डाले रहे ।'[३] मृणाल पतिव्रता स्त्री की नई व्याख्या करती है

----

१. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र : चन्द हसीनों के खुतूत (१६२७), दिल्ली, पृष्ठ ७१ ।

२. जैनेन्द्रकुमार : सुनीता (१६३२), बम्बई, पृष्ठ २३५ ।

३. जैनेन्द्रकुमार : त्यागपत्र (१६३७), बम्बई, पृष्ठ ५१ ।

नितान्त आधुनिक और उसी के अनुसार आचरण करती है । जैनेन्द्र का विश्वास है - 'घर-गृहस्थी' में यहां का व्यक्ति अब तक जुता है और भारतीय नैतिकता उस परिधि में घेर कर उसे बन्द और निस्पन्द किए जा रही है । अब पारिवारिक नई सामाजिक संस्कृति चाहिए । हम छोटे छोटे स्वार्थों के भंवरों में चकराते रह जाते हैं, बढ़ नहीं पाते, बिखरे बने रहते हैं । राष्ट्र में होकर सहज इकट्ठे नहीं हो पाते मूल में हैं इसके हमारा विवाह, जो प्यार को बांधता है, खोलता नहीं ।'[1] इस प्रकार जैनेन्द्रकुमार स्वतन्त्र अस्तित्व एवं स्वच्छन्द जीवन से युक्त नैतिकता की मांग करते हैं क्योंकि बन्धन व्यक्ति को जकड़ते हैं और वह अपनी उपयोगिता खो बैठता है । यशपाल के लिए नैतिकता मार्क्सवाद के आधार पर निश्चित होती है, जहां स्त्री किसी एक पुरुष की सम्पत्ति बनके नहीं रह सकती, क्योंकि प्रतिव्रता बनना उसका शोषण करना है, उनका विचार है, 'नैतिकता डर या लिहाज को नहीं कहना चाहिए । हमारी औचित्य और अनौचित्य सम्बन्धी धारणाएं ही नैतिकता होती हैं अपने दु:ख की अनुभूति दूसरों के दु:ख के लिए विह्वलता अनुभव करना अनैतिकता है ? दूसरे की विह्वलता में सान्त्वना और सहायता दे सकने की इच्छा से विवश हो जाना अनैतिकता है? परस्पर सहारा न बनना ही अनैतिकता है । परस्पर सहारा बनना ही प्रेम होता है, उसे स्वार्थ या धोखा नहीं कहा जा सकता ।'[2] यशपाल प्रकारान्तर से यौनाचार की स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता को ही नया नैतिक मानदण्ड मानते हैं, जो उनके अनुसार आज के मानव जीवन का अनिवार्य मानदण्ड है प्रेम अथवा दाम्पत्य निष्ठा की वे परम्परागत धारणाओं एवं संस्कारों को देखने के पक्षपाती नहीं हैं । 'दादा कामरेड' में शैला 'देशद्रोही' में राज, 'मनुष्य के रूप' में मनोरमा, 'झूठा सच' में जयदेव, शीलो, 'बारह घंटे' में बीनी आदि के आचरण को वे अपने इसी नैतिक मानदण्ड पर न्यायसंगत ठहराते हैं । वे केवल एक चीज़ अनैतिक मानते हैं । वह है समाज का भय । वे यौन सम्बन्धी नैतिकता को मानसिक बन्धन तथा शारीरिक बन्धन के अन्तर्गत मानते हैं, क्योंकि

----

१. जैनेन्द्रकुमार : सुखदा (१६५५), दिल्ली, पृष्ठ १११ ।

२. यशपाल : बारह घंटे (१६६३), लखनऊ, पृष्ठ १०३ ।

शरीर उपभोग की वस्तु है । अत: उस पर एक व्यक्ति का अधिकार अनैतिकता है, शारीरिक सुख प्राप्त होना चाहिए, चाहे वह जहां और चाहे जिससे । यशपाल इसी को नैतिकता मानते हैं और इसीलिए विवाह को अर्थहीन बन्धन माना है ।

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर भी सामाजिक व्यवस्था एवं परम्परागत मूल्यों के प्रति विद्रोह करता है । वह मात्र बौद्धिक और चेतन मन का विद्रोह होता है । उसे युगीन नैतिकता स्वीकार नहीं होता । जो लोग शेखर के अनैतिक मानते हैं, उन्हें उत्तर देते हुए अज्ञेय ने लिखा है, 'नैतिक रूढ़ियां जिस तेजी से इस युग में टूटी हैं, वह बहुत दिनों से नहीं देखी होगी । जब नैतिकता के पुराने आधार नहीं रहते तो मानव कैसे नैतिक बना रह सकता है, या रह सके ।'[1] शेखर जीवन एवं समाज में प्रत्येक स्तर पर विद्रोह करने का प्रयत्न करता है । वह अपनी बहन शशि से प्रेम करता है, 'यदि कोई किसी का है तो वह उसकी अपनी बुद्धि का । मनुष्य को उसके सहारे चलना है, उसी के सहारे जीना है ।'[2] जब वह समाज की प्रचलित मान्यताओं एवं स्वीकृत नैतिक परम्पराओं से लक्षित होता है तो उसका विद्रोह और भी तीव्रतर होता है - 'मैं अपने समाज की अपने आसपास के जीवन के अंगों की व्यवस्था बदल देने का व्रत ले रहा हूं, यह तो आप मानेंगे कि परिवर्तन आवश्यक है ?'[3] इस प्रकार शेखर एक नई सामाजिक व्यवस्था के प्रति प्रयत्नशील होता है, जिसमें जीवन प्रत्येक बन्धनों से मुक्त हो सके । इस नवीन नैतिक मानदण्ड का चरम रूप 'नदी के द्वीप' में भुवन का रेखा और गौरा के साथ सम्बन्धों में परिलक्षित होता है ।

आर्थिक विवशताओं और भौतिक म आवश्यकताओं ने प्रचलित नैतिक मान्यताओं का सारा रूप ही बदल दिया । प्रेम विवाह तथा परिवार की पुरानी मान्यताएं अब नहीं रही हैं । 'दुनिया में प्रेम है कहां ? जोकुछ है वह पैसा है । पैसा सब कुछ खरीद सकता है - मनुष्य की आत्मा तक रु० ही शक्ति है, रुपया ही मुक्ति है और प्रेम

---

१. अज्ञेय : आत्मनेपद (१९६२), बनारस, पृष्ठ ६७ ।
२. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (प्रथम भाग १९४०), बनारस, पृष्ठ १०० ।
३. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (द्वितीय भाग १९४४), बनारस, पृष्ठ १३८ ।

ढकोसला ।'[१] सरोज प्रभा और रमेश का प्रेम प्रसंग उसे प्रमाणित करता है । 'आखिरी दांव' (१६५०) में रामेश्वर और चमेली के जीवन की भी यही परिणति होती है और रामेश्वर विवश होकर कहता है, 'हम सब पैसे के गुलाम हैं, धन हमारा ईश्वर है, हमारा अस्तित्व है । इस पैसे की दुनिया में न पाप है, न पुण्य, न प्रेम, है न भावना, जो कुछ है वह धन है, जिसके पास पैसा है, सब कुछ खरीद सकता है । रूप, यौवन, शरीर आत्मा । सब बेच रहे हैं अपने को, धन के पिशाच के हाथों । चमेली हम दोनों भी इस पिशाच के हाथों बेच चुके हैं ।'[२] अकेले रामेश्वर और चमेली ही नहीं, राधा, जगमोहन और किशोर भी पराजित होते हैं । भगवती बाबू का स्पष्ट मत है कि आज केवल पैसा ही नैतिकता, अन्य सभी चीज़ें अनैतिक हैं, यह धन ही है जिसके कारण स्त्रीत्व, मर्यादा, पत्नीत्व की नैतिक मान्यताएं खोखली जान पड़ने लगी हैं -- 'आबरू नाम की कोई चीज़ उनके पास नहीं रह गई थी । उनकी बहू बेटियां भी खुले आम धर्मशालाओं और अनाथालयों में भेजी जाने लगी थीं । हर एक के घर का राज़ अच्छी तरह जानता था, फिर भी आबरू शब्द की रक्षा बराबर की जा रही थी ।'[३] जिस प्रकार से अकेले तुलसी ही नहीं बिकती, वरन् उस जैसी असंख्य स्त्रियों की पवित्रता लुट जाती है, वह जर्जर नैतिक मान्यताओं और परम्पराओं का समर्थन करना बुद्धिजीवि के लिए सम्भव नहीं । व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार करने का अर्थ उन नैतिक मान्यताओं का समर्थन होगा, जिसमें समाज नष्ट हो जाएगा - 'कुटुम्ब व्यक्तिगत प्रेम से बड़ी वस्तु है । वैवाहिक कुटुम्ब समाज को सुसम्बद्ध बनाए रखने के लिए एक शक्तिशाली परम्परा है, व्यक्तिगत प्रेम से समाज के बन्धन ढीले पड़ जाएंगे । कुटुम्ब की भावना नष्ट हो जाएगी ।'[४] उन्हीं नैतिक मान्यताओं को स्वीकार करना उपयोगी होगा, जिनसे समाज की भावना भी बनी रहे और व्यक्ति की मर्यादा भी ।

----

१. भगवतीचरण वर्मा : तीन वर्ष (१६४६), इलाहाबाद, पृष्ठ २०४ ।

२. भगवतीचरण वर्मा : आखिरी दांव (१६५०), इलाहाबाद, पृष्ठ २२८-२६ ।

३. अमृतलाल नागर : महाकाल (१६४८), इलाहाबाद, पृष्ठ २११ ।

४. अमृतलाल नागर : बूंद और समुद्र (१६५६), इलाहाबाद, पृष्ठ ५१८ ।

इसके विपरीत जो नया समाज सामने आ रहा है, वह समझता है, 'सतीत्व क्या है ? कुछ नहीं... पाप क्या है ? पुण्य क्या है ?... भूख लगती है वैसे ही देह की भूख है।'[1] यह केवल बांके बिहारी की विचारधारा नहीं, आज के अधिकांश नवचिन्तन से प्रभावित लोगों की विचारधारा है, जो अनुशासन का बन्धन किसी भी रूप में स्वीकार करना नहीं चाहते। उन्हें यौन स्वतन्त्रता चाहिए क्योंकि प्रेम-विवाह सभी पुरानी मान्यताएं हैं। जिसका विरोध करना चाहिए क्योंकि यही आधुनिकता है।लोगों का भौतिकवादी दृष्टिकोण इतना विकसित हो गया है कि वे सोचते हैं - 'स्त्री पुरुष कासम्बन्ध शारीरिक सम्बन्ध है - शुद्ध भौतिक। उसका रोमांस उसकाड्रामा सब शरीर तक सीमित है।'[2] उसका आधार भी क्या हो सकता है, शरीर अथवा रक्त की क्षुधा के बाहर प्रेम की खोज आकाश कुसुम की गवेषणा से कम हास्यास्पद नहीं है।'[3] इस प्रकार आज की नई नैतिक मान्यताओं में कोई विद्रोह की सम्भावना से नहीं घबराता और न कोई पाप पुण्य की प्रचलित धारणाओं का कमाल है। लेकिन यह धारणा बिलकुल गलत है। इससे हमारे चरित्र में अन्तर्विरोध उत्पन्न होता है और हम टूटते हैं। 'हम सभी आधुनिक हैं, बीसवीं सदी के रहने वाले इस देश में आधुनिक होने का एक विचित्र अर्थ समझा जाता है। लोग समझते हैं आधुनिकता के माने हैं कुछ असुविधाजनक पुरानी मान्यताओं को त्याग देना। हम आधुनिक हैं, इसलिए हमें न नैतिकता से कोई सम्बन्ध रखना चाहिए, न रिलीजन से। जैसे इन चीज़ों का जीवन के यथार्थ और उसकी जरूरतों से कोई सम्बन्ध नहीं है।'[4] आज परम्परागत नैतिक मान्यताओं को लेकर मन में जो द्वन्द्व है, वह श्रेयस्कर नहीं है। हमारी दृष्टि साफ एवं दृढ़ होनी चाहिए। नई नैतिकता की प्रतिष्ठा करने में गहरी अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होगी, उधारली हुई पश्चिमी दृष्टि की नहीं। ऐसा करते समय हम अपने समाज के परम्परागत आधार और सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते।

---

१. फणीश्वरनाथ रेणु : दीर्घतपा (१९६३), दिल्ली, पृष्ठ ४४।

२. देवराज : पथ की खोज (१९५१), लखनऊ, पृष्ठ ५।

३. वही, पृष्ठ ३७५-७६।

४. देवराज : अजय की डायरी (१९६०), दिल्ली, पृष्ठ २२८।

वर्तमान परिस्थितियों में नैतिकता के सारे सन्दर्भ भी जैसे बदल गए हों - नैतिकता है क्या ? आदर्श न ? भाई जब आदमी फ्रस्ट्रेटेड रहता है तो उसे प्रत्येक चीज अनैतिक दिखाई देती है । पर आदमी जब किसी जगह पहुंच जाता है, तो आज की स्थिति में सफल बनने के लिए उसे अपनी आत्मा के निर्मम हत्या पहले करनी पड़ती है, फिर वह जो कुछ भी करता है, सब नैतिक होता है । भिन्न-भिन्न कार्यों के साथ नैतिकता के मानदण्ड परिवर्तित हो जाते हैं । इसीलिए नैतिकता इतनी लचीली है...[1] आज नैतिकता के जो सन्दर्भ जिस प्रकार परिवर्तित हुए हैं, उन्हें यह कथन भली भांति स्पष्ट करता है । इस प्रकार सभी प्रमुख उपन्यासकारों ने इस महत्वपूर्ण समस्या पर अपने विचार प्रकट किए हैं और गहराई में जाकर नैतिकता के उन्हीं नए सन्दर्भों का समर्थन किया है जो वर्तमान परिस्थितियों में समाज केलिए उपयोगी हैं । प्रेमचन्द का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में आदर्शवादी था । जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, और अज्ञेय ने नैतिकता का सम्बन्धी स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों एवं यौन स्वतन्त्रता से जोड़कर उसे संकीर्ण बना दिया है । इसके विपरीत अमृतलाल नागर भगवती चरण वर्मा, सुरेश सिनहा तथा फणीश्वरनाथ रेणु आदि उपन्यासकारों ने खोखली एवं जर्जर, नैतिक मान्यताओं परप्रहार करते हुए उस नए नैतिक मानदण्डों की स्थापना का प्रयत्न किया, जो आधुनिक सन्दर्भों में व्यक्ति की आकांक्षाओं की रक्षा करते हुए उसे उच्छृंखल न बना दे और दूसरी तरफ समाज के परम्परागत आधारों एवं सांस्कृतिक मूल्यों की पूर्ण उपेक्षा भी न कर दें ।

● व्यक्ति स्वातंत्र्य बनाम निष्क्रियता

व्यक्तिवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल देता है, व्यक्तिवाद समाज को अस्वीकृत करता है और प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग इकाई के रूप में स्वीकार करता है जिनका आपस में कोई सम्बन्ध नही होता । इन व्यक्तियों की प्राचीन परम्परा से अलग रहने की प्रवृत्ति होती है,वह व्यक्ति की एकान्तिकता का चित्रण करते हुए समाज के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण का प्रसार करता है । व्यक्ति पर किसी प्रकार का अनुशासन

----

१. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ ३८७ ।

नहीं होना चाहिए । समाज को व्यक्तियों ने मिलकर बनाया है । इसलिए उसे इस बात का अधिकार नहीं कि वह व्यक्ति की गतिविधियों को नियंत्रित करे । उसकी सत्ता नगण्य है । व्यक्ति अपने व्यवहार एवं मार्ग का निर्धारण स्वयं कर सकता है । उसे न तो किसी निर्देश की और न किसी आचार-संहिता की आवश्यकता है ।

इस प्रकार व्यक्तिवाद समाज को निरंकुश स्वीकार करते हुए उसकी निरंकुशता से व्यक्ति को स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न करता है । वह व्यक्ति को प्रत्येकप्रकार के बन्धनों से मुक्त देखना चाहता है । वह ध्वन्सोन्मुख समाज की पलायनवादी प्रवृत्ति का प्रतीक बनकर आगे अग्रसर होता है और मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया का स्वरूप बन जाएगा । इसके फलस्वरूप उसका चरित्र अन्तर्मुखी बन जाता है । व्यक्तिवाद में ही व्यक्ति को समाज से दूर कर उसे पलायनवादी बनाया है । व्यक्तिवाद के चरम सीमा पर व्यक्ति अहंवादी बन जाता है और समाज के प्रत्येक मान्यताओं के प्रति विद्रोह करना ही उसके जीवन का आदर्श बन जाता है । इससे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना का जन्म होता है और व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध शिथिल पड़ जाते हैं ।

कंकाल (१६२६) में जयशंकर प्रसाद ने पहली बार समाज की शून्य सत्ता और व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना का उद्घोष किया । इस उपन्यास के प्रत्येक पात्र सामाजिक मान्यताओं के प्रति तीव्र विद्रोह भावना लिए स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए प्रयत्नशील लक्षित होते हैं । वे 'हत्यारे समाज'[१] की चिन्ता नहीं करते और स्वतन्त्र सम्बन्धों एवं स्वच्छन्द जीवन को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं । 'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय ने व्यक्तिवादी जीवन दर्शन को व्यापक सन्दर्भों में चित्रित किया है । शेखर आजकल समाज को महत्व नहीं देता । वह व्यक्ति को ही सर्वोपरि मानता है क्योंकि "ऐसा हो सकता है कि व्यक्ति को समाज की तत्कालीन मान्यताएं गलत और साध्य जान पड़ें, जैसे कि ऐसा भी होता है कि समाज को व्यक्ति के विचार या आचरण खतरनाक जान पड़ें । तब टकराहट होती है या नया सन्तुलन होता है या

---

१. जयशंकर प्रसाद : कंकाल (१६२६) इलाहाबाद, पृष्ठ ४१ ।

कोई टूटता है या कि बहिष्कृत होता है या डर जाता है।'[१] शेखर के समय के समाज की स्थिति संक्रमणशील थी। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण व्यक्ति अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता भी चाहता था, पर भारतीय संस्कृति के मोह के कारण वह समाज सम्बन्ध को विच्छिन्न भी नहीं करना चाहता। लेकिन अन्ततोगत्वा वह अपने को इस द्वन्द्व की स्थिति से मुक्त कर लेता है और समाज के प्रति विद्रोह करता है - और क्रमशः शेखर ने पाया कि वह एक नए जीवन में प्रवेश कर रहा है, समाज के प्रति उसका विद्रोह भाव उग्र तो उतना ही है किन्तु समाज के प्रति उतना न होकर एक नया रूप ले रहा है। एक अमूर्त भावना का विरोध बनता जा रहा है।'[२] धीरे धीरे वह व्यक्तिवादी धारणाओं के प्रति इतना आसक्त हो जाता है कि अन्त में कहता है, 'धिक्कार समाज की उन न्यूनताओं को, जो यौवन की शक्ति के खण्डन का अपराध करती हैं। धिक्कार समाज के उस मिथ्या को, जो जीवित सत्य से हमें भ्रष्ट करता है।'[३] इस प्रकार वह व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार करते हुए समाज की उन संकीर्ण मनोवृत्तियों, विचारों तथा रूढ़ियों का विरोध करता है जो समाज को भी भ्रष्ट करती हैं और व्यक्ति की हत्या भी। उसका विश्वास है कि समाज एक चेतनशील व्यक्ति के मनोभावों को कुचलकर सदा के लिए विकलांग बना देते हैं। उसकी वैयक्तिकता समाप्त हो जाती है।

'नदी के द्वीप' (१९५१) में रेखा और भुवन भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हैं। भुवन के साथ अनैतिक सम्बन्ध रखने के कारण रेखा गर्भवती हो जाती है। भुवन उसकी मर्यादा की रक्षा के लिए विवाह प्रस्ताव रखता है और वह ठुकरा देती है। वह सोचती है -'आई एम फुलफिल्ड' - वह भुवन से कहती है -'तुम समाज की दृष्टि से देखते हो, वह दृष्टि गलत नहीं है, अप्रासंगिक भी नहीं है, निर्णायक भी नहीं है। व्यक्ति को दबाकर इस मामले का जो भी निर्णय होगा, गलत होगा - घृण्य होगा। असह्य होगा।'[४] भुवन भी सोचता है कि उसके कर्म का सामाजिक व्यवहार

---

१. अज्ञेय : आत्मनेपद (१९६२), बनारस, पृष्ठ ७६।

२. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (दूसरा भाग - १९४४), बनारस, पृष्ठ १४२।

३. वही, पृष्ठ ४१।

४. अज्ञेय : नदी के द्वीप (१९५१), बनारस, पृष्ठ २१५।

का नियमन समाज करे पर उसके अन्तर्गत जीवन का नहीं । व्यक्ति को समाज के लिए अपनी बलि नहीं देनी चाहिए - 'समाज के डर से जो व्यक्ति अपनी आंतरिक इच्छा पूर्ण करने के लिए आगे नहीं बढ़ता, क्या वह अपनी ही मानसिक विकृति का कारण बनकर केवल अपने प्रति ही अन्याय करता है, समाज के विकास में अवरोध नहीं डालता, उसकी प्रगति में बाधा नहीं उपस्थित करता ।'[1] व्यक्तित्व का यह विघटन केवल कुंठा ही उत्पन्न करेगा जो किसी भी दृष्टि से लाभप्रद नहीं है । यह भावना व्यक्तिवाद की ही देन है । उसे स्वच्छन्द प्रेम पर बल देता है ।

'त्यागपत्र' (१९३७) में मृणाल समाज को नहीं तोड़ना चाहती । समाज से अलग वह व्यक्ति की समस्याओं का समाधान खोजती है । समाज से उसका कोई सम्बन्ध नहीं । वह सोचती है, 'मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूं । समाज टूटा तो फिर हम किसके भीतर बनेंगे ? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे ? इसलिए मैं इतना ही कह सकती हूं कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती हूं ।'[2] यह व्यक्तिवादी जीवन दर्शन है । मृणाल की आत्म वेदना और आत्मघाती जीवनदर्शन समाज की मान्यता पर जबर्दस्त प्रहार है और उसकी सत्ता को चुनौती है । उसका विद्रोह व्यक्ति के लिए है, समाज के लिए नहीं । 'थके पाव' (१९६३) में केशव भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की बात करता है - 'विवाह करना परिवार को एकत्रित करना - इनके साथ ही देने का क्रम आरम्भ हो जाता है । आदमी अकेला तो लड़ सकता है लेकिन आश्रितों का दल लेकर परिस्थितियों से लड़ना उसके लिए असम्भव है ।'[3] भगवतीबाबू इसी लिए वैयक्तिक स्वातंत्र्य पर बल देते हैं । वे व्यक्ति के विकास की समस्या को मूल समस्या मानते हैं। उन्होंने व्यक्ति के विकास के लिए व्यक्ति के स्वच्छंद रोमांटिक प्रेम की उद्भावना अपने सभी उपन्यासों में की है ।

'एक और अजनबी' (१९६३) में मीनल का सारा विद्रोह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की भावना पर ही आधारित है । वह सोचती है, 'मन में तो परिवर्तन चाहती हूं । इस सारी

----

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : चलते-चलते (१९५१), दिल्ली, पृष्ठ १७५ ।

२. जैनेन्द्रकुमार : त्यागपत्र (१९३७), बम्बई, पृष्ठ ६० ।

३. भगवतीचरण वर्मा : थके पांव (१९६३), देहरादून, पृष्ठ १०९ ।

व्यवस्था में परिवर्तन होना होगा । इन छल भरी मृगतृष्णाओं का अस्तित्व मिटाना होगा ।"[1] एक अन्य स्थान पर वह कहती है, "मैं तो बस सोचती हूं क्या समाज व्यक्ति से इतना बड़ा है - कि व्यक्ति उसके सामने माथा टेक दे ? व्यक्ति के सामने समाज का कौन सा स्वतन्त्र अस्तित्व हो सकता है, जबकि उसे व्यक्तियों ने ही मिलकर बनाया है । व्यक्ति न रहेंगे तो यह समाज कहां होगा ? फिर मैं पूछती हूं कि उस समाज से व्यक्ति क्यों इतना भयभीत होता है ? समाज को व्यक्ति के अनुरूप ही बनना होगा, न कि यह समाज व्यक्ति पर अनुशासन करेगा इस समाज को आग लगा देना होगा । हमें तो ऐसे समाज की रचना करनी होगी जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच कोई दूरी न हो । हर व्यक्ति की पहुंच समाज तक हो ।"[2] समाज के बन्धनों तथा मूल्यों के प्रति लेखक की उग्र विद्रोह-भावना का हो परिणाम है । इस उपन्यास में व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के आधार पर पीड़ित एवं शोषित नारी की वेदना का करुण चित्रण हुआ है । नैतिकता तथा अनैतिकता को इसमें नवीन कसौटी पर परखने की चेष्टा की गयी है तथा सामाजिक बन्धनों एवं वैयक्तिक आकांक्षाओं का मूल्य आंका गया है । लेकिन लेखक ने मीनल तथा समाज के माध्यम से सामाजिक मान्यताओं की अपेक्षा वैयक्तिक मूल्यों की अभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया है । मीनल के रूप में एक भयानक तथा हृदय को त्रस्त कर देने वाली आज के नारी जीवन की दु:खान्त विभीषिका के रूप में उपस्थित किया है, यह उपन्यास प्रचलित सामाजिक विधान पर तीखा व्यंग्य है ।

आज के हिन्दी उपन्यासों का मूल स्वर वैयक्तिक है । इधर जितने भी उपन्यास आ रहे हैं, उनमें वैयक्तिक स्वातंत्र्य की भावना पर ही बल दिया गया है । मोहन राकेश का 'अन्धेरे बन्द कमरे' (१९६१), उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं... राधिका' (१९६८), मन्नू भंडारी का आपका बंटी (१९७१) आदि उपन्यास इसी कोटि में आते हैं, जिसमें व्यक्ति के पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग की गई है, पर इनमें अधिकांश रूप में व्यक्ति की कुंठा एवं घुटन ही अभिव्यक्ति पा सकी है । ये उपन्यासकार

----

१. सुरेश सिनहा : एक और अजनबी (१९६३), देहरादून, पृष्ठ १०१

२. वही, पृष्ठ ५७ ।

जिस स्वतंत्रता की बात करते हैं, वह यौनाचार तक सीमित है, जो व्यक्ति को उत्तरदायित्व से मोड़कर पथभ्रष्ट एवं उच्छृंखल बनाता है । इन लेखकों ने व्यक्तिवादी जीवनदर्शन को इतना आरोपित कर दिया है कि व्यक्ति निष्क्रिय हो गया है और उसका अर्थ केवल स्त्री पुरुष सम्बन्धों तक ही सीमित रह गया है ।

● मानव-मुक्ति और समानता के कृत्रिम शिखर

मार्क्सवाद समाज और उसकी समष्टिगत चेतना से सम्बन्धित है । वह समाज में वर्ग संघर्ष पर बल देता है । एक वर्ग पूंजीपतियों और बुर्जुआ लोगों का है, दूसरा सर्वहारा लोगों का । एक के हाथ में सत्ता एवं अधिकार है, इसलिए वह शोषण करता है । दूसरा वर्ग अधिकारशून्य है, इसलिए वह शोषित है । यह शोषण प्रकृति के स्वाभाविक मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है और समाज में वर्ग वैषम्य होता है । इस वर्ग वैषम्य को दूर करने के लिए सर्वहारा वर्ग में क्रान्ति होनी चाहिए - भले ही वह रक्तपूर्ण हो, जिससे पूंजी पर एकाधिकार समाप्त हो सके उत्पादन एवं वितरण की व्यवस्था समानता के आधार पर हो, औद्योगिक एवं प्रतिष्ठानों में श्रमिकों का प्रबन्ध हो ।

१९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ मार्क्सवाद का प्रभाव हिन्दी उपन्यासों पर लक्षित होता है । यद्यपि प्रेमचन्द मार्क्सवाद की कतिपय विशेषताओं का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है, पर उन्हें भारतीय पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक आधार पर, जिन्हें हम प्रगतिशील कह सकते हैं, प्रेमचन्द मार्क्सवादी लेखक नहीं हैं । इस दृष्टि से यशपाल शुद्ध मार्क्सवादी उपन्यासकार हैं । मार्क्सवादी ने जिस समाज व्यवस्था का उल्लेख किया है, उसके अनुसार भौतिक जगत का अस्तित्व मनुष्य जगत की चिन्तन की परिधि से मुक्त है । भौतिक शक्तियां मानव चेतना को नवीन आयाम देती हैं ।[१] इस प्रकार भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ मानव स्वयं अपने में परिवर्तन लाता है । विश्व की एकता इसलिए नहीं है कि विश्व है ।

---

१. रैल्फ फाक्स : नावल एण्ड द पीपुल (१९४८), मास्को, पृष्ठ १०५ ।

वरन् निरन्तर गतिशील होना है । मार्क्स की धारणा है कि यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है अर्थात् विश्व स्थिर नहीं, गतिशील है ।

मार्क्स के अनुसार मनुष्य जीवन को कोई शक्ति नियंत्रित नहीं कर सकती । मनुष्य स्वयं अपने इतिहास एवं भाग्य का निर्माण करता है । हिन्दी में मार्क्सवादी प्रभाव लेकर जो उपन्यास लिखे गए हैं, उनके पीछे मूल दृष्टि यह रही है कि मानव जीवन में आर्थिक विपन्नता के कारण जीवन धारण के तत्वों का अभाव हो जाता है । भौतिक जीवन का यह अभाव व्यक्तित्व को अत्यन्त संकीर्ण, निष्प्राण और रुद्ध कर देता है, जिससे नैतिक मान्यताओं एवं चारित्रिक मूल्यों का अवमूल्यन हो जाता है । खेद की बात है कि यशपाल, राहुल, नागार्जुन, तथा राजेन्द्र यादव आदि के उपन्यासों में जिस वर्ग संघर्ष एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का चित्रण हुआ है उसकी परिधि अत्यन्त सीमित है । उनके पात्र एक ओर पूंजीवाद से संघर्ष करते हैं, तो दूसरी तरफ निहलिस्ट दर्शन से प्रभावित होकर अपनी काम कुंठाओं से भी । वे सभी यौन भावना के शिकार होते हैं और वर्ग संघर्ष तथा क्रान्ति आदि की बातें खोखली सिद्ध हो जाती हैं, विजय होती है कामजन्य परिस्थितियों की, जिन के सामने इन पात्रों को नतशिरहोना पड़ता है । मार्क्सवादी प्रभाव कोलेकर लिखे गए किसी हिन्दी उपन्यास में यह अन्तर्विरोध बड़ी स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है । उनमें ऊपर से तो आस्था रहती है एवं जिजीविषा दृष्टिगोचर होती है, पर भीतर से वे काम लोलुपता, घुटन एवं कुंठा में जीवन जीते रहते हैं ।

यशपाल ने एक स्थान पर लिखा है, "हमारा आदर्श समाज में ऐसी अवस्था प्राप्त करना है जिसमें मनुष्य शिष्णोदार की अतृप्ति और तृष्णा से पशु न बना रहे और मनुष्य समाज श्रेणियों और राष्ट्रों के संघर्ष से आत्महत्या न करता रहे ।"[1] एक अन्य उपन्यास में हरीश अदालत में जज से कहता है, "हमारा विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने परिश्रम के फल पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए । एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से, एक श्रेणी दूसरी श्रेणी से, एक देश दूसरे देश से उनके परिश्रम का

---

१. यशपाल : देशद्रोही (१९४३), लखनऊ, पृष्ठ ६ ।

का फल छीन ले तो यह अनुचित है, अन्याय है, अपराध है । यह समाज में होने वाली भयंकर हिंसा और डकैती है ।[१] इस प्रकार यशपाल मार्क्सवाद के समर्थन में एक ओर पूंजी के समान वितरण एवं समाज में एकीकरण की बात करते हैं, तो दूसरी ओर काम-कुंठित पात्रों का विशद चित्रण करते हैं, जिसका चरम उदाहरण 'क्यों फंसे' (१९६८) है, जिसमें कामजन्य परिस्थितियों का इतना अधिक चित्रण किया गया है कि यशपाल की कलात्मकता में सन्देह होने लगता है । प्रतीत होता है कि यशपाल की औपन्यासिक यात्रा कार्ल मार्क्स से प्रारम्भ होकर वात्स्यायन तक समाप्त हुई है ।

● अस्तित्व की चेतना बनाम कटे हुए संदर्भ

अस्तित्ववाद मनुष्य की पूर्ण स्वतन्त्रता पर बल देता है । मनुष्य का इस संसार में कोई अर्थ नहीं है । वह एक फेंके गए पत्थर के समान है, जिसे जो चाहे, जहां फेंक सकता है, उसके चारों तरफ कुछ नहीं, एक विराट शून्य है । अत: व्यक्ति को अपने अस्तित्व के प्रति हर क्षण सचेत रहना चाहिए, अन्यथा उसकी सत्ता समाप्त हो जाएगी और उसका कोई अर्थ नहीं रहेगा । अस्तित्ववाद का प्रारम्भ मनुष्य के जीने की इच्छा एवं अपनी पूर्ण सत्ता बनाए रखने की भावना से प्रारम्भ होता है ।वह इस बात की चेतावनी देता है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता खतरे में है और उसका किसी भी क्षण अपहरण हो सकता है । मनुष्य प्रत्येक क्षण सावधान रहकर ही इस स्वतन्त्रता की रक्षा करता है । उसकी स्वतन्त्रता व्यक्तिगत सत्ता एवं अस्तित्व को इस संसार में जबर्दस्त चुनौती दी जा रही है, ऐसे में उसका सोए रहना चिन्ताजनक है । उसे यह समझना होगा कि मनुष्य होने का वास्तविक अर्थ क्या है ।

अस्तित्ववाद एक दर्शन नहीं, वरन् परम्परागत दर्शन के प्रति विद्रोह का प्रतीक

---

१. यशपाल : दादा कामरेड (१९४१), लखनऊ, पृष्ठ १७५ ।

है ।[1] जूलियन वेन्द्रा ने इसे भाव तथा विचार के प्रति जीवन का विद्रोह कहा है । एमानुएल मैनियर के अनुसार भावों तथा भावों वस्तुओं के अतिवादी दर्शन के विरोध में मानवीय दर्शन ही अस्तित्ववाद है । एलेन के अनुसार अस्तित्ववाद परम्परागत दर्शक की दृष्टि न होकर अभिनेता की दृष्टि है । ज्यां पाल सार्त्र के अनुसार एक व्यक्ति दूसरे को केवल वस्तु रूप में नहीं वरन् विषयी के रूप में अर्थात् कर्ता या भोक्ता के रूप में जानता है । एक व्यक्ति स्वयं अपना ही विषय नहीं होता । वह कहता है कि स्वतन्त्रता ही मनुष्य का स्वभाव है और उसी में मनुष्य की सत्ता सुरक्षित रहती है । वह आध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनों के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा करता है । व्यक्ति अपने भविष्य का निर्माता स्वयं है । अस्तित्ववाद में क्षण की महत्ता अधिक है । वह नीत्शे की इस विचारधारा का समर्थन करता है कि ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है । धर्म कायरता है । अत: अविश्वसनीय है ।

हिन्दी में शुद्ध रूप से अस्तित्ववादी प्रभाव को लेकर अभी कोई कृति नहीं लिखी गई है, पर ऐसे अनेक उपन्यास हैं - अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'अपने अपने अजनबी', देवराज का 'पथ की खोज', 'अजय की डायरी', सुरेश सिनहा का 'एक और अजनबी', 'सुबह अन्धेरे पथ पर', 'पत्थरों का शहर', निर्मल वर्मा का 'वे दिन', मोहन राकेश का 'न आने वाला कल', तथा इलाचन्द्र जोशी का 'ऋतु चक्र' - जिनपर अस्तित्ववाद का आंशिक प्रभाव लक्षित होता है । इनमें अनेक उपन्यास ऐसे भी हैं, जिनमें अस्तित्ववाद का खण्डन किया गया है । निर्मल वर्मा और मोहन राकेश को छोड़कर शेष सभी उपन्यासकारों ने भारतीय परिवेश को महत्व दिया है और अस्तित्ववाद की उन्हीं विशेषताओं का चित्रण किया है, जो भारतीय समाज की अपनी विचारधारा के अनुकूल हों । 'शेखर : एक

---

१. काफ मैन : एग्जीस्टेन्शियलिज्म फ्राम दास्तावस्की टू सार्त्र (१९६२), न्यूयार्क, पृष्ठ ८६ -- "Existentåalism is not a philosophy but a lavel for several widely different revolts against philosophy."

जीवनी' में शेखर धर्म को नहीं मानता । माता पिता के साथ मन्दिर जाकर भी वह मन्दिर में अन्दर नहीं जाता और कहता है, 'मैं ईश्वर को नहीं मानता । मैं प्रार्थना भी नहीं मानता । भवानी झूठी है । ईश्वर झूठा है, ईश्वर नहीं है ।'[१] इसी प्रकार 'नदी के द्वीप' (१९५१) में चन्द्रमाधव दूसरे बच्चे के बाद गृहस्थी से टूट जाता है । वह पत्नी व तथा बच्चों को छोड़कर अपनी स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व की रक्षा के लिए चला जाता है ।[२] 'पथ की खोज' व (१९५१) में साधना अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए संघर्ष करती है[३] और उसकी रक्षा के लिए विद्रोह भी करती है । 'अजय की डायरी' (१९६०) में अजय संसार की शून्यता एवं समाज की चुनौती, रूढ़ियों एवं आडम्बरों की शक्ति के सामने अपने असहाय अस्तित्व को देखकर चिन्तित हो उठता है -- 'पचास बरस, मैं सोचने लगा था, सचमुच ५० बरस के बाद यह रूढ़ियां नहीं रहेंगी । लेकिन तब तक हम भी कहां रहेंगे ? ओह ! वह ५० वर्ष बाद का समय हमारे लिए नहीं है, वह समय, शायद हमारे अस्तित्वों की धूल पर अपनी उदारता के फूल चढ़ाएगा ।'[४] अजय की यह चिन्ता उस क्षणवाद की देन है, जो अस्तित्ववाद की प्रमुख विशेषता है । दीपिका भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए बराबर प्रयत्न करती रहती है ।

'एक और अजनबी' (१९६३) में शून्यता की स्थिति एवं मनुष्य के अस्तित्व की चिन्ता मोनल के माध्यम से प्रकट हुई है । 'अब जीवन में पहली बार अनुभव कर रही हूं, जैसे मेरा यह संघर्ष, संकल्प सब कुछ वृथा है । इसका कोई परिणाम नहीं निकलेगा । इस दुनिया में जैसे मैं एक और अजनबी हूं, जिसे वह कभी नहीं पहचानेगी । मेरा अस्तित्व चाहे रहे या मिटे, दुनिया को उसकी परवाह नहीं । दुनिया सिर्फ

----

१. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (प्रथम भाग - १९४०), बनारस, पृष्ठ ९८ ।
२. अज्ञेय : नदी के द्वीप (१९५१), बनारस, पृष्ठ ४४ ।
३. देवराज : पथ की खोज (१९५१), लखनऊ, पृष्ठ २२४ ।
४. देवराज : अजय की डायरी (१९६०), दिल्ली, पृष्ठ २८१ ।

अपनी गति देखती है । अपना अस्तित्व बनाए रखने की चेष्टा करती है ।'[१]
सुरेश सिनहा के दूसरे उपन्यास 'सुबह अन्धेरे पथ पर' (१९६७) में भी राजू के माध्यम से अस्तित्ववाद की प्रमुख विशेषताएं - अकेलापन, अजनबीपन, मृत्यु, अस्तित्व रक्षा की चिन्ता तथा स्वतन्त्रता की भावना नितान्त भारतीय परिवेश में चित्रित हुई हैं । राजू एक स्थान पर धर्म का मज़ाक बनाता हुआ कहता है, 'धर्म है कहां और ईश्वर कौन है? ईश्वर यदि कभी था भी, तो उसकी मृत्यु हो चुकी है और उसका अस्तित्व मिट चुका है, न कहीं धर्म है, न कहीं ईश्वर...'[२] । एक अन्य स्थान पर वह कहता है, 'मेरा अस्तित्व कोई खिलौना नहीं है, जिसे जो चाहे खण्ड खण्ड कर दे । मैंने उसके लिए कोई समझौता नहीं किया, कहीं माथा नहीं टेका, पर क्या हुआ ? दिन के बाद दिन व्यतीत होते गए और मेरे पांवों तले जमीन खिसकती गई । मिटते-मिटते मैं एक बिन्दु बन गया और शून्य में खो गया । यह सब इतने साधारण ढंग से घटित हुआ, जैसे आदमी का अस्तित्व नहीं रखना, कोई महत्व नहीं रखता ।'[३] लेकिन राजू अस्तित्व बोध की इस चिन्ता में कुंठित नहीं होता । वह परिस्थितियों की विषमताओं से बराबर जूझता रहता है और अन्त में पलायन कर अपने अस्तित्व की झूठी रक्षा करने का भ्रम नहीं पालता, जैसा कि निर्मल वर्मा या मोहन राकेश के नायक करते हैं, वरन् संघर्ष करते हुए वह अपना एक पथ निश्चित कर लेता है, जिस पर चलकर सही अर्थों में वह अपने अस्तित्व एवं स्वतन्त्रता की रक्षा कर पाने में सफल होता है ।

'न आने वाला कल' (१९६८) में नल्ला, [illegible] शोभा तथा बानी सभी अस्तित्व बोध से चिन्तित हैं । बानी एक स्थान पर कहती है --'मैं नहीं चाहती कि किसी भी आदमी का मुझपर इतना अधिकार हो कि मैं उसके बिना जी ही न सकूं ।'[४] निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में भी यही परिस्थितियां हैं, जो रायना

----

१. सुरेश सिनहा : एक और अजनबी (१९६३), इलाहाबाद, पृष्ठ ६३-६४ ।
२. सुरेश सिनहा : सुबह अन्धेरे पथ पर (१९६७), इलाहाबाद, पृष्ठ ३८३ ।
३. वही, पृष्ठ ३९२ ।
४. मोहन राकेश : न आने वाला कल (१९६८), दिल्ली, पृष्ठ १२८ ।

कथानायक सभी को अस्तित्व के प्रति सचेत किए रहती है । कथानायक काम-खोजने के लिए एक स्थान पर जाता है तो मैनेजर मुस्कराकर एक लिफाफा उसकी तरफ सरका देता है । बस उसकी मुस्कराहट मात्र से नायक को अपने अस्तित्व की चिन्ता होने लगती है --'वह मुस्करा रहा था । मुझे बुरा लगा कि वह मेरे दुःख का अनुमान कैसे लगा सकता है ।'[1] वह अपनी स्वतन्त्रता के लिए सचेत हो जाता है । यह वाक्य वास्तव में पश्चिम से उधार ली गई दृष्टि है, जिसका भारतीय समाज के वर्तमान यथार्थ एवं परिवर्तनशील परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

'ऋतुचक्र' (१९६८) इलाचन्द्र जोशी ने इस कृत्रिमता एवं आरोपित कर देने की कुचेष्टा पर प्रहार करते हुए क्षणवाद, अस्तित्वबोध, मृत्यु तथा संत्रास को गलत सिद्ध किया है ।[2] तथा दादा के माध्यम से 'सुन्दर एवं मांगलिक' तत्वों को ही महत्व दिया है, जिससे समाज का विकास हो सके । नकुलेश, चित्रा, प्रतिमा, तथा महीप आदि इसे समझ नहीं पाते, इसलिए जीवन में असफल रहते हैं । 'पत्थरों का शहर' (१९७१) में अस्तित्वबोध का खण्डन करते हुए विवेक कहता है,'जब उसने प्रेम में कभी याचना नहीं की और जिन्दगी भर के लिए एक असहनीय वेदना धरोहर में ले सका है, तो फिर अब क्या वह यचना उसके स्वत्व को खण्डित नहीं करेगी ? लेकिन उसे लगा यह एक निहायत० फिजूल-सी बात है । वह एक वैयक्तिक बात थी । उसमें उसे जो पीड़ा प्राप्त हुई है, उससे वह पलायन नहीं कर सकता था । वह पीड़ा तो जीवन का कर्म है । जीवन की पहेलिका से पार जाने के लिए वह पीड़ा एक नया पथ निर्मित करती है, जिस पर[3] कुहासे नहीं, कन्दील जलते हैं और वही पीड़ा व्यक्तित्व को निखार देता है ।' इसी प्रकार पश्चिम की आरोपित दृष्टि को अज्ञेय ने 'अपने अपने अजनबी' में खण्डित करने का प्रयत्न किया है ।

मन की रहस्यमय पर्ते और अस्वस्थ व्यक्ति

फ्रायड, एडलर, और युंग ने अलग अलग मनुष्य के चेतन और अवचेतन मन की व्याख्या की । उनके सिद्धान्तों को ही मनोविश्लेषणवाद कहा जाता है.। फ्रायड ने मनव मानव मन को चेतन,उपचेतन और अवचेतन - तीन वर्गों में विभाजित किया । उसके अनुसार उपचेतन और चेतन का निकट सम्बन्ध होता है तथा उपचेतनव को किसी भी क्षण चेतन बनाया जा सकता है । जिसका दमन होता है वह अचेतन कहलाता है । चेतन तथा अवचेतन परस्पर विरोधी शक्तियां हैं । मनुष्य इच्छाओं का दास है । ये इच्छाएं मुख्यत: वासना परक होती हैं । मनुष्य की ऐसी सारी इच्छाएं पूर्ण नहीं होतीं, अपूर्ण इच्छाओं का उसे दमन करना पड़ता है जो अवचेतन मन में एकत्रित होती रहती हैं । अवसर पाते ही अवचेतन इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह मनुष्य जीवन को नियंत्रित करने लगता है । एडलर ने इसके विपरीत यह स्पष्ट किया कि मनुष्य स्वयं की अभिव्यक्ति चाहता है और हीनता की ग्रंथि से पीड़ित रहता है । इस हीनता भाव को मिटाने के लिए ही वह हर समय अपना प्रभुत्व दिखाता रहता है । युंग ने समाज प्रेम की भावना पर बल दिया है । उसके बिना मनुष्य या तो अन्तर्मुखी होता है या बहिर्मुखी । अन्तर्मुखी व्यक्ति का अपना निजी संसार होता है और उसकी दृष्टि व्यष्टि परक होती है बहिर्मुखी व्यक्ति सामाजिक प्राणी होता है और उसकी दृष्टि समष्टिपरक होती है ।

मनोविश्लेषणवाद ने हिन्दी उपन्यासों पर अपना विशेष प्रभाव डाला और वैयक्तिक चित्रण पर बल दिया । उसने व्यक्तिवादी जीवन दर्शन का ही प्रतिपादन किया और समाज को नगण्य तथा व्यक्ति को महत्वपूर्ण सिद्ध किया । इसने व्यक्ति को घोर अहंवादी बनाया और उसे अस्वस्थ तथा हीन मनोवृत्तियों का शिकार बना कर पशुता की सीमा तक पहुंचा दिया, 'सन्यासी' (१९४१) में जयन्ती कहती है - 'सनातन पुरुष के सभी उच्च कोटि के दोष आप में वर्तमान हैं, हम भाव को ज्वाला बुझाने के लिए प्रकृति के सब तत्वों को (जिसमें स्त्री भी एक है) पूर्ण रूप से होम करने की प्रबल आकांक्षा । पर इस अप्राकृतिक आकांक्षा की तृप्ति कभी सम्भव नहीं है और इसलिए आपके मन में अशान्ति एवं असन्तोष के भाव सदा

बने रहेंगे और जिस जिस के संसर्ग में रहेंगे, उसके जीवन में भी बेचैनी के बीज बोते रहेंगे।[1] नन्दकिशोर के इस ग्रंथ से पीड़ित होकर जयन्ती को अन्त में आत्महत्या करनी पड़ती है। और भी दूसरे पात्र इसमें इसीलिए आत्महत्या करते हैं ।

'प्रेत और छाया' (१६४३) में पारसनाथ का चरित्र उसी प्रकार की ग्रन्थियों का शिकार है । उसकी मानसिक स्थिति पर प्रहार करती हुई नन्दिनी कहती है, 'एक कुलीन घर की विवाहित स्त्री को भगाकर उसका धर्म नष्ट करने में तुम जैसे अधम पुरुषों को जो सुख मिलता है, वह किसी वेश्या समाज की लड़की को भगाने में कहां मिलता है । आज मैं अच्छी तरह समझ गई हूं कि सचमुच तुम नरक के कीड़े हो । उस नरक के भीतर कुलबुलाते रहने में ही तुम्हें सुख मिल सकता है ।'[2] पारसनाथ प्रेम नन्दिनी से करता है और उसकी बहन हीरा को भगा ले जाता है । कुंठाएं तथा वर्जनाएं अवचेतन मन में एकत्रित होकर किस प्रकार मनुष्य जीवन को नियंत्रित करता है, इसका उदाहरण 'निर्वासित' (१६४५) में प्राप्त होता है । महीप स्वयं ही अपनी स्थिति का विश्लेषण करता हुआ कहता है, 'जो लड़की बराबर उसका निरादर करती रही है और जो उसे ठुकराती रही है, उसका वह बराबर आदर करता रहा । ऐसा वैपरीत्य उसके स्वभाव में किस रहस्यमय शक्ति के अभिशाप से बना हुआ है ? हां, यह उलटबांसी उसके जीवन में अभी तक बनी हुई है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आजीवन अहिंसा के सिद्धान्त पर विश्वास रखने पर भी बीच में एक हिंसात्मक दल का संगठन न कर बैठता ।'[3] उसकी हिंसात्मक नीति उसकी हीनता की ग्रंथि की प्रतिक्रिया है, जिसे एडलर ने स्पष्ट किया है ।

समाज की वर्तमान परिस्थितियां ऐसी हैं जिनमें व्यक्ति अपने को कटा हुआ, उपेक्षा एवं संकुचित परिस्थितियों में पाता है । उसकी भावनाएं निरन्तर अपमानित होने के कारण निरन्तर कुंठित होती रहती हैं । उसकी महत्वाकांक्षाएं पूर्ण नहीं हो

----

१. इलाचन्द्र जोशी : संन्यासी (१६४१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३६३ ।

२. इलाचन्द्र जोशी : प्रेत और छाया (१६४३), इलाहाबाद, पृष्ठ २६६ ।

३. इलाचन्द्र जोशी : निर्वासित (१६४५), इलाहाबाद, पृष्ठ ३७५-७६ ।

हो पाती हैं। वह सुविधाजनक ढंग से अपनी साधारण आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाता। सामाजिक हवस की इस दिशा में मनुष्य में अहंभाव, आक्रोश, कुंठा एवं विद्रोह का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों में इन्हीं तत्वों की अभिव्यक्ति हुई है।

●सांस्कृतिक पुनरुत्थान और जागरण की नई भूमिका

इस काल में परम्परागत संस्कृति, मूल्य और परम्परा को अस्वीकार कर दिया गया और संस्कृति की नवीन परम्परा का निर्माण करने का प्रयत्न किया गया। जागरण की यह नई भूमिका धर्म का तिरस्कार एवं समाज के विघटन से प्रारम्भ हुई। जिसमें व्यक्ति को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया। आदिम मानव की प्राथमिक प्रवृत्तियों को पुन: महत्व दिया गया। यह वस्तुत: समाज में मध्यवर्ग के ध्वंसोन्मुखता और लेखकों की दयनीय स्थिति का परिणाम है। वे कभी इतिहास की शरण लेते हैं, तो कभी आदिम युग की, पर वे जिस सांस्कृतिक पुनरुत्थान को चाहते हैं, विवेक एव तर्क संगत आधार पर उसका समाजीकरण नहीं कर पाते और उनके दृष्टिकोण में अन्तर्विरोध प्रत्येक स्तर पर बना रहता है।

जिन उपन्यासों में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की बात की गई है, उनके अध्ययन के पश्चात् यह सन्देह होने लगता है कि कहीं यह नई संस्कृति, यौनाचार एवं स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के स्वतन्त्रता तक ही तो सीमित नहीं है। नई संस्कृति के नाम पर जो पात्र सामने आए हैं, न उनका कोई व्यक्तित्त्व है, न दायित्वबोध। वे आदिम प्रवृत्तियों से लेश काम-लोलुप व्यक्ति हैं। काम-पीड़ा की उनकी प्रमुख समस्या है। उनका दृष्टिकोण नकारात्मक है। न देश का राजनीतिक जीवन ही उन्हें प्रभावित करता है, न सामाजिक समस्याएं उन्हें कफोरती हैं। इस प्रकार उनकी नई संस्कृति पलायनवादी बन जाती है। यह पात्र स्वस्थ एवं सुखी पारिवारिक तथा दाम्पत्य जीवन नहीं बिता पाते।

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर इसी नई संस्कृति की खोज करता है, जिसे वह 'स्वातंत्र्य की खोज' कहता है। इस खोज में वह आगे न जाकर पीछे आदिम संस्कृति के युग

एवं बर्बर काल में पहुंच जाता है । उसकी खोज यह है कि "प्रेम ने मनुष्य को मनुष्य बनाया । भय ने उसे समाज का रूप दिया । अहंकार ने उसे राष्ट्र में संगठित कर दिया ।"[1] वह समाज में सभी मान्यताओं के टूट जाने की कामना करता है । अज्ञेय वे वृत्तिमूलक नैतिकता का विरोध करते हैं क्योंकि यह निष्प्राण तथा पिटी हुई लीक है ।[2] इलाचन्द्र जोशी के नायकों में भी घोर अहंवादिता, असामाजिकता एवं घृणा-हिंसा की भावनाएं प्राप्त होती हैं । उन्होंने समाजवाद तथा मनोविज्ञान को मिश्रित कर नवीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान की कल्पना की है । यशपाल ने काम सम्बन्धी पुराने नैतिक मूल्यों को ठुकराकर नवीन संस्कृति की कल्पना की जिससे अपनी यौन पिपासा की शान्ति कर सकता है । वे कहते हैं- "इस देश में बिना जाने बूझे पुरुष को पति रूप में स्वीकार कर लेना क्या स्त्री का आत्मसम्मान है ? कोई स्त्री विवश हो वेश्या बनती है, कोई विवश हो पतिव्रता ।"[3] यशपाल विवाह तथा प्रेम को शुद्ध भौतिक आधार पर स्थापित करना चाहते हैं ।

इसके विपरीत कुछ उपन्यासकार ऐसे भी हैं जिन्होंने जागरण की भूमिका को सार्थक ढंग से चित्रित किया है और नवीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान को सामाजिक बनाने में सफल हुए हैं । भगवतीप्रसाद वाजपेयी के एक उपन्यास 'एक प्रश्न' में कमलेश कहता है , जो लोग समाज में फैले हुए भ्रष्टाचार, बेईमानी, धूर्तता, जुल्म को आंख मूंद कर देखते और सहते जाते हैं, मैं उन्हें कायर और नपुंसक समझता हूं ।... समाज विरोधी तत्वों के साथ एक बार खुलकर लड़े बिना गति नहीं है । संशयालु, कर्तव्य भीरु, कायर और प्रतिक्रियावादी लोगों के साथ हमारा कोई समझौता नहीं हो सकता है ।[4] धर्म और ईश्वर के प्रति अनास्था का भाव जैनेन्द्रकुमार के 'परख' (१९२९) में मिलता है, "हमने तो एक शब्द में कह दिया 'परमात्मा' मानों हमने पा लिया । पर लोग हैं कि थकना ही नहीं चाहते । कहते हैं, हम पाकर

---

१. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (प्रथम भाग - १९४०), बनारस, पृष्ठ ५३ ।

२. वही (दूसरा भाग - १९४४), पृष्ठ २०६ ।

३. यशपाल : पार्टी कामरेड (१९४६), लखनउल, पृष्ठ ३३ ।

४. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'एक प्रश्न' (दिल्ली), पृष्ठ १९७-१९८ ।

छोड़ेंगे । हम उसको धन्यवाद देते हैं, हाथ जोड़ते हैं, बड़ी श्रद्धा से भाई खूब खोजो जितना बने उतना । पर विदा से एक दिन पूर्व यदि समाधान नहीं मिल पाए तो हमारे साथ हो जाना ।"[1] जो लोग पाश्चात्य प्रभाव से पूर्ण सांस्कृतिक पुनरुत्थान की बात करते हैं उनकी आलोचना करते हुए जैनेन्द्रकुमार कहते हैं, "यह संस्कृति (पश्चिमी)या तो आदमी आदमी के बीच में स्वार्थ का सम्बन्ध बनाकर हथियार की जरूरत पैदा कर देगी, नहीं तो उनके दर्मियान एक खाई बनी रहने देगी । इस संस्कृति में हृदय नहीं है, हिसाब है ।संस्कृत उसे कौन कहता है ? जो चमक है, ज्वरावेश की है । स्वास्थ्य की नहीं है, सन्तोष वहां नहीं है ।"[2] जागरण की इस भूमिका में भारतीयता की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

यंत्र संचालित मनुष्यों द्वारा ही यह सांस्कृतिक पुनरुत्थान सार्थक नहीं हो सकता । विज्ञान कला तथा मस्तिष्क का समन्वय कर श्रम की साधना द्वारा ही नया मार्ग खोजा जा सकता है । 'मुक्ति पथ' (१६५०) में सुनन्दा राजीव से कहती है, "आप श्रम केवल श्रम और उसके द्वारा मुक्ति केवल मुक्ति के लिए चाहते हैं । मैं जीवन में श्रम भी चाहती हूं । और विश्राम भी, मुक्ति भी चाहती हूं, और बन्धन भी ।"[3] जबकि यथार्थ स्थिति यह है कि "हमारे देश के तथा कथित फैशनेबुल समाज का दृष्टि-कोण बड़ा ही छिछला और संकीर्ण है । वे एक नकली दुनियां के नकली ही तौर तरीकों की बंदिशों से घिरे रहते हैं ।"[4] जोशी जी 'ऋतुचक्र' (१६६८) में दादा संस्कृति का भारतीय परिवेश पर महत्त्व देते हैं ।"[5] और नई संस्कृति की आवश्यकता अनुभव करते हुए नव जागरण की बात करते हैं । पाश्चात्य प्रभाव को स्वीकार करने के पक्ष में वे नहीं हैं । 'अमृत और विष' (१६६७) में अरविंद शंकर भी संस्कृति की नई व्याख्या करते हैं और उसे वर्तमान समाज की आवश्यकताओं के अनुसार विकसित करने का प्रयत्न करते हैं ।

---

१. जैनेन्द्रकुमार : परख (१६२६), बम्बई, पृष्ठ १२७ ।
२. जैनेन्द्रकुमार : कल्याणी (१६३७), बम्बई, पृष्ठ ७८-७६ ।
३. इलाचन्द्र जोशी : मुक्तिपथ (१६५०), इलाहाबाद, पृष्ठ ४१४ ।
४. इलाचन्द्र जोशी : सुबह के भूले (१६५२), इलाहाबाद, पृष्ठ १२४ ।
५. इलाचन्द्र जोशी : ऋतु चक्र (१६६८), इलाहाबाद, पृष्ठ ३०२ ।

'पत्थरों का शहर' (१९७१) में सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं जागरण की नई भूमिका का चित्रण आज के सामाजिक यथार्थ के सन्दर्भों में बड़ी कुशलता से हुआ है। विवेक कहता है, यथार्थ को पहचानो और भविष्य से डरो मत बल्कि उसके निर्माण में पूरी सामर्थ्य से रुचि लो। यह व्यामोह का युग नहीं है, मोह भंग के बाद जागरण कुलबुला रहा है। सारा देश अंगड़ाई ले रहा है। जो लोग फिर से थपकी देकर या भावुकता की अफीम पिलाकर सुलाना चाहते हैं, उनसे यदि हम सावधान न रहे तो हमारा नामोनिशान न रहेगा।[1] एक अन्य स्थान पर वह कहता है, आज अमेरिका में हरि कीर्तन होते हैं तथा जर्मनी और लन्दन में राम और कृष्ण के मन्दिर बनाकर लोग आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। वे लोग फैशन, तृष्णा, और वासना के हवस से अपनी संस्कृति को बिलकुल भूल गए थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि आज वे मानसिक शान्ति के लिए इधर से उधर भटक रहे हैं। और हम हैं कि जब सारी दुनिया एक बार फिर हमारे करीब आ रही है, तो हम अपनी संस्कृति को भुलाने की इसलिए कोशिश कर रहे हैं ताकि हमारा सेकुलर करेक्टर बना रह सके। हमें लानत है। हमसे बड़ा सिरफिरा कौन होगा जो इतिहास से कोई सबक ही लेना नहीं चाहते।[2] संस्कृति को अपने परम्परागत मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए भी परिवर्तित करना होगा। भारतीयता की सुरक्षा इसकी अनिवार्य शर्त है, इस उपन्यास का यही दृष्टिकोण है।

इस प्रकार हिन्दी उपन्यासों में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के दो वर्ग हैं। एक वर्ग उन उपन्यासकारों का है, जो पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर सभी मान्यताओं को ठुकराकर भौतिकता, यौनाचार की स्वतन्त्रता, वैयक्तिकता, कुंठा तथा वर्जनाओं को व्यक्ति तथा समाज पर लाद देना चाहते हैं। अज्ञेय, यशपाल, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा आदि इस वर्ग के उपन्यासकार हैं। दूसरा वर्ग उन उपन्यासकारों का है, जो भारतीयता को सुरक्षित रखते हुए उस नई संस्कृति का पक्षपाती है, जो आज

---

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृष्ठ १५३।

२. वही, पृष्ठ १५१-१५२।

की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी कर सके और मनुष्य की आशा आकांक्षा को भी स्पष्ट कर सके । अमृतलाल नागर, इलाचन्द्र जोशी(अन्तिम तीन उपन्यासों में)सुरेश सिनहा, फणीश्वरनाथ रेणु तथा शिवप्रसाद सिंह इस वर्ग के उपन्यासकार हैं ।

●मानवीय अन्तरात्मा का अन्वेषण

मानवतावाद आधुनिक जीवन दृष्टि है । मानव को राजनीतिक शोषण, आर्थिक दासता तथा सामाजिक वैषम्य से मुक्त कर एक विश्व समाज, प्रेम, सहानुभूति तथा सद्भावना की स्थापना ही मानवतावाद है । आज सर्वत्र घृणा, हिंसा, विभाजन एवं युद्ध का वातावरण छाया हुआ है, जिसमें सहजता, आत्मीय अनुभूति और विश्व बन्धुत्व का भाव समाप्त होता जा रहा है । हमारी दृष्टि बड़ी संकीर्ण हो गयी है । हम क्षेत्रियता, धर्म तथा जाति के बन्धनों में इतना जकड़े हुए हैं कि व्यापक रूप से कुछ सोच नहीं पाते । मानवतावाद इन्हीं संकीर्ण परिस्थितियों से मनुष्य को मुक्त कर व ऐसे समाज एवं संसार की रचना पर बल देता है जिसमें न किसी की भावनाएं कुंठित हों न किसी का शोषण हो और न सामाजिक असमानता हो । वह उन मानवमूल्यों पर बल देता है जो मनुष्यता का विकास करती हैं ।

हिन्दी उपन्यासों में मानवतावादी दृष्टि का सूत्रपात करने वाले प्रेमचन्द हैं, जिनकी मूल दृष्टि आदर्शवाद से प्रभावित होकर थी । प्रेमचन्द ने मनुष्य की कुरीतियों पर नहीं इन परिस्थितियों पर प्रहार किया है जो मनुष्य के पथ भ्रष्ट करती हैं । 'सेवासदन' (१९१८) उन्होंने सुमन के माध्यम से यही मानवतावादी दृष्टि प्रतिपादित की है कि सुमन बुरी नहीं है, बुरी वे परिस्थितियां हैं, जिन्होंने उसे वेश्या बनने पर विवश किया । वे धर्म का प्रभुत्व इस सीमा तक स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं थे कि मनुष्य का स्वाभाविक विकास एक रुक जाए । उन्होंने मानवतावाद के दो प्रमुख तत्वों - आस्था एवं जिजीविषा पर भी बल दिया ।

प्रेमचन्द की ही परम्परा में यशपाल, अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ रेणु, सुरेश सिनहा तथा शिवप्रसाद सिंह आदि उपन्यासकारों ने उस मानवतावादी दृष्टि

का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है, जो व्यापक मानव मूल्यों की स्थापना करती है । इनके उपन्यासों में[1] उन परिस्थितियों पर कटु प्रहार किया गया है, जो मनुष्य का उसकी मानवता से वंचित करती है । इनके पात्रों में आस्था, जिजीविषा और दृढ़ संकल्प मिलता है । वे अपनी मानवीयता को बराबर सुरक्षित रखते हैं ।

मानवीयता एवं मानव-मूल्यों की दृष्टि से `गोदान` के होरी की तुलना में `सुबह अन्धेरे पथ पर` के परमात्माबाबू को देखा जा सकता है । होरी यदि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भारतीय समाज में व्याप्त मानवतावादी दृष्टि का प्रतीक है, तो परमात्माबाबू बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के भारतीय समाज में मानव-मूल्य मर्यादा के प्रतीक हैं । एक प्रसिद्ध आलोचक ने ठीक लिखा है, `हिन्दी उपन्यासों में नायक परिस्थितियों से जूझता है, भिड़ता है, लेकिन अन्त में खोया हुआ, दिग्भ्रमित, टूटा हुआ चित्रित किया जाता है । टूटना और टूटते चले जाना उसका जीवन धर्म बन जाता है । इससे न तो अपना कल्याण कर पाता है, न समाज का । लोग समझते हैं, आज के विघटित होते हुए समाज में खो जाना ही आधुनिक धर्म है । कितना गलत दृष्टिकोण ये उपन्यास-लेखक देते रहे हैं । मेरा विचार है कि लेखक और कलाकार जहां समाज के बिखराव का चित्रण करता है, वहां अपने और समाज के बीच सन्तुलन बनाए रखते हुए समाज केप्रति सर्जनात्मक प्रतिबद्धता का निर्वाह करना भी उसका पुनीत कर्तव्य है । सुरेश सिनहा कृत `सुबह अन्धेरे पथ पर` जैसे उपन्यास हिन्दी में कम ही दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें नायक भीतर से नहीं टूटता । व भीतर से टूट जाना ही वास्तविक पराजय है ।`[2] मानवतावादी दृष्टि इस पराजय का नहीं, निरन्तर जूझते रहने का समर्थन करती है । वह समाज सापेक्ष्य दृष्टि है । यह खेद की बात है कि आज का हिन्दी उपन्यासकार इस मानवतावादी दृष्टि का चित्रण करना आधुनिकता के विरुद्ध समझता है ।

---

१. क्रमश: `झूठा-सच`, `बूंद और समुद्र`, `मैला आंचल`, `सुबह अन्धेरे पथ पर`, `अलग-अलग वैतरणी` विशेष रूप से दृष्टव्य हैं ।

२. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : अमृत और विष नामक लेख में(`आस्था के प्रहरी` में संकलित - १६७०),इलाहाबाद, पृष्ठ ११३ ।

आधुनिक मानव-मूल्य धार्मिक सहिष्णुता पर बल देते हैं । वे किसी धर्म पर प्रतिबन्ध नहीं लगाते, पर उसकी अतिवादिता को निन्दनीय समझते हैं । आज के जीवन में परम्परागत धार्मिक मूल्यों का कोई महत्व नहीं रह गया है । स्वतन्त्रता के पहले ही गांधी जी की परिकल्पना धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना करने की थी । स्वतन्त्रता के पश्चात् धार्मिक अतिवादिताओं को समाप्त करने और समतापूर्ण समाज स्थापित करने के प्रति आग्रह किया जाता रहा है । फ्रायड के सिद्धान्तों, व्यक्तिवाद, अस्तित्ववाद तथा मार्क्सवाद ने आध्यात्मिक मूल्यों से विश्वास तोड़ दिया । मानवतावादी दृष्टिकोण ने भी धर्म की नहीं मनुष्य की महत्ता स्वीकार की । इसलिए धर्म निरपेक्ष समाज की परिकल्पना को महत्व मिलना नितान्त स्वाभाविक ही था ।

लेकिन देश की वर्तमान परिस्थितियों में धर्म निरपेक्ष समाज की स्थापना केवल एक नारा बन कर रह गया है । विगत चालीस वर्षों से लगातार शासन करने वाली कांग्रेस इस समाज की स्थापना स्वयं नहीं करना चाहती । वोटों के लिए ब्रिटिश सरकार के विभाजन करने एवं शासन करने की नीति पर वह भी चल रही है । "धर्मनिरपेक्षता का अर्थ यह नहीं होता कि राज्य का अपना कोई धर्म न हो । इसका अर्थ केवल इतना होता है कि राज्य अपनी प्रजा और नागरिकों के बीच उनके पूजाविधि के आधार पर भेद-भाव न करे ।"[१] कांग्रेस केवल वोटों के लिए विभाजन और अलगाव की प्रवृत्ति फैलाती है ताकि मुसलमानों में झूठा आतंक फैला रहे और कांग्रेस ही एकमात्र अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करने वाली संस्था बन गई । इस धर्म निरपेक्ष समाज की परिकल्पना प्रेमचन्द के मन में बहुत पहले ही थी । उनका विचार था , "जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ न समझेंगे, हमारी यही दशा होगी । मुश्किल यह है कि जिन महान पुरुषों में अच्छी धर्म शिक्षा की आशा की जाती है, वे अपने अशिक्षित भाइयों से बढ़कर उदण्ड हो जाते हैं और मौलाना नीति को ही धर्म समझता हूं और सब सम्प्रदायों की नीति एक सी है । हमें राम, कृष्ण,

---

१. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१६७१), इलाहाबाद, पृष्ठ १७७ ।

ईसा, मुहम्मद, बुद्ध सभी का समान आदर करना चाहिए क्योंकि 'साम्प्रदायिक घृणा और हिंसा को खत्म करने में सबको योगदान देना होगा । हिन्दू और मुसलमानों का भाग एक दूसरे से इस कदर जुड़ा हुआ है कि एक दूसरे के बिना उनका अस्तित्व ही असंभव है ।'[2] हिन्दी में ऐसे उपन्यास कम मिलते हैं, जिनमें धर्मनिरपेक्ष समाज की परिकल्पना पर बल दिया गया है । इन दोनों उपन्यासों के अतिरिक्त 'झूठा सच' कदाचित एकमात्र ऐसा उपन्यास है, जिसमें धर्म-वैषम्य का चित्रण किया गया है, पर उसमें कोई स्पष्ट दृष्टि नहीं मिलती कि लेखक का दृष्टिकोण क्या है ?

इस प्रकार विभिन्न विचारधाराओं के विश्लेषण से हम यह निष्कर्ष सहज निकाल सकते हैं कि हमारे अधिकांश उपन्यासकार पश्चिमी विचारों के प्रवाह में बहे जा रहे हैं और वे उन्हीं के अनुसार सामाजिक परिवर्तन तथा मानव-मूल्य की मर्यादा स्थापित करना चाहते हैं । जबकि सत्यता यह है कि भारतीय समाज की वर्तमान की यथार्थता से उनका कोई साम्य नहीं है और वे आरोपित परिस्थितियाँ हैं, जो झूठी प्रतीत होती हैं । इसके विपरीत ऐसे उपन्यासकारों की संख्या गिनी-गिनी है, जो भारतीय परिवेश एवं भारतीयता के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित परिस्थितियों का अंकन करते हैं और परम्परा तथा संस्कृति की आधुनिक सन्दर्भों में परीक्षा कर मानव-मूल्यों को नया आयाम देने की चेष्टा करते हैं । हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक संवेतना को जो नए सन्दर्भ विकसित हो रहे हैं, उनका भविष्य इन्हीं उपन्यासकारों के हाथों सुरक्षित है ।

0000

---

१. प्रेमचन्द : कायाकल्प (१९२८), बनारस, पृष्ठ २२ ।

२. सुरेश सिनहा : पत्थरों का शहर (१९७१), इलाहाबाद, पृष्ठ ३०४ ।

६. उपसंहार

उपन्यास मनुष्य और जनजीवन की ही अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति होते हैं । उपन्यासकार अपनी दृष्टि से उन तत्वों को ओझल नहीं कर पाता, जो मानव को अपने संघर्ष संकुल जीवन में आत्मबल, जिजीविषा एवं आस्था प्रदान कर सकने में सहायक होते हैं । अत: उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का अभिप्राय इस तथ्य में है कि उपन्यासकार अपने दृष्टा-तत्व की रक्षा करने में कहां तक सफल हो सका है और वह समाज में व्याप्त अन्तर्विरोधों, विभिन्न मत-मतान्तरों एवं विचार-सम्प्रदायों को किस सीमा तक पहचान सका है । एक और उपन्यासकार सामाजिक यथार्थ को उसके विविध स्वरूपों में प्रस्तुत करता है, तो दूसरी ओर विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों और संस्कारों में पले व्यक्तियों की मानसिक गहराइयों में पैठकर मन-सत्यों का उद्घाटन करता है ।

सामाजिक जीवन में विभिन्न व्यक्ति सत्यों का महत्व विशेष भले ही न हो, पर व्यक्ति का जीवन इन्हीं सत्यों के आधार पर निर्मित या विशृंखलित होता है । अत: व्यक्ति सामाजिक जीवन की मात्र इकाई न होकर समाज विशेष का प्रतिनिधि होता है । उसके अन्तर्मन में अन्तर्निहित उसकी विशिष्टताओं को, उसके बाह्य व्यक्तित्व के भीतर निहित उसके आन्तरिकव्यक्तित्व का मूल्यांकन करना उपन्यासों में सामाजिक संचेतना का ही एक रूप होता है । तभी वे मानव जीवन का यथार्थ एवं व्यापक चित्रण कर पाते हैं । अत: उपन्यासों में सामाजिक संचेतना कहने का अभिप्राय पूरे युग और समाज को उसकी समस्त जटिल वास्तविकता के साथ ग्रहण करना है ।

मनुष्य निरन्तर जीवन-धारा से अपना सम्बन्ध बनाए रखना चाहता है । उसके सामने चाहे जितनी समस्याएं आएं, वह चाहे जितना भी पराजित एवं कुंठित क्यों न हो, वह अगत्या जीवित रहना चाहता है । जीवित रहने की उसकी यह लालसा निरर्थक या यांत्रिक नहीं,सार्थक एवं लक्ष्ययुक्त होती है । सार्थकता और लक्ष्य से अभिप्राय यह है कि अपने-अपने अस्तित्व और चेतना के ऊपरी पर्तों के नीचे गहराई में छिपे हुए अपने वास्तविक भाव को खोजना और अपने आचरण तथा सामाजिक बन्धनों के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करना । इसलिए यह आत्मान्वेषण कर आत्मोपलब्धियां प्राप्त करने की चेष्टा करता है और अपनी प्राणवत्ता बनाए रखने

का प्रयास करता है । यदि ऐसा न हो, तो अपूर्व कलात्मक शिल्प होने के बावजूद वह उपन्यास निर्जीव रहेगा ।

हिन्दी उपन्यासों में प्रेमचन्द ने इन विशिष्टताओं को पर्याप्त सीमा तक अभिव्यक्त किया है । किन्तु जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी के आगमन के साथ व्यक्ति की जिस सत्ता का उद्बोध हुआ, उसमें व्यक्ति न केवल समाजधारा से कट गया, वरन् वह अपनी समस्याओं, संघर्षों एवं अन्तर्विरोधों से भी कट गया । इनके साथ ही आज के नए उपन्यासकारों में अधिकांश रचनाएं ऐसी लिखी जा रही हैं, जिनमें जीवन संघर्ष से पलायन है । इनसे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मनुष्य अस्वस्थ है, निराशा है, कुंठित है और अपनी असफलताओं के कारण पूरी तरह टूटा हुआ है । ऐसे उपन्यासों की इधर हिन्दी में कमी नहीं है, जिनमें उपन्यासकार अपने दायित्व-बोध की उपेक्षा करके सामाजिक संचेतना के चित्रण के स्थान पर सेक्स-जनित कुंठा, वर्जना एवं अनास्था का ही चित्रण करते हैं । इन उपन्यासों में आधुनिक जीवन के साज-शृंगार सभी प्राप्त होते हैं, किन्तु जीवन का वह स्पन्दन नहीं प्राप्त होता है, जो इन्हें प्राणवान बना सके ।

जब उपन्यास मनुष्य की 'आन्तरिकता' को फिर से प्रतिष्ठित करने एवं उसके असन्तुलन के निराकरण की दिशा स्पष्ट करने में असमर्थ होते हैं, तो वे दायित्व-बोध की भावना से हीन होते हैं । मनुष्य की 'आन्तरिकता' से अभिप्राय यह है कि नूतन वैज्ञानिक आविष्कारों एवं भौतिक विकास की चरम सीमा के बावजूद मनुष्य में नैतिक निष्ठा का निरन्तर ह्रास होता गया है और वह टूटकर बिखरता गया है । यह बिखराव आधुनिक युग की समस्या थी, जिसे मध्य-युगीन रचनात्मक दृष्टि नहीं समझ सकती थी और जिसे ग्रहण करना उपन्यासों के लिए नितान्त आवश्यक हो गया था ।

वादों से ग्रस्त पलायनवादी उपन्यासकार इसे समझने में असमर्थ थे, लेकिन वे उपन्यासकार, जिनमें प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, यशपाल, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ रेणु, नरेश मेहता तथा सुरेश सिनहा आदि प्रमुख हैं, औरजो अपने दायित्व-बोध को स्वीकार करते थे, इस बिखराव के स्थान पर मानव-

मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहे । आन्तरिक सामाजिकता पर आग्रह उस मानवीय विघटन को चुनौती है, जो आज व्यक्ति के विनाश और समाज के खोखलेपन में प्रतिबिम्बित हो रहा है, जिसे आज के उपन्यासकारों ने जीवन का अन्तिम सत्य समझकर स्वीकार कर लिया है ।

नए उपन्यासकारों ने सामाजिक संचेतना को अन्धी आधुनिकता एवं झूठी फैशन-परस्ती के नाम पर काफी विकृत किया है । वे समय सत्य से साक्षात्कार करने के बजाय आरोपित-कल्पित स्थितियों के चित्रण में अपनी कायात्मक 'प्रतिभा' अधिक लगा रहे हैं । उनके पास अपनी मौलिक दृष्टि नहीं है । पश्चिमी चिन्तन के समक्ष वे इस तरह नतशिर हैं, जैसे न उनकी अपनी कोई परम्परा है, न कोई विरासत, जहां से वे नई मूल्य-मर्यादा को जन्म दे सकें ।

किन्तु इस स्थिति से निराश होने की बात नहीं है । हमारे नए उपन्यासकारों में ऐसे नाम अवश्य हैं, जो भले ही अंगुलियों पर गिने जाने योग्य हों, जिन्होंने आधुनिक सामाजिक संचेतना के विविध प्रतिमानों को व्यापक सन्दर्भों में रूपायित किया है और मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश में सही ढंग से पहचानने और अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है । पीछे के अध्यायों में विस्तार से इन तथ्यों का विश्लेषण किया गया है । यहां निष्कर्ष के रूप में इतना कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यासों ने निश्चित रूप से भविष्य के लिए अपना एक सशक्त पथ निर्मित किया है और सामाजिक प्रतिबद्धता लिए हुए अनेक उपन्यासकार मनुष्य की आन्तरिकता को प्रतिष्ठित करने में संलग्न हैं ।

0000

अनुक्रमणिका : १ |
|आलोच्य उपन्यास

१. अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी (प्रथम भाग - १९४० : द्वितीय भाग १९४४), बनारस ।
नदी के द्वीप (१९५१) बनारस
अपने-अपने अजनबी (१९६१) बनारस ।

२. अमृतलाल नागर : महाकाल (१९४६), इलाहाबाद ।
सेठ बांकेमल (१९५५) दिल्ली ।
बूंद और समुद्र (१९५६) इलाहाबाद ।
अमृत और विष (१९६६) इलाहाबाद ।

३. इलाचन्द्र जोशी : लज्जा (१९२९) इलाहाबाद ।
संन्यासी (१९४१) इलाहाबाद ।
पर्दे की रानी (१९४१) इलाहाबाद ।
निर्वासित (१९४६) इलाहाबाद ।
प्रेत और छाया (१९४६) इलाहाबाद ।
मुक्तिपथ (१९५०) दिल्ली ।
सुबह के भूले (१९५३) दिल्ली ।
जिप्सी (१९५२) इलाहाबाद ।
ऋतुचक्र (१९६८) इलाहाबाद ।

४. उषा प्रियंवदा : पचपन खम्भे लाल दीवारें (१९६०) दिल्ली ।
रुकोगी नहीं,... राधिका (१९६८) दिल्ली ।

५. किशोरीलाल गोस्वामी : कटे मूंडकी दो-दो बातें (१९१४), वृन्दावन ।
गुलबहार व आदर्श भ्रातृ-स्नेह (१९१४) वृन्दावन ।
पुनर्जन्म वा सौतिया डाह, वृन्दावन ।
माधवी-माधव वा मदन मोहिनी (१९१६) वृन्दावन ।

अंगूठी का नगीना (१६१८) वृन्दावन ।
गुप्त-गोदना (१६१८) वृन्दावन ।

६. गोपालराम गहमरी : मेम की लाश (१६१४) काशी ।

७. जयशंकर प्रसाद : कंकाल (१६२६) इलाहाबाद ।
तितली (१६३४) इलाहाबाद ।

८. जैनेन्द्रकुमार : परख (१६२६) बम्बई ।
सुनीता (१६३४) बम्बई ।
त्यागपत्र (१६३७) बम्बई ।
कल्याणी (१६३६) बम्बई ।
विवर्त (१६५३) दिल्ली ।
व्यतीत (१६५३) दिल्ली ।
सुखदा (१६५४) दिल्ली ।
जयवर्द्धन (१६५६) दिल्ली ।
मुक्तिबोध (१६५६)दिल्ली ।

६. देवराज : पथ की खोज (१६५१) कि लखनऊ।
बाहर-भीतर (१६५४) दिल्ली ।
अजय की डायरी (१६६०) दिल्ली ।

१०. धर्मवीर भारती : गुनाहों का देवता (१६४६) इलाहाबाद ।
सूरज का सातवां घोड़ा (१६५२), इलाहाबाद ।

११. नरेश मेहता : डूबते मस्तूल (१६५४) दिल्ली ।
यह पथ बन्धु था (१६६२) बम्बई ।

१२. ब निर्मल वर्मा : वे दिन (१६६४) दिल्ली ।

१३. पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र : चन्द हसीनों के खुतूत (१६२७) दिल्ली ।
बुधुवा की बेटी (१६२८) ।
मनुष्यानन्द (१६३५) ।

१४. प्रेमचन्द : वरदान (१६१८) बनारस ।
सेवासदन (१६१८) बनारस ।
निर्मला (१६२२) बनारस ।
प्रेमाश्रम (१६२२) बनारस ।
रंगभूमि (१६२४) बनारस ।
कायाकल्प (१६२८) बनारस ।
गबन (१६३०) बनारस ।
कर्मभूमि (१६३२) बनारस ।
गोदान (१६३६) बनारस ।
मंगलसूत्र (अपूर्ण) बनारस ।

१५. फणीश्वरनाथ रेणु: मैला आंचल (१६५४) दिल्ली ।
परती : परिकथा (१६५७) दिल्ली ।
दीर्घतपा (१६६३) पटना ।
जुलूस (१६६५) वाराणसी ।

१६. ब्रजनन्दन सहाय : आरण्यबाला (१६१५) बनारस ।

१७. भगवतीचरण वर्मा : पतन (१६२८) इलाहाबाद ।
टेढ़े मेढ़े रास्ते (१६४६) इलाहाबाद ।
तीन वर्ष (१६४६) इलाहाबाद ।
आखिरी दाव (१६५०) इलाहाबाद ।
वह फिर नहीं आई (१६६०) दिल्ली ।
थके पांव (१६६३) देहरादून ।
रेखा (१६६४) दिल्ली ।
सीधी-सच्ची बातें (१६६८) दिल्ली ।
सबहिं नचावत राम गोसांई (१६६६) दिल्ली ।

१८. भगवतीप्रसाद वाजपेयी: विश्वास का बल (संवत् २०१३) दिल्ली ।
चलते-चलते (१६५१) दिल्ली ।
एक प्रश्न, दिल्ली ।
मनुष्य और देवता (१६५४) देहरादून ।

१६. मन्नू भण्डारी : आपका बंटी (१६७१) दिल्ली ।

२०. मोहन राकेश : अंधेरे बंद कमरे (१६६१) दिल्ली ।
न आने वाला कल (१६६८) दिल्ली ।

२१. मेहता लज्जाराम शर्मा: जुझार तेजा (१६१४) ।
आदर्श हिन्दू (१६१५) ।

२२. यशपाल : दादा कामरेड (१६४१) लखनऊ ।
देशद्रोही (१६४३) लखनऊ ।
पार्टी कामरेड (१६४४) लखनऊ ।
मनुष्य के रूप (१६४६) लखनऊ ।
झूठा सच (१६६० प्रथम भाग, १६६२ द्वितीय भाग)लखनऊ
बारह घंटे (१६६३) लखनऊ ।
क्यों फंसे ? (१६६८) लखनऊ ।

२३. रांगेय राघव : घरौंदे (१६४६) आगरा ।
हुजूर (१६५६) इलाहाबाद ।

२४. राजेन्द्र यादव : उखड़े हुए लोग (१६५२) देहरादून ।
अनदेखे अनजान पुल (१६६५) दिल्ली ।
मंत्रबिद्ध (१६६८) दिल्ली ।

२५. वृन्दावनलाल वर्मा : संगम (१६२७) झांसी ।
कुण्डलीचक्र (१६२८) झांसी ।
प्रेम की भेंट (१६२८) झांसी ।
प्रत्यागत (१६२८) झांसी ।
अचल मेरा कोई (१६४८) झांसी ।
अमर बेल (१६५३) झांसी ।

२६. विश्वम्भरनाथ शर्मा
कौशिक : मां (१६२६) लखनऊ ।
भिखारिणी (१६३४) लखनऊ ।

२७. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी (१९६८) दिल्ली ।

२८. सियारामशरण गुप्त: नारी (१९३७) झांसी ।

२९. सुरेश सिनहा : एक और अजनबी (१९६३) इलाहाबाद ।
सुबह अंधेरे पथ पर (१९६७) इलाहाबाद ।
पत्थरों का शहर (१९७१) इलाहाबाद ।

३०. शिवप्रसादसिंह : अलग-अलग वैतरणी (१९६८) इलाहाबाद ।

- आलोच्य उपन्यासों की कुल संख्या : १०४ -

०००

अनुक्रमणिका : २ ।
। सहायक पुस्तकें

१. अज्ञेय : आत्मनेपद (१९६०) काशी ।

२. अशोक चन्दा : इण्डियन ऐडमिनिस्ट्रेशन (१९५८) लन्दन ।

३. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध : अधखिला फूल (संवत् २०११) बनारस ।

४. अल्टेकर :पोजीशन आफ वुमन इन हिन्दू सिविलिजेशन (१९५६) बनारस ।

५. अल्बेयर कामू : द मिथ आफ सिसिफस ।

६. अल्स्टेयर लैम्ब : क्राइसिस इन कश्मीर (१९६६) लन्दन ।

७. अर्नेस्ट ए० बेकर : द हिस्ट्री आफ इंगलिश नावेल, लन्दन ।

८. आर्नोल्ड केटिल : एन इन्ट्रोडक्शन टू द इंगलिश नावेल, लन्दन ।

९. इरा वोल्फर्ट : व्हाट इज़ ए नावेल एण्ड व्हाट इज़ इट गुड फार (१९५०), न्यूयार्क

१०. ए० कैम्पबेल जानसन : मिशन विद माउंटबेटेन (१९५१), लन्दन ।

११. ए० आर० ए० सेलिगमैन : सम्पा० एनसाइक्लोपीडिया आफ द सोशल साइंसेज, खण्ड १३ ।

१२. ए० आर० देसाई : सोशल बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज़्म (१९५९), बम्बई ।

१३. एफ० जी० बेली :पालिटिक्स एण्ड सोशल चेन्ज (१९६३) कैलिफोर्निया ।

१४. ए० बी० शाह : सम्पा० ट्रेडिशन एण्ड माडर्निटी इन इण्डिया (१६६७) दिल्ली ।

१५. एडवर्ड शिल्स : इन्टलेक्चुअल बिटविन ट्रेडिशन एण्ड माडर्निटी (१६६१), लन्दन ।

१६. एडिथ व्हार्टन : नार्मन कजिन्स द्वारा सम्पा० राइटिंग फार लव आर मनी (१६४६), कनाडा ।

१७. एन० वी० गाडगिल : गवर्नमेन्ट फ्राम इन्साइड (१६६८) ।

१८. एन० सी० चौधरी : द आटोबायग्राफी आफ एन अननोन इण्डियन (१६६१) लन्दन ।

१६. एल० एफ० रशब्रुक : द ग्रेट मेन आफ इण्डिया (१६५७) लन्दन ।

२०. क्लारा रीव : प्रोग्रेस आफ रोमांस (१७८५) ।

२१. कार्ल मार्क्स : कैपिटल, प्रथम भाग ।

२२. किशोरीलाल गोस्वामी : लीलावती (१६०२) वृन्दावन ।

२३. क्रिस्टोफर काडवेल : फर्दर स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर (१६४६) लन्दन ।

२४. के० ए० नीलकान्त शास्त्री : इण्डिया ए हिस्टारिकल सर्वे (१६६६) लन्दन ।

२५. के० एम० पन्निकर : द फाउण्डेशन आफ न्यू इण्डिया (१६६३) लन्दन ।

२६. वि : हिन्दू सोसायटी एट क्रास रोड्स (१६५८) बम्बई ।

२६. गैब्रील मार्सेल : मेन अगेन्स्ट ह्यूमैनिटी (१६५७) न्यूयार्क ।

२७. टाल्सटाय : व्हाट इज़ आर्ट (१६५६) लन्दन ।

२८. ट्राट्स : सोशल टीचिंग ।

२६. चार्ल्स एण्ड मेरी बेयर्ड : द राइज़ आफ अमरीकन सिविलिज़ेशन (१६२८), न्यूयार्क

३०. ज्यां पाल सार्त्र : एग्ज़िस्टेन्शियलिज़्म एण्ड ह्यूमैनिज़्म (१६५४) न्यूयार्क ।
बीइंग एण्ड नथिंगनेस (१६५६) न्यूयार्क ।
व्हाट इज़ लिट्रेचर (१६५८) न्यूयार्क ।
सिचुएशन्स (१६६५) न्यूयार्क ।

३१. जयप्रकाश नारायण : सोशलिज़्म, सर्वोदय एण्ड डैमोक्रैसी (१६६४), लन्दन ।

३२. जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी (१६४७) इलाहाबाद ।
एन आटोबायग्राफी (१६३६) लन्दन ।

३३. जान कमिंग : सम्पा० माडर्न इण्डिया : एक कोआपरेटिव सर्वे (१६३१) लन्दन ।

३४. जान मेण्डर : राइटर एण्ड द कमिटमेंट (१९६१) लन्दन ।
३५. जान रस्किन : माडर्न पेन्टर्स (१९१६) लन्दन ।
३६. जार्ज ल्यूकाच : स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज़्म (१९५०) लन्दन ।
३७. जे० पी० दालवी : हिमालयन बलण्डर (१९६८) दिल्ली ।
३८. जे० रैम्जे मैक्डोनाल्ड : द अवेकनिंग आफ इण्डिया, लन्दन ।
३९. जैनेन्द्रकुमार : साहित्य का श्रेय और प्रेय (१९५३) दिल्ली ।
४०. थामपसन एण्ड गैरेट : राइज़ एण्ड फुलफिलमेन्ट आफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया (१९३५) लन्दन ।
४१. दुर्गादास : इण्डिया फ्राम कर्जन टू नेहरू एण्ड आफटर (१९६७) न्यूयार्क ।
४२. डा० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान (प्र० सं०) इलाहाबाद ।
४३. डा० नगेन्द्र : आलोचक की आस्था (१९६६) दिल्ली ।
आस्था के चरण (१९६७) दिल्ली ।
४४. डा० नासिर अहमद खां : मिडिलक्लास इन इण्डिया (१९५८) लखनऊ ।
४५. डा० पट्टाभि सीतारमैया : कांग्रेस का इतिहास (१९३८) इलाहाबाद ।
४६. परसिवल ग्रिफिथ : माडर्न इण्डिया (१९६५) लन्दन ।
४७. पेन्डेरल मून : स्ट्रेन्जर्स इन इण्डिया (१९४४) लन्दन ।
डिवाइड एण्ड क्विट (१९६१) लन्दन ।
४८. प्रेमचन्द : कुछ विचार (१९४९) बनारस ।
विविध-प्रसंग (१९६९) इलाहाबाद ।
४९. पी० टी० बायर : इण्डियन इकोनामिक पालिसी एण्ड डेवलेपमेन्ट (१९६५)लन्दन
५०. फ्रांसिस टूकर : व्हाइल मेमोरी सर्व्ज़ (१९५०) कैसेल ।
५१. फ्रैंक मोरैस : इण्डिया टुडे (१९६०) बम्बई ।
५२. ब्रजनन्दन सहाय : राधाकान्त (१९००) बनारस ।
५३. बर्ट्रेण्ड रसेल : द इम्पैक्ट आफ साइन्स आन सोसायटी (१९५२) लन्दन ।
५४. बी० एम० कौल : अनटोल्ड स्टोरी (१९६७) दिल्ली ।
५५. वेबर : एसेज़ इन सोशियोलाजी ।

५६. मानकेकर : गिल्टी मेन आफ १६६२ (१६६८) दिल्ली ।

५७. माइकेल ब्रेशर : नेहरू (१६५६) आक्सफोर्ड ।

५८. मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श दम्पत्ति (१६०४) इलाहाबाद ।

५६. मैथ्यू आर्नल्ड : लास्ट वर्ड्स, लन्दन ।

६०. मैक्सवेल : इण्डिया-चायना वार (१६७०) लन्दन ।

६१. मौलाना अबुल कलाम आजाद : इण्डया विन्स फ्रीडम (१६६०) लन्दन ।

६२. यशपाल : बात-बात में बात (१६५४) लखनऊ ।

६३. डा० राजेन्द्र प्रसाद : आत्मकथा (१६५२) लखनऊ ।

६४. डा० राधाकमल मुखर्जी : द वे आफ ह्यूमैनिज़्म (१६६८) दिल्ली ।

६५. राबर्ट स० बेल्ला : रेलिजन एण्ड प्रोग्रेस इन माडर्न एशिया (१६६५) न्यूयार्क ।

६६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० २००८) बनारस ।

६७. रिचार्ड हेयर : रशियन लिट्रेचर (१६४७) लन्दन ।

६८. रिचार्ड्स साइमण्ड्स : द मेकिंग आफ पाकिस्तान (१६५०) लन्दन ।

६६. रैल्फ फाक्स : द नावेल एण्ड द पीपुल (१६४७) लन्दन ।

७०. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियां, बम्बई ।
आधुनिक हिन्दी साहित्य (१६५४) इलाहाबाद ।
उन्नीसवीं शताब्दी (१६६३) इलाहाबाद ।
हिन्दी साहित्य का इतिहास (छठा सं०) इलाहाबाद
बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ (१६६७) इलाहाबाद ।
हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां (१६७०) दिल्ली ।

७१. लियोनार्ड मोज़्ले : द लास्ट डेज़ आफ द ब्रिटिश राज (१६६१) लन्दन ।

७२. लेविलीन पावीज़ : द ग्लोरी आफ लाइफ (१६३८) शिकागो ।

७३. वाल्टा स्लेन : रीडिंग ए नावेल ।

७४. वी० पी० मेनन : द ट्रांस्फर आफ पावर इन इण्डिया (१६५७) लन्दन ।

७५. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, कलकत्ता ।

७६. डा० वेदज्ञ आर्य : कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली (१६६८) इलाहाबाद ।

७७. शाह और खंबाटा : भारत की सम्पत्ति और उसकी करोपयोगी क्षमता (१९५४) दिल्ली ।

७८. डा० शशिभूषण सिंहल : उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा (१९६०) आगरा ।
हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां (१९७०) आगरा ।

७९. सच्चिदानन्द वात्स्यायन : हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य (१९६८) दिल्ली ।

८०. डा० सावित्री सिनहा : तुला और तारे (१९६६) दिल्ली ।

८१. सी० जी० जुंग : माडर्न मैन इन सर्च आफ ए सोल (१९३३) न्यूयार्क ।

८२. डा० सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास (१९६४) दिल्ली ।
हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास (१९६६) दिल्ली ।

८३. ह्यूज टिंकर : एक्सपेरिमेंट विद फ्रीडम (१९६७) लन्दन ।

८४. हर्बर्ट जे० मुल्लर : माडर्न फिक्शन : ए स्टडीज़ आफ वैल्यू ।

८५. हुमायूं कबीर : इण्डियन हेरिटेज (१९६०) बम्बई ।

८६. हेनरी जेम्स : द आर्ट आफ फिक्शन (१९४८) न्यूयार्क ।

८७. हेनरी थियोडोर टूकरमैन : द न्यू डिक्शनरी आफ थाट्स ।

अनुक्रमणिका : ३ ।
पत्र-पत्रिकाएं

१. यंग इण्डिया (१०.४.१९३० तथा २५.११.१९२६) ।

२. सन्दर्भ ।

३. ज्ञानोदय ।

४. धर्मयुग ।

५. आलोचना ।

६. माध्यम ।

७. कल्पना ।